प्रकाशकः—विठ्ठलदास मगनलाल कोठारी, गुजरातविद्यापीठ कार्यालय, अमदावाद.

मुद्रकः—रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर प्रेस, नं. २३, कोलभाट लेन, मुंबई.

प्रकाशकनुं निवेदन

पुरातत्त्वमंदिरनी व्यवस्थापकसमितिए संवत् १९७९ ना भादरवा वद १२ ना दिवसे निर्णीत करेला (जुओ पहेलाना परिशिष्ट १ मां सूचवेला) कार्यक्रम प्रमाणे संमतितर्कप्रकरणनो आ पहेलो भाग प्रकट थाय छे.

आ ग्रन्थने प्रथम पुस्तकरूपे प्रकाशित करवानो मूळ संकल्प अने उद्यम पं. श्रीसुखलालजी द्वारा आगराना आत्मानन्द जैन पुस्तकप्रचारक मंडळे करेलो. पण, ज्यारे पं. सुखलालजीए पुरातत्त्वमंदिरमां जोडाई, तेमनी सेवा विद्यापीठने समर्पित करी, त्यारे तेमने ए ग्रन्थ [illegible], पूर्वे उल्लेखेला मोटा ग्रन्थनो [illegible] करी, तेमज संस्कृत साहित्यना दर्शनशास्त्रीओना एक महान् अने अमूल्य गणाता ग्रन्थरत्ननो उद्धार थाय ते विद्यापीठने इष्ट लागवाथी आ ग्रन्थना संशोधन अने प्रकाशननो भार उपाडवानी पुरातत्त्वमंदिरने अनुमति आपवामां आवी.

मंदिरे आ काम हाथमां लीधां पहेलां, पं. श्रीसुखलालजी द्वारा, आगराना उक्त मंडळना संचालक बाबू श्रीदयालचंदजी मारफत एना अंगे लगभग ११०० रूपिया जेटलो खर्च थयो हतो, ते तथा, बे वरसना आशरे [illegible] अने [illegible] उपर आ ग्रन्थ मुद्रित थाय छे ते कागळो रू. १००० रूपिया एक हजारनी किंमतना पण उक्त मंडळे भेट आपेला छे, के जे रकम ए मंडळने अमदावादना शेठ वाडीलाल [illegible] झवेरी तरफथी प्रस्तुत ग्रन्थना प्रकाशन-कार्यमांटे दान करवामां आवी हती ए उपरांत, गया वर्षमां आ ग्रन्थनी केटलीक हस्तलिखित प्रतिओना [illegible] वगेरे संग्रहवानी माटे आवश्यकता जणाताथी पं. सुखलालजीना मददगार तरीके एक बीजा विद्वानने केटलोक समय रोकेला हता अने ते माटे तेमने ४१६ रूपिया वेतनना आपवामां आव्या हता. तेमनी आ प्रकारनी रकम रा. रा. श्रीकिशनलाल प्रेमचंद मोदी मारफत आवी हती.

आ रीते आ कार्यमां आगराना उक्त मंडळ अने तेना सहायक गृहस्थोनी आर्थिक उदारतानो जे लाभ विद्यापीठने मळ्यो छे ते माटे ते सर्वनो उपकार मानवामां आवे छे.

भादरवा वद ५, सं. १९८०
गुजरात विद्यापीठ कार्यालय

प्रकाशक

संशोधनोपयुक्तानां लिखितादर्शानां संकेताः ।



अ०	अनन्तनाथजैनमन्दिरभाण्डागारीया	प्रतिः
आ० (वि०)	श्रीमद्विजयानन्दसूरिपुस्तकसंग्रहगता	,,
कां०	प्रवर्तकश्रीकान्तिविजयपुस्तकसंग्रहगता	,,
गु०	पं० न्यासश्रीगुलाबविजयपुस्तकसंग्रहगता	,,
ग०	पं० न्यासश्रीगम्भीरविजयपुस्तकसंग्रहगता	,,
चं०	चञ्चलबेनभाण्डागारीया	,,
डे०	डेलाभाण्डागारीया	,,
पू०	पूर्णचन्द्रनाहरभाण्डागारीया	,,
पा०	पाद्धरग्रामस्थभाण्डागारीया	,,
भा०	भावनगरसंघभाण्डागारीया	,,
भां०	भाण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरीया	,,
मां०	माण्डलग्रामस्थभाण्डागारीया	,,
वा०	वाडीपार्श्वनाथभाण्डागारीया	,,
वृ०	श्रीमद्वृद्धिचन्द्रपुस्तकसंग्रहगता	,,
सा०	साणन्दग्रामस्थभाण्डागारीया	,,
हा०	हालाभाईभाण्डागारीया	,,

---

१ श्रीमद्विजयानन्दसूरिपुस्तकसंग्रहगत पुस्तकद्वयम्, तत्र प्राचीनं 'आ०' इति नाम्ना निरदेशि, नवीनं च 'वि०' इति नाम्ना ।

२ चञ्चलबेनभाण्डागारीयं पुस्तकद्वयम्, तत्र पूर्णं 'चं० पू०' इति नाम्ना, अपूर्णं तु 'चं० अ०' इति नाम्ना व्यपादेशि ।

टीकागतानामुल्लेखानां स्थानसंकेताः ।

(१)

आचा०	आचाराङ्गसूत्रम् ।
ऋग्वेद-अष्ट०	ऋग्वेद-अष्टकानि ।
जैमि०	जैमिनिसूत्रम् (मीमांसादर्शनम्)
तत्त्वार्थ० } तत्त्वा० } त० }	तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।
ध० न्या०	धर्मकीर्तिकृतन्यायबिन्दुः ।
न्यायद०	न्यायदर्शनम् (गौतमसूत्रम्)
न्यायवा०	न्यायवार्तिकम् ।
प्रशमर० प्र०	प्रशमरतिप्रकरणम् ।
बृह०	बृहदारण्यकम् ।
भग० गी०	भगवद्गीता ।
महाभा० आदिप०	महाभारतआदिपर्व ।
मीमां० } मीमांसाद० }	मीमांसादर्शनम् (जैमिनिसूत्रम्)
योगद० } पात० }	पातञ्जलयोगदर्शनम् ।
वाक्यप०	वाक्यपदीयम् ।
वात्स्या० भा० } वा० भा० }	वात्स्यायनभाष्यम् । (न्यायभाष्यम्)
व्यासभा०	व्यासभाष्यम् । (योगदर्शनभाष्यम्)
वैशेषिकद०	वैशेषिकदर्शनम् । (कणादसूत्रम्)
शाबरभा० } शाब० }	शाबरभाष्यम् । (जैमिनिसूत्रभाष्यम्)
श्लो० वा०	श्लोकवार्तिकम् । (कुमारिलकृतम्)
श्वेताश्व०	श्वेताश्वतरम् ।
सूत्र०	सूत्रकृताङ्गसूत्रम् ।
स्थाना०	स्थानाङ्गसूत्रम् ।
है०	हैमशब्दानुशासनम् ।

(२)

अ०	{ अधिकरणम् । अध्यायः । अध्ययनम् । }
अर्हं०	[illegible] ।
आ०	आह्निकम् ।
उ०	{ उद्देशः । उपनिषद् । }

संपादकीय निवेदन

अनेक उपयोगी विषयोनो ऊहापोह करती विस्तृत प्रस्तावना तो प्रस्तुत ग्रंथ संपूर्ण छपाई रह्या पछीज लखी शकाय. अत्यारे तो आ संक्षिप्त निवेदनमां मुख्य बे बाबतोनुं सूचन करवानुं छे (क) ग्रंथनुं विशिष्टत्व अने (ख) प्रकाशननी योजना.

(क) ग्रंथनी विशिष्टता निम्नलिखित बे बाबतोथी जाणी शकाशे (१) ग्रंथकार अने (२) ग्रंथनुं बाह्याभ्यन्तर स्वरूप.

(१) ग्रंथकार (मूळकार)

समय: मूळना कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर छे. जैनपरंपरा प्रमाणे तेओ विक्रमनी पहेली शताब्दीमां थई गयेला मनाय छे. तेओ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द अने समंतभद्र ए बन्नेना पहेलां थया होय तेवी संभावनानां केटलांक कारणो छे तेमज श्वेताम्बर अने दिगम्बरनो पंथभेद थया पहेलां पण तेओ थया होय तेम मानवानां केटलांक कारणो छे. तेथी विक्रमनी पहेली शताब्दीमां तेओ थयानी जैनपरंपरा उपर गम्भीरपणे ऐतिहासिकोए विचार करवो जोईए. अत्यारे केटलाक ऐतिहासिको तेओने विक्रमनी पांचमी शताब्दीमां मूके छे.

स्थान, जाति अने धर्म: तेओनुं जन्मस्थान विदित नथी, पण उज्जयिनी अने तेनी आजुबाजुए तेओए जीवन गाळ्युं होय एम जणाय छे, तेथी तेओना ग्रंथोनी रचना पण तेज प्रदेशमां थयानो संभव छे. तेओ जाते ब्राह्मण अने कुलधर्मे वैदिक हता, पण पाछळथी तेमणे जैनाचार्य वृद्धवादीनी पासे जैनदीक्षा लीधी हती.

योग्यता: दिवाकर असाधारण जैन दार्शनिक अने संस्कृत प्राकृत भाषाना विद्वान् हता एटलुंज नहि पण तेओ मध्यकालीन प्रधान भारतीय दार्शनिक विद्वानोमांना एक हता, एम तेओनी कृतिओज कही आपे छे. तेमनी विचारमां उदारता, प्रतिभामां स्वच्छता, ज्ञानमां स्पष्टता, गद्यपद्यलेखनमां सिद्धहस्तता अने वस्तुस्पर्शमां सूक्ष्मता तथा विविध दर्शनोना मौलिक स्वरूपमां निष्णातता, ए बधुं तेओनी थोडी पण उपलब्ध कृतिओमां वाक्यवाक्यमां जोनारने नजरे पडशे.

कृतिओ: उपलब्ध कृतिओमां संमति मूळ प्राकृत छे. एकत्रीस बत्रीसीओ, न्यायावतार तथा कल्याणमंदिर संस्कृत छे. कल्याणमंदिरमां तीर्थंकर पार्श्वनाथनी स्तुति छे. न्यायावतार ए संस्कृत जैन साहित्यमां पद्यबंध आदि तर्कग्रंथ होई समस्त जैन तर्कसाहित्यना पाया रूपे छे. बत्रीसीओ स्तुतिरूप होवा छतां तेमां दार्शनिक विषयो छे. वैदिक, बौद्ध अने जैन ए समकालीन समग्र भारतीय दर्शनोनुं स्वरूप ते बत्रीसीओमां छे. आ बत्रीसीओज षड्दर्शनसमुच्चय अने सर्वदर्शनसंग्रहनी प्राथमिक भूमिका छे. सिद्धसेननुं बीजुं नाम 'गन्धहस्ती' हतुं; तेओए आचारांगना प्रथम अध्ययन उपर विवरण लख्युं हतुं, जे 'गन्धहस्तिविवरण' कहेवाय छे, आजे ते उपलब्ध नथी.

टीकाकार

टीकाकार अभयदेव, श्वेताम्बरीय राजगच्छमां थएल प्रद्युम्नसूरिना शिष्य होई दशमा सैकामां थई गया छे. तेओनी जाति, जन्मस्थान आदि ज्ञात नथी; तेओनी बीजी कृति उपलब्ध के

संपादकीय निवेदन

अनेक उपयोगी विषयोनो ऊहापोह करती विस्तृत प्रस्तावना तो प्रस्तुत ग्रंथ संपूर्ण छपाई रह्या पछी ज लखी शकाय. अत्यारे तो आ संक्षिप्त निवेदनमां मुख्य बे बाबतोनुं सूचन करवानुं छे (क) ग्रंथनुं विशिष्टत्व अने (ख) प्रकाशननी योजना.

(क) ग्रंथनी विशिष्टता निम्नलिखित बे बाबतोथी जाणी शकाशे (१) ग्रंथकार अने (२) ग्रंथनुं बाह्याभ्यन्तर स्वरूप.

(१) ग्रंथकार (मूळकार)

समयः मूळना कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर छे. जैनपरंपरा प्रमाणे तेओ विक्रमनी पहेली शताब्दीमां थई गयेला मनाय छे. तेओ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द अने समंतभद्र ए बंनेना पहेलां थया होय तेवी संभावनानां केटलांक कारणो छे तेमज श्वेताम्बर अने दिगम्बरनो पंथभेद थया पहेलां पण तेओ थया होय तेम मानवानां केटलांक कारणो छे. तेथी विक्रमनी पहेली शताब्दीमां तेओ थयानी जैनपरंपरा उपर गम्भीरपणे ऐतिहासिकोए विचार करवो जोईए. अत्यारे केटलाक ऐतिहासिको तेओने विक्रमनी पांचमी शताब्दीमां मूके छे.

स्थान, जाति अने धर्मः तेओनुं जन्मस्थान निश्चित नथी, पण उज्जयिनी अने तेनी आजुबाजु तेओए जीवन गाळ्युं होय एम जणाय छे, तेथी तेओना ग्रंथोनी रचना पण तेज प्रदेशमां थयानो संभव छे. तेओ जाते ब्राह्मण अने कुळधर्मे वैदिक हता, पण पाछळथी तेमणे जैनाचार्य वृद्धवादीनी पासे जैनदीक्षा लीधी हती.

योग्यताः दिवाकर असाधारण जैन दार्शनिक अने संस्कृत प्राकृत भाषाना विद्वान् हता एटलुंज नहि पण तेओ मध्यकालीन प्रधान भारतीय दार्शनिक विद्वानोमांना एक हता, एम तेओनी कृतिओज कही आपे छे. तेमनी विचारमां उदारता, प्रतिभामां स्वतन्त्रता, ज्ञानमां स्पष्टता, तर्कणशैलीमां सिद्धहस्तता अने वस्तुस्पर्शमां सूक्ष्मता तथा विविध दर्शनोना मौलिक स्वरूपनी निरूपणता, ए बधुं तेओनी थोडी पण उपलब्ध कृतिओमां वाक्यवाक्यमां जोनारने नजरे पडशे.

कृतिओः उपलब्ध कृतिओमां संमति मूळ प्राकृत छे. एकवीस बत्रीसीओ, न्यायावतार तथा कल्याणमंदिर संस्कृत छे. कल्याणमंदिरमां तीर्थंकर पार्श्वनाथनी स्तुति छे. न्यायावतार ए संस्कृत जैन साहित्यमां पद्यबंध आदि तर्कग्रंथ होई समस्त जैन तर्कसाहित्यना पाया रूपे छे. बत्रीसीओ स्तुतिरूप होवा छतां तेमां दार्शनिक विषयो छे. वैदिक, बौद्ध अने जैन ए त्रणे परंपराना समग्र भारतीय दर्शनोनुं स्वरूप ते बत्रीसीओमां छे. आ बत्रीसीओज षड्दर्शनसमुच्चय अने सर्वदर्शनसंग्रहनी प्राथमिक भूमिका छे. सिद्धसेननुं बीजुं नाम 'क्षपणक' हतुं; तेओए [illegible] प्रथम अध्ययन उपर विवरण लख्युं हतुं, जे '[illegible]विवरण' कहेवाय छे, जोके ते उपलब्ध नथी.

टीकाकार

टीकाकार अभयदेव, श्वेताम्बरीय राजगच्छना [illegible] प्रद्युम्नसूरिना शिष्य होई दसमा सैकामां थई गया छे. तेओनी जाति, जन्मस्थान आदि ज्ञात नथी, तेओनी बीजी कोई कृति उपलब्ध के

श्रुत नथी. अलबत तेओ वादमहार्णवना कर्ता कहेवाय छे, पण संमति उपरनी टीकाना वादो जोतां केटलाक एम पण माने छे के 'तत्त्वबोधविधायिनी' टीकानुंज बीजुं नाम वादम हशे. गमे तेम होय पण अभयदेवसूरि दार्शनिक विषयना असाधारण विद्वान् हता, तेमां संदेह नथी.

(२) ग्रंथनुं बाह्याभ्यन्तरस्वरूप

बाह्यस्वरूपः प्रस्तुत ग्रंथमां मूळ अने टीका ए बे अंशो छे. मूळनुं नाम संमति टीकानुं नाम तत्त्वबोधविधायिनी छे. मूळ प्राकृत भाषामां अने टीका संस्कृत भाषामां छे.

मूळनी रचना आर्यापद्यमय अने ते त्रण भागो (काण्डो) मां वहेंचायली छे. टी रचना गद्यमय छे. मूळनुं परिमाण १६७ गाथाओ जेटलुं छे. पहेला काण्डमां ५४, बीजामां अने त्रीजामां ७० गाथाओ छे. टीकानुं परिमाण २५००० श्लोक जेटलुं छे.

आभ्यन्तरस्वरूपः मूळ अने टीका बन्नेना विषयो दार्शनिक छे, परंतु ते बधा दार्श विषयोनी चर्चा तेमां अनेकान्तदृष्टिए करवामां आवी छे. ते दीठेज अनेकान्तदृष्टिनुं स्वरूप, व्याप्ति तथा तेनी उपयोगिता सिद्ध करवामां आवी छे. तेथी प्रस्तुत ग्रंथने अनेकान्तद दार्शनिक ग्रंथ कहेवो जोईए.

मूळनी प्रतिपादनसरणी आगमाश्रित छतां तर्कसंगत छे. तेमां जैनआगमप्रसिद्ध सप्तभंगी, ज्ञान, दर्शन, द्रव्य, पर्याय विगेरे पदार्थोनुं तार्किक पद्धतिए पृथक्करण करी अनेका स्वरूप बतावयामां आव्युं छे अने ते पण प्रधानपणे आगमिक प्राचीन जैनाचार्योने अभिप्र टीकानी शैली बिलकुल जुदी छे. तेमां अन्य दर्शनोना निरसननी दृष्टि मुख्य छे. मूळ जेटलुं छे, तेटलीज टीका विशाळ छे. टीकाकारे जे जे विषयना वादो लख्या छे, ते ते विषय बखते भारतीय समग्र दर्शनोमां जेटला मत मतान्तरो अने पक्ष प्रतिपक्षो हता, ते बधानी वि नोंध करी छे. तेथी आ टीकाने विक्रमनी दशमी शताब्दी सुधीना दर्शनविषयक वा संग्रहस्थान कही शकाय.

ग्रंथनी मुख्य दृष्टि अनेकान्तनुं महत्त्व विचारीने टीकाकारे वादपद्धति विद्वत्तापूर्वक गोठवी छे के, जे विषयमां वाद शरू करवानो होय, ते विषयमां सौथी पहेलां सिद्धान्तथी व वेगळो एवो पहेलो पक्षकार आवी पोतानो मत स्थापे छे, त्यारबाद सिद्धान्तथी ओछो वेगळो बीजो पक्षकार आवी पोताना मतने स्थापी प्रथम पक्षनी भ्रान्तिओ दूर करे छे; त्यारबाद सि न्तनी कंईक समीपे रहेलो त्रीजो पक्षकार आवी बीजा पक्षनी भूलो सुधारे छे, अने ए क्रमे आ वतां छेवटे अनेकान्तवादी सिद्धान्ती आवी छेल्ला प्रतिपक्षीनुं मन्तव्य शोधी अनेकान्त दृष्टि विषय केवो मानवो जोईए, ते बतावे छे. आवी वादपद्धति गोठवेली होवाथी कोई पण विष संबंधे पक्षकारनुं शुं मानवुं छे, अने एक बीजा पक्षकार वच्चे शो शो मतभेद छे, अने ते केटलेअंशे वजूद छे, ए बधुं तुलनात्मक दृष्टिए जाणी शकाय. तेथी टीकाकारनी प्रतिपादन शर अनेक वर्तुळोनी चक्रांतरीय साथे सरखावी शकाय के, जेमां कोई पण विषय ज्यारे शरू थतो केन्द्रोनुं पूर्ण सम्यक् संवेदनपूर्वक अनुक्रमे रचु करवा होय, अने छेवटे जेमां एक म अनेकान्त द्वारा समन्वयभावेनुं छेवट करवानुं होय.

के टीकामां सेंकडो दार्शनिक ग्रंथोनुं दोहन जणाय छे, छतां सामान्य रीते मीमांसक
...नुं श्लोकवार्तिक, नालन्दा विश्वविद्यालयना आचार्य शांतिरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह उपरनी
...कृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचंद्रना प्रमेयकमलमार्तंड अने न्यायकुमुदचंद्रोदय
ग्रन्थोनुं प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे, तेवी रीते वादिदेवसूरिनो स्याद्वादरत्नाकर,
...सूरिनी स्याद्वादमंजरी, उपाध्याय यशोविजयजीनी नयोपदेश उपरनी नयामृततरंगिणी
अने शास्त्रवार्तासमुच्चयनी टीका आदि पाछळनी कृतिओमां संमतिनी टीकानुं प्रतिबिम्ब छे;
संमतिना अभ्यासके संमतिटीकामां प्रतिबिम्ब पाडनार अने संमतिटीकानुं प्रतिबिम्ब झीलनार
...बन्ने प्रकारना ग्रन्थो जोवा घटे.

(ख) प्रकाशननी योजना

मध्यम कालीन दर्शनसाहित्यमां संमति मूळ अने तेनी टीका, ए बन्नेनुं आकर्षक स्थान छे;
तेमज टीकामां दार्शनिक साहित्यना इतिहास अने दार्शनिक विद्वानोना इतिहासनी पुष्कळ सामग्री
मळी शके तेम छे. आ बधी विशिष्टताने लीधेज आ संस्थाए प्रस्तुत ग्रन्थनी शुद्ध आवृत्ति तैयार
करवा विचार करेलो छे.

जोके संमति उपर घणी टीकाओ होवानो उल्लेख छे, छतां एक श्वेताम्बराचार्य मल्लवादिकृत
अने बीजी दिगम्बराचार्य सुमतिकृत होवानुं निश्चित प्रमाण मळे छे. पण अत्यारे तो तेमांनी एके
उपलब्ध नथी. तेथी अने विस्तृत छतां महत्त्वनी होवाथी अभयदेवनी टीकाज प्रसिद्ध करवानुं
संस्थाए पसंद कर्युं छे.

प्रस्तुत टीका घणी विस्तृत, गहन अने संस्कृत भाषामां होवाथी, मूळ ग्रंथ टुंको, प्रसन्न
अने प्राकृत छतां साधारण जिज्ञासुओथी पण अपरिचित रह्यो छे, अने दरेक पोताने तेनो अधिकारी
मानतां अचकाय छे; खरी हकीकत तेवी नथी. जो संक्षिप्त पण सरल टीका होय, अगर भाषामां
विवेचक अनुवाद होय तो संमति मूळ कोई पण साधारण अभ्यासिने ग्राह्य थई शके तेवुं छे; आ
हेतुथी संमतिनो अनुवाद करवानी कल्पना मंदिरे पसंद करी, पण ते अनुवाद कर्या पहेलां तेनुं
अने तेनी टीकानुं संशोधन करी नाखवुं, ए पण उचित जणायुं. आ कारणथी अत्यारे मंदिरे नीचे
प्रमाणे योजना विचारी राखी छेः—

सटीक मूळ ग्रंथनुं त्रण भागमां प्रकाशन करवुं; चोथा भागमां मूळ ग्रंथनो अनुवाद,
अने समग्र सटीक ग्रंथने लगतां उपयोगी परिशिष्टो, प्रस्तावना, विस्तृत अनुक्रमणिका विगेरे
आपवां. आ योजना प्रमाणे आजे अढी वर्ष थयां काम चालतां पहेलो भाग प्रकाशित थाय छे.

प्रुफ जोवाना दृष्टिदोषथी के कंपोझिटरोना दोषथी जे भूलो रही गई हशे ते बधी बराबर
जोई शुद्धिपत्रमां आपवानुं तो आगळ बनशे, छतां जे जे भूलो अनायासे नजरे पडी गई छे, मात्र
तेज शुद्धिपत्रमां आपेली छे; तेथी आ शुद्धिपत्र अधुरुंज छे. अमे अभ्यासिओने विनवीए छीए के
तेओ जे नानी मोटी कोई पण भूल जुए, तेनी पृष्ठपङ्क्तिवार अमने सूचना आपे. अमे तेओनी
तेवी सूचनाने साभार प्रकट करशुं.

आ संशोधन कार्यमां उपयोगी थाय ते माटे अनेक हस्तलिखित प्रतिओ हिंदुस्तानना ...
जुदा भागोमांथी मळी छे. ताडपत्रनी पण खंडित प्रतिओ छे. आ बधी प्रतिओनुं विगतवार ...
... विगेरे बाबतो भविष्यनी दीर्घ प्रस्तावनामां ज नोंधाशे. अत्यारे तो ते ते प्रति...

नार तेना मालिकोने धन्यवाद आपीए छीए. प्राप्त प्रतिओमांथी केटलीकनां नाम वाचक तेओना संकेतपरिशिष्टमां जोई शकशे.

प्रस्तुत विभागमां टीकाकारे ग्रंथना के ग्रंथकारना, नामपूर्वक अगर नाम सिवाय, अपूर्ण के पूर्ण जे जे उल्लेखो कर्या छे ते बधानां स्थानो अमे इच्छा अने प्रयत्न छतां संपूर्ण रीते आपी शक्या नथी. छतां उल्लेखोनां जे स्थानो अमे नोंध्यां छे, तेना संकेतोनुं स्पष्टीकरण आ साथे आपवामां आवे छे. जे उल्लेखोनां मूळस्थानो नथी मळ्यां तेओनी पासे खुल्लां चोरस कोष्ठको राखेलां छे. अभ्यासिओने विनंती छे के, अमे उल्लेखोनां जे जे स्थानो आप्यां छे तेमां तेओ सुधारवा जेवुं जूए अगर नहि मळेल स्थानवाळा उल्लेखोनां स्थानो तेओना ध्यानमां आवे तो तेओ अमने ए बधुं लखी जणावे. अमे तेओना श्रमनी बहुज कींमती नोंध लईशुं.

प्रस्तुत भागमां पहेली गाथा अने तेनी संपूर्ण टीका आवे छे. तेनुं परिमाण लगभग साडासाव हजार श्लोक जेटलुं हशे. तेमां जेटला मुख्य विषयो आव्या छे ते बधानो विस्तृत अनुक्रम तो छेवटेज अपाशे. अत्यारे तो आ भागमां आवेला मुख्य वादो अने तेने अंगे करायेला विभागोनी अने वचे वचे प्रसंगथी आवेला ध्यान देवा योग्य खास विषयोनी नोंध विषयानुक्रममां आपेली छे. एटले आ विषयानुक्रम, ए टीकागत मुख्य मुख्य वादो अने तेना अन्तर्गत मुख्य मुख्य विभागो तथा प्रासंगिक उपयोगी विषयोनी नोंध मात्र छे.

पाठांतर विगेरेनी समज: आ ग्रंथना संशोधन माटे अमे लगभग २५ प्रतिओ भेगी करी हती, तेमांथी १७ प्रतिओनो उपयोग करेलो छे, एनां नामो प्रतिओना संकेतोने स्पष्ट करतां जणावेलां छे. ए प्रतिओमांनी चारेक प्रतिओमां कोईनां करेलां टिप्पणो पण हतां, ते टिप्पणो, पाठांतरो अने अमे पण केटलेक स्थळे टिप्पणो आपेलां छे ते बधुं अमे प्रत्येक पानानी नीचे लींटी दोरीने आपेलुं छे.

जे जे प्रतिमांथी टिप्पण लीधेलां छे ते ते प्रतिनां नाम ए टिप्पणो साथे आपेलां छे. प्रतिनां टिप्पणो " " आ निशान वचे मूकेलां छे. जूओ ग्रंथनुं पृ० २ पं० ३८ आ० टि० एटले आत्मारामजीनी प्रतिमां आवेलुं टिप्पण.

पाठांतरो मोटा अक्षरमां (चालु अक्षरमां) मूकेलां छे.

क्यांय क्यांय अमे केवळ अशुद्ध पाठांतरो पण मूकेलां छे ते एटला माटे के, लेखक के वाचक विगेरे फक्त अक्षरोनी समानताथी अने पोतानी असावधानता विगेरेनां कारणोथी केवी केवी जातनां पाठांतरो वधारी मूके छे ए जाणी शकाय. संभव छे के, 'ग्रंथमां क्या क्या प्रकारे अशुद्धिओ वधे छे अने केवा केवा पाठभेदो थाय छे' तेनो इतिहास लखनारने आवां अशुद्ध पाठांतरोनो पण उपयोग थाय.

जे टिप्पणो अमे करेलां छे ते माटे कशुं निशान करेलुं नथी.

बधी प्रतिओमां टीकानो पाठ लेखक (लहिया) विगेरेना दोषथी अशुद्ध थई गयो छे एम ज्यां ज्यां अर्थानुसंधान के वाक्यरचना आदिथी जणायुं त्यां त्यां ते पाठ कायम राखी सुधारवा जेटलो भाग (पाठ के अक्षर) ( ) आवा निशानमां मूकेलो छे. अमे एवा केटलाक पाठोने शुद्ध करवामां 'प्रमेयकमलमार्तंड' नो उपयोग विशेष करेलो छे. अने क्यांय क्यांय प्रशमरतिप्रकरण,

वात्स्यायनभाष्य के एवा बीजा पण ग्रंथनो आश्रय लीधेलो छे. जे जे स्थळे ए पाठ सुधारेलो छे ते दरेक स्थळे ए सुधारो जे ग्रंथने आधारे करवामां आव्यो छे ते ग्रंथनो पाठ " " आ निशानमां नाना अक्षरोमां मूकेलो छे अने साथे ते ते ग्रंथनो पृष्ठ पंक्ति पण आपेलां छे.

जे विशेष अशुद्ध पाठोने अमे सुधारी नथी शक्या ते पाठो पासे ? आवुं प्रश्नचिह्न मूकेलुं छे अने केटलाक खंडित पाठोनी नीचे 'ए पाठो लगभग खंडित लागे छे' एवी नोंध पण करेली छे.

आ टीकाना दरेक वादस्थळमां पहेलां वीगतवार पूर्वपक्ष करवामां आवेलो छे अने पछी उत्तरपक्षमां ते पूर्वपक्षनी प्रत्येक दलीलनुं खंडन करवामां आवेलुं छे. उत्तरपक्षमां ज्यां ज्यां पूर्वपक्षनी जे जे दलीलनुं खंडन करवामां आवेलुं छे ए दरेक दलील पूर्वपक्षमां क्यां क्यां आवेली छे तेनुं स्थळ सूचववा अने दरेक उत्तरपक्षना पानानी नीचे थोडी थोडीने पूर्वपक्षनी ते ते दलीलोनां पृष्ठ पंक्तिओ आपेलां छे, जेने जोवाथी प्रत्येक जिज्ञासु उत्तरपक्षने वांचती वखते पूर्वपक्षनी ए ए खंडनीय दलीलोने सहेलाईथी बराबर समजी शकशे.

आ उपरांत ज्यां ज्यां टीकाकारे 'अमे आ वात पहेलां कही छे' एवुं सूचवेलुं छे, त्यां ते स्थळे ए वातने टीकाकारे कहेली होय ते स्थळनो पण पृष्ठ पंक्तिओ यथास्थान आपेलां छे.

केटलेक स्थळे अमे प्रतिपाद्य विषयनी आदिमां | आवा चिह्नो अने अंतमां | आवा चिह्नो ... उपयोग करेलो छे अने ए बंनेनुं एटले [ ] आ निशाननुं नाम 'दृग्गन्दपूरक' चिह्न राख्युं छे. ... एटला माटे के, ज्यां ज्यां कोई विषयना प्रतिपादनमां वचे बीजी पण लांबी टुंकी चर्चाओ आवी छे त्यां ... प्रसंगे चालेली चर्चाओनां आदि अंत जाणी शकाय. जुओ ग्रंथनुं पृ० ५७ पं० १४-पृ० ५९ पं० ११ ...

आ पहेलो भाग तैयार करवामां अमने प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजीना शिष्य अने ... प्रशिष्य श्रीपुण्यविजयजीए घणीज किंमती सहायता करी छे ते माटे अमे तेओना ऋणी छीए.

सुखलाल

अने

बेचरदास.

संपादकीयं निवेदनम्

विवेचितविविधविषया विस्तृता प्रस्तावना तु न प्राप्तकाला समग्रस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनात् प्राक्, अतः साम्प्रतमिह (क) ग्रन्थस्य विशिष्टता (ख) प्रकाशनस्य योजना चेति वस्तुद्वयमेव प्राधान्येन प्रदर्शयितुं समीहामहे।

(क) तत्र (१) ग्रन्थस्य कर्तॄन् (२) बाह्याभ्यन्तरस्वरूपं च वर्णयित्वैव तदीया विशिष्टता प्रतिपाद्यते।

(१) ग्रन्थस्य कर्तारः (मूलकाराः)

समयः–मूलस्य प्रणेतारस्तत्रभवन्त आचार्याः सिद्धसेनदिवाकरा विक्रमीयप्रथमशताब्दीवर्तिन इत्यवगम्यते पारम्परिकप्रवादेन। आचार्यसिद्धसेना दिगम्बराचार्याभ्यां कुन्दकुन्द-समन्तभद्राभ्यां प्राक्, श्वेताम्बर-दिगम्बरसम्प्रदाययोः पार्थक्यात् प्राग् बभूवांस इति सम्भावनायाः साधारत्वेन पारम्परिकप्रवादो गवेषणाप्रियैरैतिहासिकैर्नोपेक्षणीयः। इदानीन्तनास्तु केचिदैतिहासिका आचार्यान् विक्रमीयपञ्चमशताब्दीगतत्वेन सम्प्रधारयन्ति।

स्थान-जाति-धर्माः–यद्यपि आचार्याणां नाद्यापि जन्मादिस्थानानि परिनिश्चितानि तथाऽपि मालवदेशः तदीया च मान्या राजधानी उज्जयिनी तेषां विहारभूमिरिति परम्परातः श्रवणात् तदीयाः कुलतोऽपि तत्रैव प्रदेशे क्वचिदुत्पन्नजन्मान इति सम्भाव्यते। आचार्यसिद्धसेना यद्यपि जात्या ब्राह्मणाः, कुलधर्मेण च वैदिकधर्माश्रयाऽपि ते प्रबुद्धतत्त्वप्राप्तिसमनन्तरमाचार्यवृद्धवादिनामन्तेवासित्वेन जैनीं दीक्षामङ्गीचक्रुः।

प्रतिभावत्त्वं:–आचार्यसिद्धसेना जैनदर्शनदृष्ट्यैवेतिहासे नितरां सर्वेष्वपि विद्वत्सु मूर्धन्यतां गता इति तु निर्विवादमेव, परन्तु समकालीनवैदिक-बौद्ध-जैनादिसमग्रभारतीयदर्शनपारदर्शिविद्वद्गणेष्वपि ते [illegible] इत्यत्र तदीयाः कृतय एव साक्षिण्यः। तेषां संस्कृत-प्राकृतभाषाविशारदता, बहुमुखी प्रतिभा, असाधारणी कल्पना, वस्तुस्पर्शोन्मुखी तार्किकता, स्पृहणीया दर्शनोपनिषद्वेदिता, [illegible] च [illegible] तदीयासु कृतिषु।

कृतयः–आचार्यसिद्धसेनकर्तृकाः काश्चिदेव कृतयः [illegible]। तत्र संमतितर्कप्रकरणम्, न्यायावतारः, कल्याणमन्दिरम्, एकविंशतिश्च द्वात्रिंशिकाः [illegible]। तत्र [illegible] प्रसिद्धं न्यायावतारं जैनतर्क- [illegible]। कल्याणमन्दिरं तीर्थंकरपार्श्वनाथस्य [illegible]। द्वात्रिंशिकाः [illegible]। [illegible] द्वात्रिंशिका [illegible]। आचार्यसिद्धसेना [illegible]। [illegible]।

टीकाकाराः

टीकाया रचयितारः श्रीमदभयदेवसूरयः श्वेताम्बरराजगच्छीयप्रद्युम्नसूरिशिष्यत्वेन प्रसिद्धा विक्रमीयदशमशताब्दीभाजः। तेषां जन्मस्थान-जातिप्रभृति नैव विदितम्, अन्यास्तु तत्कृतयो न श्रूयन्ते। यद्यपि वादमहार्णवसत्कृतित्वेन क्वचिदुल्लिखितो भाति तथाऽपि दीर्घातिदीर्घवादमालाजटिलां प्रस्तुतां टीकामेव वादमहार्णवत्वेन कल्पयन्ति केचिदित्यास्तां तावत् । किंतु श्रीमदभयदेवसूरीणामसाधारणे दार्शनिकवैदुष्ये नैव विद्यते संशयलेशः ।

(२) ग्रन्थस्य बाह्याऽभ्यन्तरस्वरूपम्

बाह्यं स्वरूपम्—मूलं संमतिसंज्ञकं प्राकृतार्यापद्यमयं काण्डत्रयविभक्तं सतषष्ट्युत्तरशत-संख्यकगाथापरिमितम् । टीका च 'तत्त्वबोधविधायिनी' संज्ञिता संस्कृतगद्यमयी पञ्चविंशतिसहस्र-संख्यकश्लोकपरिमिता वर्तते ।

आभ्यन्तरं स्वरूपम्— विषयोऽस्य ग्रन्थस्यानेकान्तप्रधानो दार्शनिको वेदितव्यः । व्यवस्था-मूलकारैर्जैनदर्शनमात्रप्रसिद्धान् नय-सप्तभङ्गी-ज्ञान-दर्शन-द्रव्य-पर्यायादिपदार्थान् तत्र प्रधानतया पयितुं तार्किकपद्धत्या तानेव पदार्थान् विशदीकृत्यानेकान्तस्वरूपं प्रतिष्ठापितम्, इति मूलकारीया शैली । टीकाकारीया चान्यैव, तैस्तु स्वतीर्थ्यान् पुरातनान् आगमिकानभिलक्ष्यीकृत्यैवेति मूलकारीया शैली । टीकाकारीया चान्यैव टीका निरमायि । तत्र प्राधान्येन दर्शनान्तरीयप्रवादनिरसनमुद्दिश्य दार्शनिकवादसंग्रहालयप्रख्यैव टीका निरमायि । तत्र च यदा कश्चिदपि दार्शनिको विषयश्चर्चयितुमुपक्रम्यते तदा तद्विषयावलम्बिनः सर्वेऽपि पक्षकाराः क्रमेणोपतिष्ठमानाः स्वं स्वं पक्षं स्थापयितुकामाः पूर्वपूर्ववादिस्थापितं पक्षं दूषयन्ति । पर्यवसाने च सिद्धान्ती स्याद्वादी प्रागुपन्यस्तान् सर्वानेव पक्षान् यथासंभवं समीक्ष्य सिद्धान्तं प्रादुष्करोति दृष्ट्या च प्रतिपादनभङ्ग्या प्रस्तुता टीका सर्वविषयस्पर्शिनिर्णायकसमापतिसमङ्कृतामनेकसू-सूचितां स्वतत्त्वां चर्चापरिपदं स्मारयति ।

मीमांसककुमारिलभट्टकृतश्लोकवार्तिक—नालन्दाविश्वविद्यालयप्रधानाचार्यशान्तिरक्षितकृततत्त्व-प्रदीपकमलशीलकृतपञ्जिका—दिगम्बराचार्यप्रभाचन्द्रकृतप्रमेयकमलमार्तण्ड—न्यायकुमुदचन्द्रोदय तीन् स्वपूर्ववर्तिनो ग्रन्थान् विस्तरत्वेनाश्रयमाणैषा टीका स्वोत्तरवर्तिभिः वादिदेवसूरिकृतस्याद्वादरत्नाकर—मल्लिषेणसूरिकृतस्याद्वादमञ्जरी—वाचकयशोविजयकृतनयोपदेशीय—शास्त्रवार्तासमुच्चयीयवृत्ति-सूरिभिर्ग्रन्थैर्विस्तरत्वेनाभिलेति टीकामेनां दिदृक्षुभिरभयेऽपि ते ग्रन्था अवश्यद्रष्टव्याः ।

(ख) प्रकाशनयोजना ।

गुजरातदर्शनेतिहाससामग्रीकतया स्पृहणीयमध्यमकालीनदार्शनिकग्रन्थान्वतमतया च ग्रन्थमणेः संशोध्य प्रकाशनं चिकीर्षितमनया संस्थया ।

अनुपलभ्यमानासु बह्वीषु संमतिटीकासु एकस्याः श्वेताम्बराचार्यमल्लवादिकृतत्वेन, दिगम्बराचार्यसुमतिकृतत्वेन संसूचका उल्लेखा लभ्यन्ते नान्यासाम् । उपलभ्यते चाभयदे-टीकेति सैव प्रकाशनीयत्वेन निर्धारिता ।

टीकान्तरस्य दुर्लभत्वात् लभ्यमानटीकायाश्च जटिलत्वात् मुद्रणमपि ... स्वं तदनधिकारित्वं मत्वा ...

[illegible] प्रथमो भागः। [illegible]

[illegible] इति। [illegible]

संशोधितः पाठस्तत्र सर्वत्र पत्रस्याधस्तात् ग्रन्थनामसाद्यं तत्तत्पत्र-पङ्क्तिदर्शनपूर्वकं चोपयुक्तान्यपाठ

" " एतच्चिह्नान्तः सूक्ष्माक्षरैः समदर्शयाम।

यांश्चांशानस्मदनुकूलान् पाठान् संशोधयितुं नाशक्नुम, तत्र तत्पाठनिकटे ? ईदृशं चिह्नं कृतवन्तः; क्वचिच्च खण्डितप्रायपाठस्याधः 'एष पाठः खण्डितप्रायः' इत्यपि प्रदर्शितवन्त इति।

सन्मतिटीकायां तेषु तेषु वादस्थानेषु पूर्वं तावत् प्रतिवादस्थलं यावत् पूर्वपक्षो निक्षिप्तः, तदनन्तरं च सन्मतिविधानरूपे उत्तरपक्षे पूर्वपक्षखण्डिताः सर्वा युक्तयो निरस्ताः। 'यत्र चोत्तरपक्षे या पूर्वपक्षदर्शिता युक्तिर्दलिता सा पूर्वपक्षे क्व क्व आयाता' इति निरूपणाय तत्तत्स्थलात् तत्तत्पूर्वपक्षस्य पृष्ठं पङ्क्तिं च निरदिक्षाम यतो जिज्ञासवो जना उत्तरपक्षखण्ड्यमानाः पूर्वपक्षयुक्तीः सरलतया समवबुध्येरन्।

टीकाकृता च यत्र यत्र 'तदुक्तमस्माभिः' इत्यादि निर्दिष्टं तत्र तत्र तानि तानि तदुक्तपूर्वस्थलानि सपृष्ठपङ्क्तिकं यथाशक्ति समदीदृशामेति।

क्वचिच्च कस्यचिदेकस्य विषयस्य प्रतिपादने अन्तराऽन्तरा अन्या अपि प्रसङ्गप्राप्ता लघीयस्यो द्राघीयस्यो वा चर्चाश्चर्चिताः टीकाकृता, तासां च अन्तरागतानां चर्चानामाद्यन्तौ ज्ञातुं प्रतिचर्चमादौ {एतादृशं चिह्नम्, अन्ते च} एतादृशं चिह्नं निरटङ्किष्महि, तस्य च{} एतादृशस्य समग्रस्य चिह्नस्य 'दूरान्वयसूचकं चिह्नम्' इति संज्ञां व्यधिष्महि। एतदर्थं पश्यत पृ० ५७ पं १४—पृ० ५९ पं० २२ इति।

अस्य प्रथमस्य भागस्य संशोधनकर्मणि प्रवर्तकश्रीकान्तिविजयानां विद्याप्रियैः सुशीलैः प्रशिष्यैः श्रीपुण्यविजयमुनिभिर्बहुमूल्यं साहाय्यमनुष्ठितं तदर्थं तेषां कृतज्ञा वयम्।

सुखलालः
बेचरदासश्च।

॥ अर्हम् ॥

श्रीसिद्धसेनदिवाकररचितं

संमतितर्क-प्रकरणम् ।

राजगच्छीय-तर्कपञ्चानन-न्यायचक्रवर्त्ति-श्रीअभयदेवसूरिनिर्मितया

तत्त्वबोधविधायिन्याख्यया व्याख्यया सहितम् । ५

प्रथमः काण्डः ।

स्फुरद्बोधांशुविध्वस्तमोहान्धतमसोदयम् ।
वर्धमानार्कमभ्यर्च्य वक्ष्ये सम्मतिवृत्तये ॥ १ ॥
प्रज्ञावद्भिर्यद्यपि सम्मतिटीकाः कृताः सुपक्वार्थाः ।
तास्वल्पायाऽपि न महानुपकारः स्वल्पबुद्धीनाम् ॥ २ ॥ १०
दोगुन्दुगभिपलयं तेषामाथानुमाधिनो यतः ।
मन्दमतिना मयाऽप्येष मात्र संपत्यते विस्तरः ॥ ३ ॥

'इह च शारीर-मानसानेकदुःखदारिद्र्योपद्रवविद्रुतानां निरुपमाऽनन्तिरायानन्तशिवसुखा-न्यसमाऽपवर्गकारणसम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मकपरमरत्नत्रयविभूषया अतिगम्भीरजिनवचन-महोदधिमथननिपुणमानां तदुपायरूपोपायमविपुलं भव्यसत्वानां तद्दर्शनेन तेषां महानुपकारः प्रव-१५ र्तिताम्, तत्पूर्वकआत्मोपकारः' इति मन्वान आचार्यो दुष्षमाऽरसमारधामसमयोद्भूतसमस्तजन-मानार्द्दर्भतमसविध्वंसकत्वेनावाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रक-रणकरणे प्रवर्तमानः "शिष्टाः क्वचिदभीष्टे वस्तुनि प्रवर्तमाना अभीष्टदेवतानमस्कारविधानपुरस्सरं प्रवर्तन्ते" इति [illegible]
[illegible] २०
[illegible]
[illegible] दर्शनपर्भुवमनुत्क्षिप्यशासन-
[illegible] शासनमित्याह
[illegible] शास्मार्थेकस्तव' इति च संब-
न्धार्थं शासनस्याभीष्टदेवतावितोपस्य प्रधानभूतसिद्धत्व-कुसमयविशासित्वा-ऽर्हत्प्रणीतत्वादिगुण- २५
प्रकाशनद्वारेण स्तवाभिधायिकां गाथामाह-

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥ १ ॥

अस्याश्च समुदायार्थः पदघटनाविवक्षया प्रकाश्यते, अवयवार्थस्तु प्रकाशत्वे—शास्यन्ते जीवा-
दयः पदार्था यथावस्थितत्वेन अनेनेति 'शासनं' द्वादशाङ्गम्, तच्च 'सिद्धं' प्रतिष्ठितम्—निश्चित- ३०
प्रामाण्यमिति यावत्—स्वमहिम्नैव, नान्यः प्रकरणात् प्रतिष्ठाप्यम् ।

---

१ दुष्षमारम(सा)रमा-ब० । २—प्रतिपादक-भा०, वा० ।

[स्वतःप्रामाण्यपक्षः]

अत्राहुर्मीमांसकाः—अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्, तस्यार्थतथा
प्रामाण्यम्, तच्च स्वतः उत्पत्तौ, स्वकार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे, स्वज्ञाने च
कसामग्रीव्यतिरिक्तगुणादिसामग्र्यन्तर-प्रमाणान्तर-स्वसंवेदनग्रहणानपेक्षत्वात् । अ
च प्रामाण्यं स्वत उच्यते इति । अत्र च प्रयोगः—ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तत्
यथाऽविकला कारणसामग्री अङ्कुरोत्पादने, अनपेक्षं च प्रामाण्यमुत्पत्तौ, स्वकार्ये, ज्ञप्तौ

[परतःप्रामाण्यपक्षः]

अत्र परतःप्रामाण्यवादिनः प्रेरयन्ति—अनपेक्षत्वमसिद्धम् । तथाहि—उत्पत्तौ ता
विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणान्तरसापेक्षम्, तदन्वय-व्यतिरेकानुवि
तथाच प्रयोगः—यत् चक्षुराद्यतिरिक्तभावा-ऽभावानुविधायि तत् तत्सापेक्षम्, यथा
चक्षुराद्यतिरिक्तभावा-ऽभावानुविधायि च प्रामाण्यम् इति स्वभावहेतुः तस्मादुत्पत्तौ
स्वकार्ये च सापेक्षत्वात् परतः । तथाहि—ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदया न ते स्व
धर्मकाः, यथाऽप्रामाण्यादयः, प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयं च प्रामाण्यं तत्र इति विरुद्धव्या
तथा ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वात् परतः । तथाहि—ये सन्देह-विपर्ययाऽध्यासिततनवस्ते परतो
धारितस्वरूपाः, यथा स्थाण्वादयः, तथा च सन्देह-विपर्ययाऽध्यासिततनुमात्रं केषाञ्चि
प्रामाण्यमिति स्वभावहेतुः ॥

[पूर्वपक्षः-(१) उत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधनम्]

अत्र [illegible]-'प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणसा
[illegible], तेषामसत्त्वात्, तदसत्त्वं च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । तथाहि—न तावत् प्रत्यक्षं च
[illegible] गुणान् प्रतीतुं समर्थम्, अतीन्द्रियत्वेनेन्द्रियाणां तद्गुणानामपि प्रतिपत्तुमशक्तेः ।
[illegible] प्रतिपत्तौ, तदप्यसम्यक्, अनुमानस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चयबलेनोत्पत्तेः
[illegible] किं प्रत्यक्षेणेन्द्रियगतगुणैः सह गृह्यते लिङ्गस्य? आहोस्विदनुमानेन? इति
[illegible] गुणैः सह लिङ्गस्य सम्बन्धग्राहकमभ्युपगम्यते तदयुक्तम् । [illegible]
[illegible]

"[illegible]" [ ] इति

[illegible]

तत्साधन एव गुणविकलसामग्रीलक्षणात् कारणाद् विज्ञानमुत्पद्यते तत एव प्रामाण्यमपीति 'गुणवच्चक्षुरादिभावाभावानुविधायित्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः[1]। अत एवोत्पत्तौ 'सामग्र्यन्तरानपेक्षत्वं'[2] नासिद्धम्, अनपेक्षत्वविरुद्धस्य सापेक्षत्वस्य विपक्षे सद्भावात् ततो व्यावर्त्तमानो हेतुः स्वसाध्येन व्याप्यते इति विरुद्धा-ऽनैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतोः स्वसाध्यसिद्धिः।

५ अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यम्। शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति, नोत्पादककारणकलापाधीनाः। तदुक्तम्—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४७]

एतच्च नैव सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते[4], किंतु यः कार्यधर्मः कारणकलापेऽस्ति स एव
१० कारणकलापादुपजायमाने कार्ये तत एवोदयमासादयति; यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेऽपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्डरूपादिद्वारेणोपजायन्ते। ये पुनः कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते कारणेभ्यः कार्ये उदयमासादयंति तत एव प्रादुर्भवन्ति[5], किंतु स्वतः, यथा घटस्यैवोदकाहरणशक्तिः, तथा विज्ञानेऽप्यर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः चक्षुरादिषु विज्ञानकारणेष्वविद्यमाना न तत एव भवति, किंतु स्वत एव प्रादुर्भवति। किंचोक्तम्[6]—

१५ "आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४८]

तथाहि— "मृत्पिण्ड-दण्ड-चक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते" ॥ [ ] इति।

अथ चक्षुरादेर्विज्ञानकारणादुपजायमानत्वात् प्रामाण्यं परत उपजायत इति यद्यभिधीयते,
२० तदभ्युपगम्यत एव। प्रेरणाबुद्धेरपि अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायाः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्षलिङ्गादुपजायमाना तत एव गृहीतप्रामाण्या उपजायत इति 'सर्वत्र विज्ञानकारणकलापव्यतिरिक्तकारणान्तरानपेक्षमुपजायमानं प्रामाण्यं स्वत उत्पद्यते' इति नोत्पत्तौ परतः प्रामाण्यम् ॥

[पूर्वपक्षः-(२) कार्ये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधनम्]

२५ नापि 'स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तमानं प्रमाणं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्तनिमित्तापेक्षं प्रवर्त्तते' इत्यभिधातुं[7] शक्यम्; यतस्तन्निमित्तान्तरमपेक्ष्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं किं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रवर्त्तते? आहोस्वित् स्वोत्पादककारणगुणानपेक्ष्य प्रवर्त्तते? इति विकल्पद्वयम्। तत्र यद्याद्यो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तदा चक्रकलक्षणं दूषणमापतति। तथाहि-प्रमाणस्य स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षणः संवादः, तं च संवादम-
३० पेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तत इति यावत् प्रमाणस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, तामन्तरेण नार्थक्रियाज्ञानसंवादः, तत्सद्भावं विना प्रमाणस्य तदपेक्षस्य[8] स्वकार्ये न प्रवृत्तिरिति स्पष्टं चक्रकलक्षणं दूषणमिति। न च भाविनं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य
[illegible] ानस्य
[illegible] ाणस्य
[illegible]। तत्र
[illegible] अथ
[illegible] ।कार्ये
[illegible] प्रव-

---

१ मन्याप्रम्-श्लो० १००। २ अयं हेतुः पृ० २, पं० ६। ३ एतच्च 'सामग्र्यन्तरानपेक्षत्वम्' पृ० २, पं० ४।
४ "सांख्य" (दर्शनसमाश्रयणात्) गु०टि०। ५ वा० विना सर्वत्र-मासादयन्ति न तत एव—इत्यादिपाठः।
६ "सर्वे हि भावाः स्वात्मलाभायैव स्वकारणान्यपेक्षन्ते, घटो हि मृत्पिण्डादिकं स्वजन्मनि एव अपेक्षते, नोदकाहरणेऽपि; तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तौ गुणवत्, इत्यादि वा कारणमपेक्षतां नाम, स्वकार्ये तु विषयनिश्चये अनपेक्षमेव" इति–श्लोकवा० टीकायाम्-(श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४८)। ७ इत्यभिधातुं शक्यम्-भा०। ८ तदपेक्षस्य स्वकार्ये-गु०।

र्तते, तदपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमित्यनवस्थासमवतारो दुर्निवार इति । अथ प्रमाणकारणगुणज्ञानं स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षमेव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तर्हि प्रमाणमपि स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षमेवार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्तिष्यत इति व्यर्थं प्रमाणस्य स्वकारणगुणज्ञानापेक्षणमिति न स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं प्रमाणमन्यापेक्षम् । तदुक्तम्—

"जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत् कारणशुद्धत्वं न प्रमाणान्तराद् गतम् ॥
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥
तस्यापि कारणाशुद्धेर्न ज्ञानस्य प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीत्यं तु न क्वचिद्व्यवतिष्ठते" ॥ इति [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४९-५१] ५ १०

तेन 'ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः' इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः । तस्मात्—'स्वसामग्रीत उपजायमानं प्रमाणमर्थयाथात्म्यपरिच्छेदशक्तियुक्तमेवोपजायत इति स्वकार्येऽपि प्रवृत्तिः स्वतः इति स्थितम् ॥

[पूर्वपक्षः–(३) निश्चये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधनम्]

नापि प्रमाणं प्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम् । तदपेक्षमाणं किं स्वकारणगुणानपेक्षते ? आहोस्वित् १५ संवादम् ? इति विकल्पद्वयम् । तत्र यदि स्वकारणगुणानपेक्षत इति पक्षः कक्षीक्रियते, सोऽसंगतः स्वकारणगुणानां प्रत्यक्ष-तत्पूर्वकानुमानाग्राह्यत्वेनासत्त्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात् । अथाभिधीयते–यो यः कार्यविशेषः स स गुणवत्कारणविशेषपूर्वकः, यथा प्रासादादिविशेषः, कार्यविशेषश्च यथावस्थितार्थपरिच्छेद इति स्वभावहेतुरिति, एतदसम्बद्धम्, परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वासिद्धेः । तथाहि–परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं किं शुद्धकारकजन्यत्वेन ? उत २० संवादित्वेन ? आहोस्विद् बाधारहितत्वेन ? उतस्विद् अर्थतथात्वेन ? इति विकल्पाः । तत्र यदि गुणवत्कारणजन्यत्वेनेति पक्षः, स न युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि–गुणवत्कारणजन्यत्वेन परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वम्, तत्परिच्छेदस्य च गुणवत्कारणजन्यत्वमिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । अथ संवादित्वेन ज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं विज्ञायते, एतदप्ययुक्तम्, चक्रकप्रसङ्गस्यात्र पक्षे दुर्निवारत्वात् । तथाहि–न यावद् विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेद- २५ लक्षणो विशेषः सिध्यति, न तावत् तत्पूर्विका प्रवृत्तिः संवादार्थिनाम्, यावच्च न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियासंवादः, यावच्च न संवादो न तावद् विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वसिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्गः प्रागेव प्रतिपादितः । अथ बाधारहितत्वेन विज्ञानस्य यथार्थपरिच्छेदत्वमभ्युपगम्यते, तदप्यसङ्गतम्, स्वाभ्युपगमविरोधात् । तदभ्युपगमविरोधश्च–बाधाविरहस्य तुच्छस्वभावस्य सत्त्वेन ज्ञापकत्वेन चाऽनङ्गीकरणात्, पर्युदासवृत्त्या तदन्यज्ञानलक्षणस्य तु विज्ञानपरिच्छेदविशेषविषय- ३० त्वेन तदवस्थापकत्वानुपपत्तेः । अथार्थतथात्वेन यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषो विज्ञानस्य व्यवस्थाप्यते, सोऽपि न युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि–सिद्धेऽर्थतथाभावे तद्विज्ञानस्यार्थतथाभावपरिच्छेदत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चार्थतथाभावसिद्धिरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । तन्न कारणगुणापेक्षा प्रामाण्यज्ञप्तिः । अथ संवादापेक्षः प्रामाण्यविनिश्चयः, सोऽपि न युक्तः, यतः संवादकं ज्ञानं किं समानजातीयमभ्युपगम्यते ? आहोस्विद् भिन्नजातीयम् ? इति पुनरपि विकल्प- ३५ द्वयम् । तत्र यदि समानजातीयं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्–किमेकसन्तानप्रभवम् ? भिन्नसन्तानप्रभवं वा ? । यदि भिन्नसन्तानप्रभवं समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमभ्युपगमः, अयमप्ययुक्तः, अतिप्रसङ्गात् । अतिप्रसङ्गश्च–देवदत्तघटविज्ञानं प्रति यज्ञदत्तघटान्तरविज्ञानस्यापि संवादकत्वप्रसक्तेः । अथ समानसन्तानप्रभवं समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्–किं तत् पूर्वप्रमाणाभिमतविज्ञानगृहीतार्थविषयम् ? उत भिन्नविषयम् ? ४०

---

१ प्रमेयकमल०-पृ० १, पं० ११ । २ पृ० १-पं० १० । ३-वस्थितार्थपरिच्छेदकत्वम्—भा०, मां०, को०, गु० । ४ पृ० ४-पं० १८ । ५ वाऽ-भां० ।

इति । तत्र यद्येकार्थविषयमिति पक्षः, सोऽनुपपन्नः एकार्थविषयत्वे संवाद्य-संवादकयोरविशेषात् । तथाहि-एकविषयत्वे सति यथा प्राक्तनमुत्तरकालभाविनो विज्ञानस्यैकसन्तानप्रभवस्य समानजातीयस्य न संवादकं तथोत्तरकालभाव्यपि न स्यात् । किंच, तदुत्तरकालभावि समानजातीयमेकविषयं कुतः प्रमाणत्वेन सिद्धम्-येन प्रथमस्य-प्रामाण्यं निश्चाययति ? तदुत्तरकालभाविनोऽन्यस्मात् तथाविधादेवेति चेत्, तर्हि तस्याप्यन्यस्मात्-तथाविधादेव इत्यनवस्था । अथोत्तरकालभाविनस्तथाविधस्य प्रथमप्रमाणात् प्रामाण्यनिश्चयः, तर्हि प्रथमस्योत्तरकालभाविनः प्रमाणात् तन्निश्चयः, उत्तरकालभाविनोऽपि प्रथमप्रमाणादिति तदेवेतरेतराश्रयत्वम् । अथ प्रथमो-त्तरयोरेकविषयत्व-समानजातीयत्वै-कसन्तानत्वाविशेषेऽप्यस्त्यन्यो विशेषः, यतो विशेषाद् उत्तरं प्रथमस्य प्रामाण्यं निश्चाययति, न पुनः प्रथममुत्तरस्य; स च विशेषः-उत्तरस्य कारणशुद्धिपरिज्ञानानन्तरभावित्वम् । ननु कारणशुद्धिपरिज्ञानमर्थक्रियापरिज्ञानमन्तरेण न सम्भवति, तत्र च चक्रकदोषः प्राक् प्रतिपादित इति नार्थक्रियाज्ञानसम्भवः सम्भवे वा तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य संजातत्वाद् व्यर्थमुत्तरकालभाविनः कारणशुद्धिज्ञानविशेषसमन्वितस्य पूर्वप्रामाण्यावगमहेतुत्वकल्पनम्; तन्न समानजातीयमेकसन्तानप्रभवमेकार्थमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम् । अथ भिन्नार्थं तद् ज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्, तदप्ययुक्तम्; एवं सति शुक्तिकायां रजतज्ञानस्य तथाभूतं शुक्तिकाज्ञानं प्रामाण्यनिश्चायकं स्यात्; तन्न समानजातीयमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चायकम् । अथ भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति पक्षः, तत्रापि वक्तव्यम्-किम् अर्थक्रियाज्ञानम् ? उत अन्यत् ? । तत्रान्यदिति न वक्तव्यम्, घटज्ञानस्यापि पटज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वप्रसङ्गात् । अथार्थक्रियाज्ञानं संवादकमित्यभ्युपगम', अयमपि न युक्तः; अर्थक्रियाज्ञानस्यैव प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याद्यभावतश्चक्रकदोषेणासम्भवात् । अथ प्रामाण्यनिश्चयाभावेऽपि संशयादपि प्रवृत्तिसम्भवान्नार्थक्रियाज्ञानस्यासम्भवः, तर्हि प्रामाण्यनिश्चयो व्यर्थः । तथाहि-प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेण प्रवृत्तः 'विसंवादभाग् मा भूवम्' इत्यर्थक्रियार्थी प्रामाण्यनिश्चयमन्वेषते, सा च प्रवृत्तिस्तन्निश्चयमन्तरेणापि संजातेति व्यर्थः प्रामाण्य-

'कुतः प्रामाण्य-
योऽन्याश्रयदोषः
तथाभावे प्रद्वेषः

किंनिबन्धनः ? । तदुक्तम्—

"यथैव प्रथमं ज्ञानं तत्संवादमपेक्षते ।
संवादेनापि संवादः पुनर्मृग्यस्तथैव हि ॥ [ ]
कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ? ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ७६]
संवादस्याथ पूर्वेण संवादित्वात् प्रमाणता ।
अन्योऽन्याश्रयभावेन न प्रामाण्यं प्रकल्पते" ॥ [ ] इति ।

अथापि स्यादर्थक्रियाज्ञानमर्थाभावे न दृष्टमिति न तत् स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, साधनज्ञानं तु अर्थाभावेऽपि दृष्टमिति तत् प्रामाण्यनिश्चयेऽर्थक्रियाज्ञानापेक्षमिति, एतदप्यसङ्गतम्। अर्थक्रियाज्ञानस्याप्यर्थमन्तरेण स्वप्नदशायां दर्शनात्; न च स्वप्न-जाग्रद्दशाऽवस्थयोः कश्चिद्विशेषः प्रतिपादयितुं शक्यः । अथार्थक्रियाज्ञानं फलावाप्तिरूपत्वान्न स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, साधननिर्भासि पुनर्ज्ञानं नार्थक्रियावाप्तिरूपं भवति तत् स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम् । तथाहि-जलावभासिनि ज्ञाने समुत्पन्ने पाना-ऽवगाहनार्थिनः 'किमेतज्ज्ञानावभासि जलमभिमतं फलं साधयिष्यति, उत न' इति जाताशङ्काः तत्प्रामाण्यविचारं प्रत्याद्रियन्ते; पाना-ऽवगाहनायां-

---

१ प्रमाणमेय मु० । २ पृ० ५-पं० १५ । ३ अभ्यासम् श्लो० २०० । ४ अस्मिन्नेव पृष्ठे पं० ५ । ५ स्याद्वादरत्नाकरे तत्प्रणेता एतदेव श्लोकद्वयं "यदाह भट्टः"-(पृ० १२४ पङ्क्तौ ५) इति निर्दिश्य उद्धृतवान्, तथापि मुद्रिते कुमारिलभट्टस्य श्लोकवार्तिके एक एव मध्यमः श्लोको लभ्यः । ६-प्रत्यायाः-डी०, मु० । ७ पुनर्ज्ञानमर्थक्रियावाप्तिरूपं न भवति तद्-डा० ।

प्रथमे काण्डे–

भासिज्ञाने तु समुत्पन्नेऽर्थास्फलत्वात् तत्प्रामाण्यविचारणाय मनः प्रणिदधाति, नैतत् सारम्। 'अर्थतफलत्वात्' इत्यस्यानुत्तरत्वात्। तथाहि–यथा ते विचारकत्वाज्जलज्ञानावभासिनो जलस्य "किं सत्यम्? उतासत्यम्?" इति विचारणायां प्रवृत्तास्तथा फलज्ञाननिर्भासिनोऽप्यर्थस्य सत्या- सत्यविचारणायां प्रवर्तन्ते। अन्यथा तत्प्रवृत्तौ तदवभासिनोऽर्थस्यासत्याशङ्कया तज्ज्ञानस्या- ५ वस्तुविषयत्वेनाप्रमाणतया शङ्क्यमानस्य न तज्जलावभासिप्रवर्तकज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकत्वम्। तत्प्रामाण्यस्य शङ्क्यमानरूपतया प्रामाण्यनिश्चयाभावात् कथम् 'अर्थक्रियार्थी प्रवृत्तिनिश्चितप्रामा- ण्याद् ज्ञानात्' इत्यभ्युपगमः शोभनः? । किञ्च, भिन्नजातीयं संवादकज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायक- मभ्युपगम्यमानमेकार्थम्? भिन्नार्थं वा? । यद्येकार्थमित्यभ्युपगमः–स न युक्तः, भवन्मतेना- घटमानत्वात्। तथाहि–रूपज्ञानाद् भिन्नजातीयं स्पर्शादिज्ञानम्, तत्र च स्पर्शादिकमाभाति १० न रूपम्, रूपज्ञाने तु रूपम्–न स्पर्शादिकम्–आभाति, रूप-स्पर्शयोश्च परस्परं भेदः, न चाव- यवी रूप-स्पर्शज्ञानयोरेको विषयतयाऽभ्युपगम्यते, येनैकविषयं भिन्नजातीयं पूर्वज्ञानप्रामाण्य- व्यवस्थापकं भवेत्। अपि च, एकविषयत्वेऽपि किं येन स्वरूपेण व्यवस्थाप्ये ज्ञाने सोऽर्थः प्रतिभाति, किं तेनैव व्यवस्थापके? उतान्येन? । तत्र यदि तेनैवेत्यभ्युपगमः, स न युक्तः। व्यवस्था- प्यकस्य तावद्धर्मार्थविषयत्वेन स्मृतिवदप्रमाणत्वेन व्यवस्थापकत्वासम्भवात्। अथ रूपान्तरेण १५ सोऽर्थस्तत्र विज्ञाने प्रतिभाति, नन्वेवं संवाद्य-संवादकयोरेकविषयत्वं न स्यादिति द्वितीये एव विजातीयस्य तोऽभ्युपगतः स्यात्, स चायुक्तः, सैधस्यापि भिन्नविषयस्यैकसन्तानप्रभवस्य पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चा- माण्यव्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात्। तथा किं तत् समानकालमर्थक्रियाज्ञानं तत्साधननिर्भासिज्ञानग्राहि? उत तदग्राहि? कम्? आहोस्विद् भिन्नकालम्?। यदि समानकालम्–किं साधननिर्भासिज्ञानेऽप्रतिभासनात्, इति पुनरपि विकल्पद्वयम्। यदि तद्ग्राहि, तदसत्, ज्ञानान्तरस्य चक्षुरादिज्ञानेऽप्रतिभासनात्, २० प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन चक्षुरादिज्ञानानामभ्युपगमात्। अथ तदग्राहि, न तर्हि तत्प्रामाण्य- निश्चायकम्, तदग्रहे तद्गतधर्माणामप्यग्रहात्। अथ भिन्नकालम्, तदप्ययुक्तम्। पूर्वज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नानानुत्तरकालभाविविज्ञानेऽप्रतिभासनात्, भासने चोत्तरविज्ञानस्यार्थविषयत्वे- नाप्रामाण्यप्रसक्तितत्संवादकत्वेन न तत्प्रामाण्यनिश्चायकत्वम्। तदग्राहकं तु भिन्नकालं सुतरां न तन्निश्चायकमिति न भिन्नकालमप्येकसन्तानजं भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति न संवादापेक्षः पूर्वप्रमाणप्रामाण्यनिश्चयः। तेन प्रमाणमपि 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः' इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः। २५ व्याप्तिस्तु साध्यविपक्षात्तन्नियतत्वव्यापकात् सापेक्षत्वाद्विपर्ययमानमनपेक्षत्वं तन्नियतत्वेन व्याप्यते इति प्रमाणसिद्धये। यतश्च न पूर्वोक्तेन प्रकारेण परतःप्रामाण्यनिश्चयः सम्भवति, ततो 'ये सन्देह- विपर्ययविपर्यासितास्तथा' इति प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः। हेतोश्चासिद्धता सर्वप्रमाणभूतां प्रामाण्ये सन्देह-विपर्ययाभावात्। तथाहि–ज्ञाने समुत्पन्ने सर्वेषाम् 'अयमर्थः' इति निश्चयो भवति, न च प्रामाण्यस्य सन्देहे, विपर्यये वा सत्येव युक्तः। तदुक्तम्–

"प्रामाण्यग्रहणात् पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम्।
निरपेक्षं स्वकार्ये च" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ८३] इति।

स्वार्थनिश्चयो हि प्रमाणकार्यम्–न च तत् प्रमाणान्तरग्रहणं चापेक्षत इति मन्यते–न चैव संशय-विपर्ययविषयत्वे सम्भवतीति।

अथ प्रमाणा–ऽप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यं रूपमिति न संवाद-विसंवादादन्तरेण तयोः प्रा... यथा–ऽप्रामाण्यनिश्चयः, तद्वत्। अप्रमाणे तदुत्तरकालभाविनो बाधक-कारणदोषज्ञान... तेन तत्राप्रामाण्यनिश्चयः, प्रमाणे तु तयोरभावात् कुतोऽप्रामाण्याशङ्का? । अथ तदुत्प... तयोर्दर्शनात् तत्रापि तदाशङ्का, साऽपि न युक्ता। त्रि-चतुरज्ञानापेक्षामात्रेण... संवाद... निवृत्तेः। न च तदपेक्षातः स्वतःप्रामाण्यव्याहतिः, अनवस्था...

१ न जलाय–वा०, बा०। २ अत्र पृष्ठे ८ पङ्क्तौ ... ५ "... ८ ... ४ प्रद्योतोऽयम्–पृ० २, पं० ५। ५ प्रामाण्यं ग्रहणात् पूर्वम्–वा०। ८ ... –वा०, पु०।१०... पु०, भा०। ४ प्रद्योतोऽयम्–पृ० २, पं० १४। ७ प्रामाण्यं ग्रहणात् पूर्वम्... ९ न च तत्र प्रमाणान्तरं ग्रहणमपेक्षते–वा०, पु०। ... प्रद्योत–पृ० २, पं० १४। ... "। ... –आविदाधक–पु०।

स्याप्रामाण्याशङ्काव्यवच्छेदे एव व्यापारात्—अपरज्ञानानपेक्षणाच्च । तथाहि—
यत्र बाध्यमानप्रत्ययसाधर्म्योदप्रामाण्याशङ्का, तस्यां सत्यां तृतीयज्ञानापेक्षा, तच्चोत्पन्नं प्रथमज्ञानसंवादि, तदा तेन न प्रथमज्ञानप्रामाण्यनिश्चयः क्रियते, किंतु द्वितीयज्ञानेन यत् प्रामाण्यमाशङ्कितं तदेव तेनापाक्रियते; प्रथमस्य तु स्वत एव प्रामाण्यमिति । एवं
५ कथञ्चित् संशयोत्पत्तौ चतुर्थज्ञानापेक्षायामयमेव न्यायः । तदुक्तम्—

"एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते" ॥ इति [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ६१]

यत्र च दुष्टं कारणम्, यत्र च बाधकप्रत्ययः-स एव मिथ्याप्रत्ययः-इत्यस्याप्ययमेव विषयः । चतुर्थज्ञानापेक्षा त्वभ्युपगमवादत उक्ता, ननु तदपेक्षाऽपि न्यायतो विद्यते । अथ तृतीयज्ञानं द्विती-
१० यज्ञानसंवादि, तदा प्रथमस्याप्रामाण्यनिश्चयः—स तु—तत्कृतोऽभ्युपगम्यते एव; किंतु द्वितीयस्य यदप्रामाण्यमाशङ्कितं तत् तेनाऽपाक्रियते, न पुनस्तस्य द्वितीयप्रामाण्यनिश्चायकत्वे व्यापारः । यत्र त्वभ्यस्ते विषयेऽर्थतथात्वशङ्का नोपजायते तत्र बलादुत्पाद्यमाना शङ्का तत्कर्तुरनर्थकारिणीत्यावेदितं वार्त्तिककृता—

"आशङ्केत हि यो मोहादजातमपि बाधकम् ।
१५ स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्" ॥ [ ] इति ।

न चैतदभिशापमात्रम्, यतोऽशङ्कनीयेऽपि विषयेऽभिशङ्किनां सर्वथार्था-ऽनर्थप्राप्तिपरिहारार्थिनामिष्टा-ऽनिष्टप्राप्ति-परिहारसमर्थप्रवृत्त्यादिव्यवहारासम्भवाद् न्यायप्राप्त एव क्षयः, स्वोत्प्रेक्षितनिमित्तनिबन्धनाया आशङ्कायाः सर्वत्र भावात् ।

प्रेरणाजनिता तु बुद्धिरपौरुषेयत्वेन दोषरहितात् प्रेरणालक्षणाच्छब्दादुपजायमाना लिङ्गा-
२० ऽऽप्तोक्ता-ऽक्षबुद्धिवत् प्रमाणं सर्वत्र स्वतः । तदुक्तम्—

"चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गा-ऽऽप्तोक्ता-ऽक्षबुद्धिवत्" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १८४] इति ।

तस्मात् स्वतः प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं परत इति व्यवस्थितम् । अतः सर्वप्रमाणानां स्वतः
२५ सिद्धत्वाद् युक्तमुक्तम्—'स्वतः सिद्धं शासनं नातः प्रकरणात् प्रामाण्येन प्रतिष्ठाप्यम्' । इदं त्वयुक्तम्—'जिनानाम्' इति, जिनानामसत्त्वेन शासनस्य तत्कृतत्वानुपपत्तेः; उपपत्तावपि परतः प्रामाण्यस्य निषिद्धत्वादिति ॥

[उत्तरपक्षः—(१) उत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरसनम्]

अत्र प्रतिविधीयते, यत्तावदुक्तम्—'अर्थतथाभावप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्', तदयुक्तम्;
३० पराभ्युपगतज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेन निषेत्स्यमानत्वात् । यदप्यन्यदभ्यधायि—'तस्य यथार्थप्रकाशकत्वं प्रामाण्यम्, तच्चोत्पत्तौ स्वतः, विज्ञानकारणचक्षुरादिव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात्' तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तिरविद्यमानस्यात्मलाभः, सा चेन्निर्हेतुका, "देश-काल-स्वभावनियमो न स्यात्" इत्यन्यत्र प्रतिपादितम् । किंच, गुणवच्चक्षुरादिसद्भावे सति यथावस्थितार्थप्रतिपत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टा इति तद्धेतुका व्यवस्थाप्यते, अन्वय-व्यतिरेकनिबन्धनत्वादन्यत्रापि हेतुफलभावस्य, अन्यथा दोष-
३५ वच्चक्षुराद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधायिनी मिथ्याप्रतिपत्तिरपि स्वतः स्यात् । तथाऽभ्युपगमे

"वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात्" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ५४]

इति वचो व्याहतमनुषज्येत । यदपि 'अप्रत्यक्षाऽऽश्रितगुणसद्भावे प्रत्यक्षाप्रवृत्तेः तत्पूर्वकानुमानस्यापि तद्भावादकार्यैर्माव्यापारात् चक्षुरादिगतगुणानामसत्त्वात् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वं

---

१ अथ तत् तृतीय-भां० । २-त्यभ्यासा-ऽतथात्वाशङ्का-भां० । ३-नर्थप्राप्ति-परिहारसमर्थ-गु० । ४ पृ० १, पं० १० । ५ पृ० ३, पं० २ । ६ पृ० २, पं० १ । ७ "द्विविधस्य-इति मिथ्यात्व-संशयरूपस्य—" भां० टि० । ८ "अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वा-ऽज्ञान-संशयैः' इति पूर्वार्धम् (अस्य)—भां० टि०

प्रामाण्यस्योत्पत्तावयुक्तम्' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्। अप्रामाण्योत्पत्तावप्यस्य दोषस्य समानत्वात्।
तथाहि-'अतीन्द्रियलोचनाद्याश्रिता दोषाः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते, उतानुमानेन ? न तावत् प्रत्य-
क्षेण, इन्द्रियादीनामतीन्द्रियत्वेन तद्गतदोषाणामप्यतीन्द्रियत्वेन तेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः। नाप्यनु-
मानेन, अनुमानस्य गृहीतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वाभ्युपगमात्, लिङ्गप्रतिबन्धग्राहकस्य च प्रत्यक्ष-
स्यानुमानस्य चात्र विषयेऽसम्भवात्, प्रमाणान्तरस्य चात्रानन्तर्भूतस्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाण- ५
त्वात्' इत्यादि सर्वमप्रामाण्योत्पत्तिकारणभूतेषु लोचनाद्याश्रितेषु दोषेष्वपि समानमिति तेषाम-
प्यसत्त्वात् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धत्वादप्रामाण्यमप्युत्पत्तौ स्वतः स्यात्। यदपि
'अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगमः' इत्यादि 'यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञाना-
दुत्पादकं कारणमाश्रयमनुमिनोति किंतु सम्यग्ज्ञानात्' इत्यन्तमभ्यधायि, तदप्यसङ्गतम्, यतो
यदि लोकव्यवहारसमाश्रयणेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ये व्यवस्थाप्येते तदाऽप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि १०
परतो व्यवस्थापनीयम्। तथाहि—लोको यथा मिथ्याज्ञानं दोषवच्चक्षुरादिप्रभवमभिदधाति तथा
सम्यग्ज्ञानमपि गुणवच्चक्षुरादिसमुत्थमिति तदभिप्रायादप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमप्युत्पत्तौ परतः
कथं न स्यात् ? तथाहि—तिमिरादिदोषोपहतचक्षुष्को विशिष्टौषधोपयोगावाप्ताक्षिनैर्मल्यगुणः
केनचित् सुहृदा 'कीदृशे भवतो लोचने वर्तेते' इति पृष्टः सन् प्राह—'प्राक् सदोषे अभूतामिदानीं
समासादितगुणे संजाते' इति। न च नैर्मल्यं दोषाभावमेव लोको व्यपदिशति इति वाच्यमभिधा-१५
तुम्, तिमिरादेरपि गुणाभावरूपत्वव्यपदेशप्राप्तेः; तथाच अप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वतः स्यात्।
यदप्यभ्यधायि 'न च तृतीयं कार्यमस्ति' इति, तदप्यसम्बद्धं, तृतीयकार्याभावेऽपि पूर्वोक्तन्यायेन
प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परतः सिद्धत्वात्। यच्च 'अपि चार्थतथाभावप्रकाशनलक्षणं प्रामाण्यम्' इत्यादि
'विभ्रमैकं स्यादिति वचः परिप्लवेत' इतिपर्यवसानमभिहितम्, तदपि अविदितपराभिप्रायेण,
यतो न परस्यायमभ्युपगमः—विज्ञानस्य चक्षुरादिसामग्रीत उत्पत्तावप्यर्थतथाभावप्रकाशनलक्ष-२०
णस्य प्रामाण्यस्य नैर्मल्यादिसामग्र्यन्तरात् पश्चादुत्पत्तिः, किंतु गुणवच्चक्षुरादिसामग्रीत उपजाय-
मानं विज्ञानमागृहीतप्रामाण्यस्वरूपमेवोपजायत इति। ज्ञानवत् तदव्यतिरिक्तस्वभावं प्रामाण्यमपि
परत इति गुणवच्चक्षुरादिसामग्र्यपेक्षत्वादुत्पत्तौ प्रामाण्यस्यानपेक्षत्वलक्षणस्वभावहेतुरसिद्धोऽन-
पेक्षत्वस्वरूप इति 'गृह्यत एव गुणविकलसामग्रीतस्तस्मात्' इत्याद्ययुक्तमभिहितम्। 'अर्थतथा-
त्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यम्, शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति' इत्यादि यदभिधा-२५
नम्, तदप्यसमीचीनम्, एवमभिधानेऽयथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तेरप्यप्रामाण्यरूपाया असत्याः
केनचित् कर्तुमशक्तेस्तदपि स्वतः स्यात्। यदपि 'यतश्च नैव सर्वोऽयं दर्शनस्याश्रयमादधीत'
इत्यादि 'तदपेक्षा न विद्यते' इतिपर्यन्तमभिहितम्, तदपि प्रलापमात्रम्, यतोऽनेन न्यायेनाप्रामा-
ण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वत एव स्यात्। तदपि हि विपरीतार्थपरिच्छेदशक्तिलक्षणं न तिमिरादिदोष-
सङ्गतिमत्सु लोचनादिषु जातमिति। अपि च, ज्ञानरूपतामात्मन्यसंततामाविर्भावयन्तीन्द्रियादयो न ३०
पुनर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तिमिति न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः। कुतश्चैतदेवं यदिन्द्रियैः ज्ञाने
एव इमाः सन्ति ययोस्त्वं प्रत्यासत्तिमाहात्म्यात्, न पुनस्तदाधाराभिमता भावविशेषा इति ? न च
तासेभ्यः प्रासम्यतिरेकाः, यतः स्वाधाराभिमतभावकारणेभ्यो भावस्योत्पत्तावपि न तेभ्य एवो-
त्पत्तिमनुभवेयुः। व्यतिरेके, स्वाश्रयैस्तासामभवन्त्यो न सम्बन्धमाप्नुयुः, नियामकं कार्यकारणभाव-
व्यतिरेकेणापरस्य सम्बन्धस्याभावात्, आश्रयाश्रयिसम्बन्धस्यापि अन्यजन्यजनकभावाभावेऽसिद्धत्वात् ३१

१ पृ० ९ पं० ११। २ पाऽत्र भा०। ३ पृ० ९ पं० ११। ४ पृ० १ पं० २३। ५ [illegible] १०। ६ प्रभवमित्यभि-मु०। ७-वृत्पत्तावप्यामाण्य-मु०। ८ पृ० २ पं० १०। ९ पृ० ३ पं० ११। १० पृ० ३ पं० २१। ११-स्तदलभाव-भा०, मां०, मु०। १२ [illegible] 'अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा' इति [illegible] 'अर्थतथात्वपरिच्छेद' [illegible] इति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। १३ पृ० ४ पं० १। १४ पृ० ४ पं० ५। १५ स्त-स्वार्थदर्शन-भा०, वि०, हा०, भा० विना सर्वत्र। १६ पृ० ४ पं० ९। १७ पृ० ४ पं० १०। १८ "[illegible]"-मु० टि०। १९ "[illegible]" मु० टि०। २० [illegible] [illegible] (भा०, मां०, हा०, वि०) [illegible], [illegible] (वा०, भा०, भा०) [illegible]। २१ "[illegible]" मु० टि०। २२-प्रजनकभावभावे भा०।

निवेदयमानत्वात् । धर्माधर्मोऽपि व्योमकुसुमम्, अराति पारमार्थ्ये परमार्थतत्त्वेनात् । पारतन्त्र्यमपि न शतः, सर्वनिरासंभवात् । अगम्योऽपि व्योमकुसुमस्येव न, तथात्वेन । असति व्याप्तेर्मा न देश-काल-द्रव्यनियमं प्रतिपद्येरन्, तदि किञ्चित् कचित्कदाचिदपि न वा यत् यत्र कश्चिदवगमनायतं वा । सर्वप्रतिपत्यपिति स्वयमवगतो नेमा कस्यचित् कदाचित् किञ्चिद्बुद्धि प्रतिनियतशक्तियोगिता भावानां प्रमाणप्रमिता न स्यात् । व्यतिरेकाऽव्यतिरेकावस्तु शक्तीनां [illegible] युक्तः, परस्पर-
[illegible] तत्तस्यैव विवेकः,
[illegible] यात्र जन्म प्रति
[illegible]' इति, तेऽपि न
सम्यक् प्रचक्षते; सिद्धसाध्यतादोषात्, अप्रामाण्यमपि चैवं स्वतः स्यात्, नहि 'तदनुत्पन्ने ज्ञाने विसंवादप्रत्ययादुत्तरकालभाविनः तत्रोत्पद्यते' इति कस्यचिदभ्युपगमः । यदा च गुणवत्कारण-जन्यता प्रामाण्यस्य शक्तिरूपस्य प्राकनन्यायाद्व्यवस्थिता तदा कथमौत्सर्गिकत्वं तस्य दुष्टकारण-प्रभवेषु मिथ्याप्रत्ययेष्वभावात्, परस्परव्यवच्छेदरूपाणामेकत्रासम्भवात्? तस्मात् "गुणेभ्यो दोषा-णामभावस्तदभावाद् अप्रामाण्यद्वयासत्त्वेनोत्सर्गोऽनपोदित एवास्ते" इति वचः परिफल्गुप्रायम् । इतश्चैतद्वचोऽयुक्तम्, विपर्ययेणाप्यस्योद्घोषयितुं शक्यत्वात् । तथाहि—दोषेभ्यो गुणानामभावस्त-दभावात् प्रामाण्यद्वयासत्त्वेनाप्रामाण्यमौत्सर्गिकमास्त इति ब्रुवतो न वक्रं वक्रीभवति ।

किंच, 'गुणेभ्यो दोषाणामभाव' इति न तुच्छरूपो दोषाभावो गुणव्यापारनिष्पाद्यः । तत्र व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पद्वारेण कारकव्यापारस्यासम्भवात् भवद्भिरनभ्युपगमाच्च । तुच्छा-भावस्याभ्युपगमे वा—

"भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत् ।
अभावः संमतस्तस्य हेतोः किं न समुद्भवः?" ॥ [　　　　]

इति वचो न शोभेत । तस्मात् पर्युदासवृत्त्या प्रतियोगिगुणात्मक एव दोषाभावोऽभिप्रेतः, ततश्च 'गुणेभ्यो दोषाभावः' इति ब्रुवता 'गुणेभ्यो गुणाः' इत्युक्तं भवति ।

न च गुणेभ्यो गुणाः कारणानामात्मभूता उपजायन्त इति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वका-रणेभ्यो गुणोत्पत्तिसद्भावाच्च । तदभावादप्रामाण्यद्वयासत्त्वमपि प्रामाण्यमभिधीयते; ततश्च गुणेभ्यः प्रामाण्यमुत्पद्यत इत्यभ्युपगमात् परतः प्रामाण्यमुत्पद्यत इति प्राप्तम् । ततश्च स्वार्थाव-बोधशक्तिरूपप्रामाण्यात्मलाभे चेत् कारणापेक्षा, काऽन्या स्वकार्ये प्रवृत्तिर्या स्वयमेव स्यात्? येनायुक्तमुक्तम्-

"लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु" इति ।

घटस्य जलोद्वहनव्यापारात् पूर्वं रूपान्तरेण स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्तं मृदादिकारणनिरपेक्षस्य स्वकार्ये प्रवृत्तिरिति, अतो विसदृशमुदाहरणम् । उत्पत्त्यनन्तरमेव च विज्ञानस्य नाशोपगमात् कुतो लब्धा-त्मनो वृत्तिः स्वयमेव? तदुक्तम्-

"नहि तत् क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमाऽऽत्मकम् ।
येनार्थग्रहणे पश्चाद्व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ॥
तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार उच्यते ।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः" ॥ [श्लो० वा० सू० ४, श्लो० ५५-५६] इति ।

---

१ सर्वत्र प्रति- भ० । २-निषेधस्य पर-मु० । ३ समानमेतत् वचः, अर्थोऽपि अनेन एव-"तस्मात् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ६५] ४ "पदार्थान्तरेण विनिर्मुक्तः-स्वतः-भिन्न इति यावत्; इत्थंभूतो भाव एव अभावः-न पुनर्भावादतिरिच्यते इत्यर्थः । यत्र दृष्टान्तोऽनुपलम्भः, यथा घटानुपलम्भो घटातिरिक्तस्य घटादेरुपलम्भे पर्यवसति, तथा दोषा(ऽभावो) भावान्तरे पर्यवसायी वाच्यः इत्याशय इति" मु० टि० । ५ "अयमाशयः—नहि गुणेभ्यः प्रामाण्यमुपजायते, किं तर्हि? दोषाभावः, तेन हि अप्रामाण्यद्वयाभावेन प्रामाण्यं स्वत एवोपजायते, विरोध्यपगमे स्वतस्त्वे सत्त्वात् बाधका-भावादिति" मु० टि० । ६ स्वकार्यप्र-मु० । ७ पृ० ४ पं० १६ ।

तस्माज्ज्ञानव्यतिरेकेण बुद्धेर्व्यापारस्याभावात् तत्र च ज्ञातानां स्वगुणेषु कारणेष्वपेक्षावचनात् कुतः स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिरिति किं नष्टं ज्ञानस्य कार्यं यत्र लब्धात्मनः प्रवृत्तिः स्वयमेवेत्युच्यते ? स्वार्थपरिच्छेदश्चेत्, न, ज्ञानपर्यायत्वात् तस्याज्ज्ञानमेव करोतीत्युक्तं स्यात्, तथाप्युक्तम् । 'प्रमाणमेतद्' इत्यनन्तरं निश्चयश्चेत्, न, भ्रान्तिकारणसद्भावेन क्वचिदनिश्चयात् विपर्ययदर्शनाच्च । तस्माज्ज्ञप्त्यपेक्षया गुणवच्चक्षुरादिकारणप्रभवं प्रामाण्यं परतःसिद्धमिति 'अथ चक्षुरादिज्ञानकारणे-' ,५ इत्याद्युक्ततया स्थितम् ।

अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायास्तु बुद्धेः स्वतःप्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमो न युक्तः, अपौरुषेयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणतद्ग्राहकप्रमाणाविषयत्वेनासत्त्वात्, सत्त्वेऽपि भवन्नीत्या तस्यैव गुणत्वात् तथाभूतप्रेरणाप्रभवाया बुद्धेः कथं न परतःप्रामाण्यम् ? किञ्च, अपौरुषेयत्वे प्रेरणावचसो गुणवत्पुरुषप्रणीतलौकिकवाक्येषु तत्त्वेन निश्चितं प्रामाण्यं गुणाश्रयपुरुषप्रणीतत्वव्यावृत्त्या १० तत् तत्र न स्यात् । तथा च—

"प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाऽऽप्तोक्ताऽक्षबुद्धिवत्" ॥ [श्लो० वा० सू० २,१८४] इति ।

इत्ययं श्लोक एवं पठितव्यः—

प्रेरणाजनिता बुद्धिरप्रमा गुणवर्जितैः । १५
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाऽऽप्तोक्तबुद्धिवत् ॥

अथ प्रेरणावाक्यस्यापौरुषेयत्वे पुरुषप्रणीतत्वाश्रया यथा गुणा व्यावृत्तास्तथा तदाश्रिता दोषा अपि, ततश्च तद्व्यावृत्तावप्रामाण्यस्यापि प्रेरणाया व्यावृत्तत्वात् स्वतः सिद्धमुत्पत्तौ प्रामाण्यम् । नन्वेवं सति गुण-दोषाश्रयपुरुषप्रणीत(त्व)व्यावृत्तौ प्रेरणायां प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोर्व्यावृत्तत्वात् प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रामाण्याऽप्रामाण्यरहिता प्राप्नोति । ततश्च— २०

प्रेरणाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणं न चाप्रमा ।
गुण-दोषविनिर्मुक्तकारणेभ्यः समुद्भवात् ॥

इत्येवमपि प्रकृतः श्लोकः पठितव्यः । अत एव यथा—

"दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु चिन्त्यते ।
वेदे कर्तुरभावात्तु दोषाशङ्कैव नास्ति नः" ॥ [ ] २५

इत्ययं श्लोक एवं पठितस्तथैवमपि पठनीयः—

गुणाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु चिन्त्यते ।
वेदे कर्तुरभावात्तु गुणाशङ्कैव नास्ति नः ॥

न च यद्यपि गुणाः प्रामाण्यहेतुत्वेनाऽऽशङ्क्यन्ते तथापि गुणेभ्यो दोषाभाव इत्यादि वक्तव्यम्, विहितोत्तरत्वात् । अपि च, अपौरुषेयत्वेऽपि प्रेरणाया न स्वतः स्वविषयप्रतीतिजनकव्या- ३० पारः—सदा सन्निहितत्वेन ततोऽनवरतप्रतीतिप्रसङ्गात्—किंतु पुरुषाभिव्यक्तार्थप्रतिपादकसमयाविर्भूतविशिष्टसंस्कारसव्यपेक्षायाः । ते च पुरुषाः सर्वे रागादिदोषाभिभूता एव भवताऽभ्युपगताः, तत्कृतश्च संस्कारो न यथार्थः—अन्यथा पौरुषेयमपि वचो यथार्थं स्यात्—अतोऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमेऽपि समयकर्तृपुरुषदोषकृताप्रामाण्यसद्भावात् प्रेरणायामपौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्— ३५

"असंस्कार्यतया पुम्भिः सर्वथा स्यान्निरर्थता ।
संस्कारोपगमे व्यक्तं गजस्नानमिदं भवेत्" ॥ [ ]

यदप्यभाणि 'तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्ष'—इत्यादि, तदप्यचारु, अविनाभावनिश्चयस्यैव गुणत्वात्, तदनिश्चयस्य विपरीतनिश्चयस्य च दोषत्वात् । तदेवम् उत्पत्तौ प्रामाण्यं गुणापेक्षत्वात् परतः इति स्थितम् ॥ ४०

---

१ पृ० ४ पं० १९ । २ श्लोकवार्तिकगतद्वितीयसूत्रसंबन्धिना १८४ श्लोकेन समोऽस्य भावः । ३ पृ० १० पं० १७ । ४ पृ० ४ पं० २१ ।

[उत्तरपक्षः-(२) कार्ये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरसनम्]

यदप्युक्तम् 'नापि स्वकार्ये प्रवर्तमानं प्रमाणं निमित्तान्तरापेक्षम्' इति, तदप्यसंगतम्; यतो यदि कार्योत्पादनसामग्रीव्यतिरिक्तनिमित्तानपेक्षं प्रमाणमित्युच्यते तदा सिद्धसाधनम् । अथ सामग्र्येकदेशलक्षणं(ण)प्रमाणं(ण)निमित्तान्तरानपेक्षम्, तदप्यचारु; एकस्य जनकत्वासंभवात्— "न ह्येकं किंचिज्जनकम्, सामग्री वै जनिका" [ ] इति न्यायस्यान्यत्र व्यवस्थापितत्वात् । किंच, नार्थपरिच्छेदमात्रं प्रमाणकार्यम्, अप्रमाणेऽपि तस्य भावात् । किं तर्हि? अर्थतथात्वपरिच्छेदः, स चै न ज्ञानस्वरूपकार्यः; भ्रान्तज्ञानेऽपि स्वरूपस्य भावात् तत्रापि सम्यगर्थपरिच्छेदः स्यात् । अथ स्वरूपविशेषकार्यो यथावस्थितार्थपरिच्छेदः इति नातिप्रसङ्गस्तर्हि स स्वरूपविशेषो वक्तव्यः— किमपूर्वार्थविज्ञानत्वम्, उत निश्चितत्वम्, आहोस्विद् बाधारहितत्वम्, उतस्विद् अदुष्टकारणारब्धत्वम्, किं वा संवादित्वम् इति ? तत्र यद्यपूर्वार्थविज्ञानत्वं विशेषः, स न युक्तः; तैमिरिकज्ञानेऽपि तस्य भावात् । अथ निश्चितत्वम्, सोऽप्ययुक्तः; परोक्षज्ञानवादिनो भवतोऽभिप्रायेणासंभवात् । अथ बाधारहितत्वं विशेषः, सोऽपि न युक्तः; यतो बाधाविरहस्तत्कालभावी विशेषः, उत्तरकालभावी वा ? न तावत् तत्कालभावी, मिथ्याज्ञानेऽपि तत्कालभाविनो बाधाविरहस्य भावात् । अथोत्तरकालभावी, तत्रापि वक्तव्यम्—किं ज्ञातः स विशेषः, उत अज्ञातः ? तत्र न अज्ञातः, अज्ञातस्य सत्त्वेनाप्यसिद्धत्वात् । अथ ज्ञातोऽसौ विशेषः, तत्रापि वक्तव्यम्—उत्तरकालभावी बाधाविरहः किं पूर्वज्ञानेन ज्ञायते, आहोस्विदुत्तरकालभाविना ? तत्र न तावत् पूर्वज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातुं शक्यः, तद्धि स्वसमानकालं संनिहितं नीलादिकमवभासयतु, न पुनः 'उत्तरकालमप्यत्र बाधकप्रत्ययो न प्रवर्त्तिष्यते' इत्यवगमयितुं शक्नोति; पूर्वमनुत्पन्नबाधकानामप्युत्तरकालबाध्यत्वदर्शनात् । अथोत्तरज्ञानेन ज्ञायते, ज्ञायताम्, किंतूत्तरकालभावी बाधाविरहः कथं पूर्वज्ञानस्य विनष्टस्य विशेषो भिन्नकालस्य विनष्टं प्रति विशेषत्वायोगात् ? किंच, ज्ञायमानत्वेऽपि केशोण्डुकादेरसत्यत्वदर्शनाद् बाधाऽभावस्य ज्ञायमानत्वेऽपि कथं सत्यत्वम् ? तज्ज्ञानस्य सत्यत्वादिति चेत्, तस्य कुतः सत्यत्वम् ? न प्रमेयसत्यत्वात्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । अपरबाधाऽभावज्ञानादिति चेत्, तत्राप्यपरबाधाऽभावज्ञानादित्यनवस्था । अथ संवादादुत्तरकालभावी बाधाविरहः सत्यत्वेन ज्ञायते तर्हि संवादस्याप्यपरसंवादज्ञानात् सत्यत्वसिद्धिः, तस्याप्यपरसंवादज्ञानादित्यनवस्था । किंच, यदि संवादप्रत्ययादुत्तरकालभावी बाधाऽभावो ज्ञायमानो विशेषः पूर्वज्ञानस्याभ्युपगम्यते तर्हि ज्ञायमानस्वविशेषापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तत इति कथमनपेक्षत्वात् तत्र स्वतःप्रामाण्यम् ? अपि च बाधाविरहस्य भवदभ्युपगमेन पर्युदासवृत्त्या संवादरूपत्वम्, 'बाधावर्जितं च ज्ञानं स्वकार्येऽन्यानपेक्षं प्रवर्त्तते' इति ब्रुवता संवादापेक्षं तत् तत्र प्रवर्त्तत इत्युक्तं भवति । किंच, किं विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यते, आहोस्वित् प्रमेयम्, उतार्थक्रिया इति विकल्पत्रयम् । तत्र यदि विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यत इति पक्षः, स न युक्तः; विकल्पद्वयानतिवृत्तेः । तथाहि—विज्ञानं बाध्यमानं किं स्वसत्ताकाले बाध्यते, उत उत्तरकालम् ? तत्र यदि स्वसत्ताकाले बाध्यत इति पक्षः, स न युक्तः; तदा विज्ञानस्य परिस्फुटरूपेण प्रतिभासनात् । न च विज्ञानस्य परिस्फुटप्रतिभासिनोऽभावस्तदैवेति वक्तुं शक्यम्, सत्याभिमतविज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गात् । अथोत्तरकालं बाध्यत इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; उत्तरकालं तस्य स्वत एव नाशाभ्युपगमात् न तत्र बाधकव्यापारः सफलः—"दैवरक्ता हि किंशुकाः" । अथ प्रमेयं बाध्यते इत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः, यतः प्रमेयं बाध्यमानं किं प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते, उताप्रतिभासमानरूपसहचारिणा स्पर्शादिलक्षणेन इति विकल्पनाद्वयम् । तत्र यदि प्रतिभासमानेन

---

१ पृ० ४ पं० २५ । २ स च ज्ञानस्वरूप—भां०, डां०, हा०, मां० । ३ ग्रन्थाग्रम् ४०० श्लो० । ४ "वेदैकदेशविधिनो यद् ज्ञानमुपजायते । अतः परोक्षं तत् सर्वं प्रमाणं दोषवर्जितम् ॥ पौरुषेयत्वात्, अतोऽन्यत् विभिन्नात्मकं भवेदित्याशयः" गु० टि० । ५ "रचनव्यावृतिं मा त्वं कुरु रजक ! रजने । यतः सन्ति सुषमा दैवरक्ता हि किंशुकाः ॥ इत्यादि इदं रजकं प्रति विरहिणीवाक्यम्" गु० टि० । ६ पृ० १२ पं० २ लिखित 'अथ अप्रतिभासमानेन रूपेण' इत्युल्लेखम्, केवलं 'पा०' प्रतौ च 'उत प्रतिभासमानरूपसहचारिणा' इति लभ्यमानं पाठं दृष्ट्वैव ज्ञायतेऽस्माभिर्यदत्र 'अप्रतिभासमानेन प्रतिभासमानरूपसहचारिणा' इति पाठो भवेत्—स एव च पाठोऽत्र स्वीकृतः ।

प्रतिभासमानस्य स्वरूपान्तरत्वासंभवात्, अन्यथा स्वरूपग्रहणाभावमासिनोऽप्य-
दिस्, तदयुक्तम्। प्रतिभासमानस्य रूपेण बाध्यत इति मतम्, तदप्ययुक्तम्। अप्रतिभासमानस्य
तत्त्वप्रसङ्गः। अथाप्रतिभासमानेन रूपेण, न चान्यस्याभावेऽन्यस्याभावः, अतिप्रसङ्गात्। अथार्थक्रिया
रूपस्य प्रतिभासमानरूपादन्यत्वात्, उतानुत्पन्ना? यद्युत्पन्ना, न तर्हि बाध्यते, तस्याः
बाध्यते, ननु साऽपि किमुत्पन्ना बाध्यते, उतानुत्पन्ना? यद्युत्पन्ना, न तर्हि बाध्यते, तस्याः
सत्त्वात्। अथानुत्पन्ना, साऽपि न बाध्या, अनुत्पन्नत्वादेव। किंच, अर्थक्रियाऽपि यद्यर्थादन्या, ५
तत्र तस्या अभावे कथमन्यस्यासत्त्वमतिप्रसङ्गादेव? स्वरूपविच्छेदासंभवे च 'बाधावर्जितम्' इति
विशेषणस्यानुपपन्नत्वाच्च बाधाविरहोऽपि विज्ञानस्य विशेषः। अथादुष्टकारणारब्धत्वं विशेषः,
सोऽपि न युक्तः, तस्याज्ञातस्य विशेषत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वे वा कुतोऽदुष्टकारणारब्धत्वं
ज्ञायते? अन्यस्माददुष्टकारणारब्धाद् विज्ञानादिति चेत्, अनवस्था। संवादादिति चेत्, ननु संवाद-
प्रत्ययस्याप्यदुष्टकारणारब्धत्वं विशेषोऽन्यस्माददुष्टकारणारब्धात् संवादप्रत्ययात् निश्चीयत इति १०
सैवानवस्था भवतः संभवत इति। किंच, ज्ञानसम्बन्धेऽप्यदुष्टकारणारब्धत्वविशेषमपेक्ष्य स्वकार्ये
ज्ञानं प्रवर्तमानं कथं न तत् तत्र परतः प्रवृत्तं भवति? तथा, कारणदोषाभावः पर्युदासवृत्त्या
भवदभिप्रायेण कारणगुणः, ततश्च 'अदुष्टकारणारब्धम्' इति वदता 'गुणवत्कारणारब्धम्' इत्युक्तं
स्यात्। कारणगुणाश्च प्रमाणेन स्वकार्ये प्रवर्तमानेनापेक्ष्यमाणनिश्चायकप्रमाणापेक्षा अपेक्ष्यन्ते,
तदपि प्रमाणं स्वकारणगुणनिश्चयापेक्षं स्वकार्ये प्रवर्तेत इत्यनवस्थादूषणं "जातेऽपि यदि विज्ञाने १५
तावदर्थोऽवधार्यते" इत्यादिना ग्रन्थेन परपक्षे आसञ्जयतानां स्ववधाय कृत्योत्थापनं भवतः प्रस-
क्तम्। अथादुष्टकारणजनितस्य निश्चयमन्तरेणापि ज्ञानं स्वार्थनिश्चये स्वकार्ये प्रवर्तिष्यते, तदसत्,
संवादादिविपरीतस्य प्रमाणस्य स्वार्थनिश्चायकत्वासंभवात्, अन्यथाऽप्रमाणस्यापि स्वार्थनिश्चाय-
कत्वं स्यात्। तथाऽदुष्टकारणारब्धत्वमपि विशेषो भवदीत्या संभवति। अथ संवादित्वं विशेषः,
सोऽभ्युपगम्यत एव, किंतु 'संवादप्रत्ययोत्पत्तिनिश्चयमन्तरेण स न ज्ञातुं शक्यते' इति प्रतिपाद-२०
यिष्यमाणत्वात् तदपेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्तत इति तत् तत्र परतः स्यात्। अत एव निरपेक्ष-
त्वस्य असिद्धत्वात् पूर्वोक्तन्यायेन 'च प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः' इति प्रयोगे नासिद्धो हेतुः।
एतेनैव यदुक्तम्—

"तस्मादपूर्वविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतम्॥" [ ] इति,

'यदा अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्तते तदा चक्रकप्रसङ्गः' तदस[illegible]
तदपि निरस्तम्। यच्चोक्तम् 'यदि संवादापेक्षं प्रमाणम्' इत्येवंनिश्चयलक्षणे स्वकार्ये यथा संव[illegible]
कृतम्। 'यथावस्थितपरिच्छेदस्वभावमेतत् प्रमाणं प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। यदपि 'अथ गृही[illegible]
दापेक्षं प्रमाणं प्रवर्तते न च चक्रकदोषस्तया प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। यदपि 'कारणगुणग्रहणा[illegible]
कारणगुणाः' इत्याद्यभिधानम्, तदपि परसमयानभिज्ञतां भवतः ख्यापयति, 'कारणगुणग्रहणा[illegible]
प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्तते' इति परस्यानभ्युपगमात्। यच्चोक्तम् 'उपजायमानं प्रमाणमर्थपरिच्[illegible]
शक्तियुक्तम्' इति, तत्राविसंवादित्वमेव अर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः—तच्च परतो ज्ञायते—त[illegible]
प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्तते इति तत् तत्र परतः स्थितम्॥

[उत्तरपक्षः—(२) निश्चये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरसनम्]

'नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽन्यापेक्षम्' इत्युक्तं यत्, तदप्यसत्, यतो निश्चयस्तत्र [illegible]
निर्निमित्तः, उत सनिमित्तः इति कल्पनाद्वयम्। तत्र न तावन्निर्निमित्तः, प्रतिनियतदे[illegible]
स्वभावाभावप्रसङ्गात्। सनिमित्तत्वेऽपि किं स्वनिमित्तः, उत स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः, त[illegible]
स्वनिमित्तः, स्वसंविदितप्रमाणानभ्युपगमाद् मीमांसकस्य। अथ स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः, तत्र[illegible]
ध्वन्—तन्निमित्तं किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम् अन्यस्य तन्निश्चायकस्यासम्भवात्? तत्र [illegible]
क्षम्, तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्य तत्र व्यापारायोगात्—सर्वार्थेन्द्रियसंयुक्ते विषये यथाऽपाराद्रुप[illegible]
प्रत्यक्षव्यपदेशं लभते, न चेन्द्रियाणामर्थपरोक्षनाशकत्वेन फलेन, तत्संवेदनस्वरूपे[illegible]

१ 'का०' विना सकलेष्वपि आदर्शेषु 'प्रमाणं स्वकारणगुणनिश्चायकं स्वकारणगुण[illegible] कार्ये' इति पाठः। २ पृ० ५ पं० ५। ३ आसञ्जनानां कां०। ४ कृत्योत्थापनं कां०, [illegible] ५ पृ० ५ पं० ११। ६ पृ० ४ पं० १३। ७ पृ० ४ पं० २८। [illegible]

योगो येन तयोर्यथार्थत्वस्वभावं प्रामाण्यमिन्द्रियव्यापारजनितेन प्रत्यक्षेण निश्चीयते; नापि मनोव्यापारजेन प्रत्यक्षेण, एवंविधस्यानुभवस्याभावात्; नापि तयोरुत्पादकस्य ज्ञातृव्यापाराख्यस्य यथार्थत्वनिश्चायकत्वं प्रामाण्यं बाह्येन्द्रियजन्येन मनोजन्येन वा प्रत्यक्षेण निश्चीयते, तेन सहेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावात्। न चेन्द्रियासम्बद्धे विषये ज्ञानमुपजायमानं प्रत्यक्षव्यपदेशमासादयतीत्युक्तम्। नाप्यनुमानतः प्रामाण्यनिश्चयः, पूर्वोक्तस्य फलद्वयस्य यथावस्थितार्थत्वलक्षणप्रामाण्यनिश्चये लिङ्गाभावात्। ज्ञातृव्यापारस्य तु पूर्वोक्तफलद्वयस्वभावस्वकार्यलिङ्गसम्भवेऽपि न यथार्थनिश्चायकत्वलक्षणप्रामाण्यनिश्चायकत्वम्; यतस्तल्लिङ्गं संवेदनाख्यं यथार्थत्वविशिष्टं तन्निश्चये व्याप्रियेत, निर्विशेषणं वा? प्रथमपक्षे तस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणे प्रमाणं वक्तव्यम्, तच्च न सम्भवतीति प्रतिपादितम्। निर्विशेषणस्य फलस्य प्रामाण्यप्रतिपादकत्वे मिथ्याज्ञानफलमपि प्रामाण्यनिश्चायकं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। तत्रैतत् स्यात् पूर्वोक्तं फलद्वयमर्थसंवेदन-अर्थप्रकटतालक्षणमनुभवान्निश्चीयते, यथा तस्य स्वतः पूर्वोक्तस्वरूपनिश्चयस्तथा यथार्थत्वस्यापि, यथा हि तत् संवेद्यमानं नीलसंवेदनतया संवेद्यते तथा यथार्थत्वविशिष्टस्यैव तस्य संवित्तिः; नहि नीलसंवेदनादन्या यथार्थत्वसंवित्तिः। यद्येवम्, शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि अर्थसंवेदनस्वभावत्वाद् यथार्थत्वप्रसक्तिः। स्मृतिप्रमोषादयस्तु निषेत्स्यन्ते इति नानुमानादपि तत्प्रामाण्यनिश्चयः। किंच, प्रत्यक्षाऽनुमानयोः प्रामाण्यनिश्चयनिमित्तत्वेऽभ्युपगम्यमाने स्वतःप्रामाण्यनिश्चयव्याहतिप्रसङ्गः, तच्चान्यनिमित्तोऽपि प्रामाण्यनिश्चयः। यदुक्तम् 'नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, तद्ध्यपेक्षमाणं किं कारणगुणानपेक्षते' इत्यादि, तदनभ्युपगमोपालम्भमात्रम्। न ह्ययमस्मदभ्युपगमः—यदुत स्वकारणगुणज्ञानात् प्रामाण्यं निश्चीयते, कारणगुणानां संवादप्रत्ययमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात्, संवादप्रत्ययात् तु कारणगुणपरिज्ञानाभ्युपगमे तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्यापि सिद्धत्वाद् व्यर्थं गुणनिश्चयपरिकल्पनम्, प्रामाण्यनिश्चयोत्तरकालं गुणज्ञानस्य भावात् तन्निश्चयस्य प्रामाण्यनिश्चयेऽनुपयोगाच्च। नाप्येकदा संवादाद् गुणान् निश्चित्य अन्यदा संवादमन्तरेणापि गुणनिश्चयादेव तत्प्रभवस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयः इति वक्तुं शक्यम्, अत्यन्तपरोक्षेषु चक्षुरादिषु कालान्तरेऽपि निश्चितप्रामाण्यस्य कार्यदर्शनमन्तरेण गुणानुवृत्तेर्निश्चेतुमशक्यत्वात्। न च क्षणक्षयिषु भावेषु गुणानुवृत्तिरेकरूपैव सम्भवति, अपरापरसहकारिभेदेन भिन्नरूपत्वात्। संवादप्रत्ययादर्थक्रियाज्ञानलक्षणात् प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगम्यत एव—"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [ ] इति प्रमाणलक्षणाभिधानात्। न च संवादित्वलक्षणं प्रामाण्यं स्वत एव ज्ञायत इति शक्यमभिधातुम्, यतः संवादित्वं संवादप्रत्ययजननशक्तिः प्रमाणस्य, न च कार्यदर्शनमन्तरेण कारणशक्तिर्निश्चेतुं शक्या। यदाह—"न ह्यप्रत्यक्षे कार्ये कारणभावगतिः" [ ] इति। तस्मादुत्तरसंवादप्रत्ययात् पूर्वस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते। न च संवादप्रत्ययात् पूर्वस्य प्रामाण्यावगमे संवादप्रत्ययस्याप्यपरसंवादात् प्रामाण्यावगम इत्यनवस्थाप्रसङ्गात् प्रामाण्यावगमाभाव इति वक्तुं युक्तम्, संवादप्रत्ययस्य संवादरूपत्वेनापरसंवादापेक्षाऽभावतोऽनवस्थाऽनवतारात्। न च प्रथमस्यापि संवादापेक्षा मा भूदिति वक्तव्यम्, यतस्तस्य संवादजनकत्वमेव प्रामाण्यम्, तदभावे तस्य तदेव न स्यात्। अर्थक्रियाज्ञानं तु साक्षादविसंवादि, अर्थक्रियारूपत्वात्; तस्य स्वविषयसंवेदनमेव प्रामाण्यम्—तच्च स्वतः सिद्धमिति नान्यापेक्षा। तेन 'कस्यचित्तु यदीष्येत' इत्यादि परस्य प्रलापमात्रम्। न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यर्थानुभूतिसाद्गुण्यापेक्षणादप्रामाण्यापेक्षयाऽनवस्थाऽवतारः इति वक्तव्यम्, अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थक्रियानुभवस्वभावत्वेनार्थक्रियासमार्थिनां 'किमर्थक्रियात एतद् ज्ञानमुत्पन्नम्, उत तद्व्यतिरेकेण' इत्येवंभूतायाश्चिन्ताया निष्प्रयोजनत्वात्। तथाहि—यथा अर्थक्रिया किमवयवव्यतिरिक्तेनावयविनाऽर्थेन निष्पादिता, उताऽव्यतिरिक्तेन, आहोस्विदुभयरूपेण, अनुभयरूपेण, किंवा त्रिगुणात्मकेन, परमाणुसमूहात्मकेन वा, अथ ज्ञानरूपेण, आहोस्वित् संवृतिरूपेण' इत्यादिचिन्ताऽर्थक्रियासमार्थिनां निष्प्रयोजना—[illegible]—'किं वस्तुनस्सामर्थ्यक्रियायां [illegible], आहोस्विदवस्तुनस्तत्' इति, [illegible] तथाऽर्थक्रियाज्ञानस्य [illegible] इति चिन्ताया निष्प्रयोजनत्वम्; अभ्युपेतं [illegible]।

१ पृ० ११ पं० १६। २ पृ० ११ पं० २०। ३ मिथ्याज्ञाने फलमपि भा०, मां०, डा०। ४ भाति संवेदन- मु०, [illegible]। ५ पृ० ५ पं० १९। ६ [illegible] ५००। ७ [illegible]। ८ [illegible] 'अर्थसंवेदन-' इति [illegible]। ९ पृ० ६ पं० २१।

[illegible]

[illegible] वेदयति, न [illegible] संज्ञाने [illegible] । न च [illegible] । [illegible] कुत- ५
[illegible] सर्वं [illegible] [illegible] [illegible] स्वतत्त्वम् [illegible] । यदि [illegible] ! [illegible] सर्वे [illegible] तथा क्रियमाणं [illegible] १०
[illegible] । न [illegible] व्यवहारानां [illegible] प्रमाणतया व्यवहारा- [illegible] निर्णयात् [illegible] द्विनिर्णयात् [illegible] । [illegible] इति [illegible] १५
[illegible]] इति । [illegible] अनवसरत्वात् [illegible] । कि वा परतः' इति [illegible] प्रमाणम्" इति
शानम्" [ ] [illegible] । [illegible] इति [illegible] स्वतः प्रमाणम्, [illegible] । [illegible] इति वीतरागा [illegible] २०
[illegible] तथा वीतरागता [illegible] । [illegible] इति । यथा [illegible] । न [illegible] । [illegible] निर्णीयते [illegible] साधनज्ञानस्य [illegible] स्वत एव सिद्धत्वात् । [illegible] प्रामाण्यं [illegible] २५
[illegible]] इति । न च [illegible]] इति, तथा "प्रामाण्यं [illegible]
[illegible]] इति च । तस्मात् [illegible] प्रमाणफल [illegible] प्रवृत्ति [illegible] ।
[illegible] 'अनिश्चितप्रामाण्य [illegible] साधनज्ञानात् प्रवृत्ति [illegible] स्यात् [illegible] । अन्यथा [illegible] इति [illegible] प्रामाण्यम्' इति [illegible]
[illegible] इति । [illegible] तु [illegible] प्रामाण्यं निर्णीयते तदा—

---

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] । १० [illegible] । ११ [illegible] । १२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ [illegible]

श्रोत्रधीरप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गतेः" [श्लो० सू० २, श्लो० ७७] इति,

तदप्ययुक्तम्। गीतादिविषयायाः श्रोत्रबुद्धेरर्थक्रियानुभवरूपत्वेन स्वत एव प्रामाण्यसिद्धेः।
तथा चित्रगतरूपबुद्धेरपि स्वत एव प्रामाण्यसिद्धिः, अर्थक्रियाऽनुभवरूपत्वात्। गन्ध-स्पर्श-
रसबुद्धीनां त्वर्थक्रियानुभवरूपत्वं सुप्रसिद्धमेव। यदप्युक्तम् 'किमेकविषयम्, भिन्नविषयं वा
५ संवादज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायकम्' इत्यादि, 'तत्रैकसङ्घातवर्त्तिनो विषयद्वयस्य रूप-स्पर्शादि-
लक्षणस्यैकसामग्र्यधीनतया परस्परमव्यभिचारात् स्पर्शादिज्ञानं आप्रदयन्यायामभित्राभिव्यक्तेः
स्पर्शादिव्यतिरेकेण असंभवद् भिन्नविषयमपि स्वविषयाभावेऽप्यादाङ्क्यमानरूपज्ञानस्य प्रामाण्यं
निश्चाययतीति न तत्संगत एवम् (गतमेव)। अत एव रूपाद्यर्थाविनाभावित्वाद् ध्वनीनां तद्विवेक-
शङ्कायां क्वचिद् वीणादिरूपप्रतिपत्तौ तद्विदोषशङ्काव्यावृत्तेस्तद्रूपदर्शनसंवादादपि प्रामाण्यनिश्चयः
१० सिद्धो भवति। यच्चोक्तम् 'किं संवादज्ञानं साधनज्ञानविषयं तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, उत
भिन्नविषयम्' इत्यादि, तदप्यविदितपराभिप्रायस्याभिधानम्; न हि संवादज्ञानं तद्ग्राहकत्वेन तस्य
प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, किन्तु तत्कार्यविशेषत्वेन; यथा धूमोऽग्निम् इति परोभ्युपगमः। यच्च
संवादज्ञानात् साधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चये चक्रकदूषणमभ्यधायि", तदप्यसङ्गतम्; यदि हि प्रथम-
मेव संवादज्ञानात् साधनज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तेत तदा स्यात् तद् दूषणम्, यदा तु
१५ दर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्देशमुपसर्पंस्तत्स्पर्शमनुभवति, कृपालुना वा केनचित् तद्देशं
वह्नेरानयने; तदाऽसौ वह्निरूपदर्शन-स्पर्शनज्ञानयोः संबन्धमवगच्छति—'एवंस्वरूपो भावः एवंभूत-
तत्प्रयोजननिर्वर्त्तकः' इति—सोऽवगतसंबन्धोऽन्यदाऽनभ्यासदशायामनुमानात् 'ममायं रूपप्रति-
भासोऽभिमतार्थक्रियासाधनः, एवंरूपप्रतिभासत्वात्, पूर्वोत्पन्नैवंरूपप्रतिभासवत्' इत्यस्मात्
साधननिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तेत इति कुतश्चक्रकचोद्यावतारः? "अभ्यासदशायामपि
२० साधनज्ञानस्यानुमानात् प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते" इत्येके। न च तद्दशायामन्वय-व्यतिरेक-
व्यापारस्यासंवेदनान्नानुमानव्यापार इत्यभिधातुं शक्यम्, अनुपलक्ष्यमाणस्यापि तद्व्यापारस्यानुमा-
गमनीयत्वात् अकस्माद् धूमदर्शनात् परोक्षाग्निप्रतिपत्ताविव; अन्यथा गृहीतविस्मृतप्रतिबन्धस्यापि
तद्दर्शनादकस्मात् तत्प्रतिपत्तिः स्यात्। न चाध्यक्षैव साधनज्ञानस्य फलसाधनशक्तिरिति कथ-
मध्यक्षेऽनुमानप्रवृत्तिः इति चोद्यम्, दृश्यमानप्रदेशापरोक्षाग्निसङ्गतेरिव तज्जननशक्तेरप्यक्षतेः
२५ अनुमानप्रवृत्तिमन्तरेण निश्चेतुमशक्यत्वात्। तदुक्तम्—

"तद्दृष्टावेवं दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः।
स्मरणादभिलापेण व्यवहारः प्रवर्त्तते" [ ] इति।

अपरे तु मन्यन्ते "अभ्यासावस्थायामनुमानमन्तरेणापि प्रवृत्तिः सम्भवति"। अथ अनुमाने सति
प्रवृत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टा इत्यनुमानकार्या सा; नन्वेवं सत्यभ्यासदशायां विकल्पस्वरूपानुमान-
३० व्यतिरेकेणापि प्रत्यक्षात् प्रवृत्तिर्दृश्यते इति तदा तत्कार्या सा कस्मान्न भवति? तथाहि-प्रतिभा-
दोद्धारं न विकल्परूपानुमानव्यापारः संवेद्यते, अथ च प्रतिभासमाने वस्तुनि प्रवृत्तिः सम्भवति
इति। अथादावनुमानात् प्रवृत्तिर्दृष्टेति तदन्तरेण सा पश्चात् कथं भवति? नन्वेवमादौ पर्यालो-
चनाद् व्यवहारो दृष्टः, पश्चात् पर्यालोचनमन्तरेण कथं पुरःस्थितवस्तुदर्शनमात्राद् भवति इति
वाच्यम्? यदि पुनरनुमानव्यतिरेकेण सर्वदा प्रवृत्तिर्न भवतीति प्रवर्त्तकमनुमानमेवेत्यभ्युपगमः,
३५ तथा सति प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाभावात् तत्राप्यनुमानमेव तन्निश्चयव्यवहारकारणम्, ...
निश्चयव्यतिरेकेण नोदयमासादयतीत्यनवस्थाप्रसङ्गतोऽनुमानस्यैवाप्रवृत्तेर्न क्वचित् ...

१ 'वा०' विना सर्वत्र 'अपि'। २ पृ० ७ पं० ८। ३ -दाङ्क्यमानस्य रूप-भां०, वां०। ४ ...
७ पं० १८। ५ साधनविषयं तस्य मु०। ६ साधनप्रामाण्य—मु०। ७ पृ० ५ पं० २५। ...
ज्ञापकस्य प्रामाण्यं—मु०। ९ अत्र 'स्पर्शमनुभवति' इति पूर्वोक्तमन्वेयम्। १० साधनस्य फल—मु०।
११ तद् दृष्टा वे (वे) व वा०। १२ मन्यामम्—श्लो० ६००।

व्यवहार इत्यनभ्यासदशायां प्रत्यक्षं स्वत एव व्यवहारपदम् अभ्युपेयम्। अनुमानं तु नाप्राम्य- [illegible] -प्रतिबन्धलिङ्गनिश्चयबलेन स्वसाध्याद्युपजायमानत्वादेव तत्प्रामाण्यनिश्चितं संवादनत्व- [illegible] स्वत एव। तथाहि—यद् यत उपजायते तद् बोधयत् प्रागेव प्रमाणाभासविवेकेन निश्चीयतेऽतः स्वत एव। [illegible] अनुमेयाद्युत्पन्नं चेदं प्रतिबद्धलिङ्गदर्शनद्वारायातं ५ [illegible] तथा-प्रत्यक्षं स्वार्थस्य, अनुमेयाद्युत्पन्नं चेदं प्रतिबद्धलिङ्गदर्शनेन निश्चितो व्यवहारोऽत्र [illegible] निश्चीयत इति। मूढं प्रति विषयदर्शनेन [illegible] [illegible] तत्प्रामाण्यनिश्चितं निश्चीयत इति। तथाहि—प्रत्यक्षेऽप्यर्थाव्यभिचारनिबन्धन एव [illegible] समये प्रदर्शनात्। तथाहि—प्रत्यक्षेऽप्यर्थाव्यभिचारनिबन्धन [illegible] ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चय- [illegible] अन्यनिबन्धस्य नान्यत्वमुपपत्तेः, सैव च ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्च- १०
[illegible] प्रामाण्यव्यवहारः प्रतिनियतः, [illegible]
[illegible]। तदुक्तम्—

"अर्थस्यासम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ [ ] इति।

तस्मात् मूढं प्रति परतःप्रामाण्यव्यवहारः साध्यते। अनुमाने प्रामाण्यस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चय- [illegible] [illegible] उत्तरकालेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात् न परतःप्रामाण्यनिश्चये [illegible] इति संवादापेक्षा- [illegible] । प्रत्यक्षे तु संवादात् प्रामाण्योत्पत्तिः [illegible] अत्र उत्तरत्र, [illegible] १५ [illegible] इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः । [illegible] सन्देह-विपर्ययविषयत्वात्' इति प्रयोगे न [illegible] ये देशादौ प्रत्यक्षेऽपि [illegible] सन्देह-विपर्ययाभावासिद्धो हेतुः [illegible] [illegible] प्रामाण्यं प्रति सन्देह-विपर्ययाभावासिद्धिप्रसङ्ग [illegible] [illegible] 'सर्वप्रमाणभूतां [illegible]' इति [illegible] [illegible] न ज्ञानमात्रात् [illegible] इति [illegible] [illegible] विसंवाददर्शनाज्ञानात् [illegible] [illegible] प्रामाण्यनिश्चयः [illegible] विपर्यय- [illegible] हेतोः परतःप्रामाण्यसिद्धिः। [illegible] निर्णयकत्वात् [illegible] हेतोः [illegible]
न सन्देहः। तथा [illegible] ज्ञाने प्रयोगे [illegible] हेतुरिति [illegible]
[illegible]

यदपि 'प्रमाण-तदाभासयोस्तुल्यं रूपम्' इत्याद्युक्तम् [illegible] यतो कार्य-कारण [illegible]
[illegible]

[illegible]

निश्चयनिमित्तत्वासम्भवात्, न ह्यन्यकाला अनुपलब्धिरन्यकालमभावनिश्चयं विदधाति अतिप्रस- ङ्गात् । नापि प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनी बाधकानुपलब्धिस्तन्निश्चयनिमित्तम्, प्राक् प्रवृत्तेः 'उत्तरकालं बाधकोपलब्धिर्न भविष्यति' इति अर्वाग्दर्शिना निश्चेतुमशक्यत्वेन तस्या असिद्धत्वात् । नापि प्रवृत्त्युत्तरकालभाविन्यनुपलब्धिस्तदैव निश्चीयमाना तत्कालभाविबाधकाभावनिश्चयस्य निमित्तं ५ भविष्यतीति वक्तुं शक्यम्, तत्कालभाविनो निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वप्रतिपादनात् । किंच, बाधकानु- पलब्धिः सर्वसम्बन्धिनी किं तन्निश्चयहेतुः, उताऽऽत्मसम्बन्धिनी इति पुनरपि पक्षद्वयम् । यदि सर्वसम्बन्धिनीति पक्षः, स न युक्तः; तस्या असिद्धत्वात्–न हि 'सर्वे प्रमातारो बाधकं नोपलभन्ते' इति अर्वाग्दर्शिना निश्चेतुं शक्यम् । अथात्मसम्बन्धिनीत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः; आत्मसम्ब- न्धिन्या अनुपलब्धेः परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् । तन्न बाधाऽभावनिश्चयेऽनुपलब्धिर्नि- १० मित्तम् । नाऽपि संवादो निमित्तम्, भवदभ्युपगमेनानवस्थाप्रसङ्गस्य प्रतिपादितत्वात् । न च बाधाऽभावो विशेषः सम्यक्प्रत्ययस्य सम्भवति इति प्रागेव प्रतिपादितम् । कारणदोषाभावेऽप्यय- मेव न्यायो वक्तव्य इति नासावपि तस्य विशेषः । किंच, कारणदोष-बाधकाभावयोर्भवदभ्युपगमेन कारणगुण-संवादकप्रत्ययरूपत्वस्य प्रतिपादनात् तन्निश्चये तस्य विशेषेऽभ्युपगम्यमाने परतः प्रामा- ण्यनिश्चयोऽभ्युपगत एव स्यात्, न च सोऽपि युक्तः; अनवस्थादोषस्य भवदभिप्रायेण प्राक् प्रति- १५ पादितत्वात् । यदप्युक्तम् 'एवं त्रिचतुरज्ञान'–इत्यादि, तत्रैकस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यम्, पुनरप्रामा- ण्यम्, पुनः प्रामाण्यम् इत्यवस्थात्रयदर्शनाद् बाधके, तद्बाधकादौ वाऽवस्थात्रयमाशङ्कमानस्य कथं परीक्षकस्य नापराऽपेक्षा येनानवस्था न स्यात् ? यदप्युक्तम् 'अपेक्षातः' इत्यादि, तदप्य- सङ्गतम्, यतो नायं छलव्यवहारः प्रस्तुतो येन कतिपयप्रत्ययमात्रं निरूप्यते । न हि प्रमाणमन्तरेण बाधकाद्यभावनिवृत्तिः, न चाद्यज्ञानव्यतिरेकं प्रमाणं भवदभिप्रायेण सम्भवतीत्युक्तम् । तथा कारण- २० दोषज्ञानेऽपि पूर्वेण आशङ्कमानस्य कारणदोषज्ञानान्तरापेक्षायां कथमनवस्थानिवृत्तिः ? कारणदो- षज्ञानस्य तत्कारणदोषग्राहकज्ञानाभावमात्रतः प्रमाणत्वाद् नात्रानवस्था । यदाह–

"यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैव मृग्यते ।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ५२] इति,

एतच्चानुद्घोष्यम्, प्रागेव विहितोत्तरत्वात् । न च दोषाज्ञानाद् दोषाभावः, सत्स्वपि दोषेषु २५ तदज्ञानस्य सम्भवात् । सम्यग्ज्ञानोत्पादकसामग्रीविपरीतत्वेन मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्यं हि कर्म निमि- त्तादिभिन्नमिन्द्रियदोषाः, ते चातीन्द्रियत्वात् तत्रापि नोपलक्ष्यन्ते । न च दोषा ज्ञानेन व्याप्ताः येन तदभावे तन्निवृत्त्या निवर्तेरन् । दोषाभावज्ञाने तु संवादाद्यपेक्षायां सैवानवस्था प्राक् प्रतिपादिता । एतेनैतदपि निराकृतं यदुक्तं भट्टेन–

"तस्मात् स्वतः प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम् ।
३० बाध-कारणदुष्टत्वज्ञानाभ्यां तदपोद्यते ॥ [ ]
पराधीनेऽपि चैतस्मिन्नानवस्था प्रसज्यते ।
प्रमाणाधीनमेतद्धि स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम् ॥ [ ]
प्रमार्थं हि प्रमाणेन यथा मानेन साध्यते ।
न मिथ्यात्वप्रमाणाद्यप्रमाणात् तदेव हि" ॥ [ ] इति ।

३५ यच्चान्यदुक्तम् "यद्यन्योऽन्याश्रयत्वनिमित्तको बाधकप्रत्ययस्याप्यबाधकत्वं भवति प्रामाण्याभिमान- [illegible] प्रामाण्यं ज्ञानं कल्प्यते", सोऽप्यसङ्गतः; यतः–

---

१ [illegible] २ पृ० ११ पं० २० । ३ पृ० ११ पं० ७ । ४ पृ० १२ पं० २८ [illegible] पं० ११ । ५ [illegible] । ६ पृ० ८ पं० ६ । ७ [illegible] । ८ पृ० ७ पं० ११ । [illegible] १० [illegible] । ११ [illegible] प्रमाणता– [illegible]

बाधकप्रत्ययस्तावदर्थान्यत्वावधारणम्।
सोऽनपेक्षप्रमाणत्वात् पूर्वज्ञानमपोहते॥ [　　　]
तत्रापि त्वपवादस्य स्यादपेक्षा क्वचित् पुनः।
जाताशङ्कस्य पूर्वेण साऽप्यल्पेन निवर्तते॥ [　　　]
बाधकान्तरमुत्पन्नं यद्यस्यान्विच्छतोऽपरम्।　　५
ततो मध्यमबाधेन पूर्वस्यैव प्रमाणता॥ [　　　]
अथान्यदप्रयत्नेन सम्यगन्वेषणे कृते।
मूलाभावान्न विज्ञानं भवेद् बाधकबाधनम्॥ [　　　]
ततो निरपवादत्वात् तेनैवाद्यं बलीयसा।
बाध्यते तेन तस्यैव प्रमाणत्वमपोह्यते॥ [　　　]　　१०
एवं परीक्षकज्ञानत्रितयं नातिवर्तते।
ततश्चाजातबाधेन नाशङ्क्यं बाधकं पुनः॥ [　　　] इति। तदाह—अनेनं

सर्वेणापि ग्रन्थेन स्वतःप्रामाण्यव्याहतिः परिहृता, परीक्षकज्ञानत्रितयाधिकज्ञानानपेक्षणादनवस्था च" एतद् द्वितयमपि परपक्षे प्रदर्शितं प्राक्तनन्यायेन। यथान्यत् पूर्वपक्षे परतःप्रामाण्ये दूषणमभिहितं तद्वानभ्युपगमेन निरस्तमिति न प्रतिपदमुच्चार्य दूष्यते।　　१५

[प्रेरणाबुद्धेः प्रामाण्याभावः]

प्रेरणाबुद्धेस्तु प्रामाण्यं न साधननिर्भासिप्रत्यक्षस्येव संवादात्, तस्य तत्राभावात्। नाप्यव्यभिचारिलिङ्गनिश्चयबलात् प्रत्यक्षादुपजायमानत्वादनुमानस्येव। किंच, प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं स्वतःप्रामाण्यप्रसाधनप्रयासोऽयं भवताम्, चोदनाप्रभवस्य च ज्ञानस्य न केवलं प्रामाण्यं न सिध्यति, किंत्वप्रामाण्यनिश्चयोऽपि तत्र न्यायेन सम्पद्यते। तथाहि—२० यद् दुष्टकारणजनितं ज्ञानं न तत् प्रमाणम्, यथा तिमिराद्युपद्रवोपहतचक्षुरादिप्रभवं ज्ञानम्, दोषवत्प्रेरणावाक्यजनितं च 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिवाक्यप्रभवं ज्ञानमिति कारणविरुद्धोपलब्धिः। न चासिद्धो हेतुः, भवदभिप्रायेण प्रेरणायां गुणवतो वक्तुरभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वस्य प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने सिद्धत्वात्। अथ स्यादयं दोषो यदि वक्तृगुणैरेव प्रामाण्यापवादकदोषाणां निराकरणमभ्युपगम्यते, यावता वक्त्रभावेनापि निराश्रयाणां दोषाणामसद्भावोऽभ्युपगम्यत २५ एव। तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित् तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्त्रभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः"॥ [श्लो०वा०सू०२,६२-६३ श्लो०] इति। ३०

भवेदेवमेव, यद्यपौरुषेयत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धं स्यात्, तच्च न सिद्धम्, तत्साधकप्रमाणस्य निषेत्स्यमानत्वात्। अत एव चैतदप्ययुक्तम्—

"तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति"॥ [श्लो० वा० सू० २, ६८ श्लो०]।

तेन गुणवतो वक्तुरनभ्युपगमात् भवद्भिः अपौरुषेयत्वस्य चासम्भवात् अनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वं ३५ हेतुः प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः सिद्धः। दोषजन्यत्व-अप्रामाण्ययोरविनाभावस्तावत् तिमिराद्युपहतचक्षुरादिजन्य निश्चितत्वात् अग्निहोत्र-अर्थवाक्यजनितस्याप्येवम् इति भवतो हेतोः प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने प्रामाण्याभावसिद्धिः।

---

१ बाधवादस्य पु०। [illegible] २ [illegible] ४ [illegible]
५ [illegible] मु० टि०। [illegible]

[ज्ञातृव्यापारस्यैवासिद्धिः]

किंच, प्रमाणे सिद्धे सति 'किं तत्प्रामाण्यं स्वतः, परतो वा' इति चिन्ता युक्तिमती, भवद्भ्युपगमेन तु तदेव न सम्भवति । तथाहि—ज्ञातृव्यापारः प्रमाणं भवताऽभ्युपगम्यते, न चासौ युक्तः तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाहि—प्रत्यक्षं वा तद्ग्राहकम्, अनुमानम्, अन्यद्वा प्रमाणान्तरम् ? तत्र यदि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकमभ्युपगम्येत तदाऽपि वक्तव्यम्—स्वसंवेदनम्, बाह्येन्द्रियजम्, मनःप्रभवं वा ? न तावत् स्वसंवेदनं तद्ग्राहकम्, भवता तद्ग्राहकत्वानभ्युपगमात् तस्य । नापि बाह्येन्द्रियजम्, इन्द्रियाणां स्वसंबद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात्, न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां संबन्धः, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् । नापि मनोजन्यं प्रत्यक्षं ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणग्राहकम्, तथाप्रतीत्यभावात् अनभ्युपगमाच्च । अथानुमानं तद्ग्राहकमभ्युपगम्यते, तदप्ययुक्तम्, यतोऽनुमानमपि "ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" इत्येवंलक्षणमभ्युपगम्यते । संबन्धश्चान्यसंबन्धव्युदासेन नियमलक्षणोऽभ्युपगम्यते । यत उक्तम्- "संबन्धो हि न तादात्म्यलक्षणो गम्यगमकभावनिबन्धनम् । ययोर्हि तादात्म्यं न तयोर्गम्यगमकभावः, तस्य भेदनिबन्धनत्वात् । अभेदे वा साधनप्रतिपत्तिकाल एव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वात् कथं गम्यगमकभावः ? अर्थान्तरत्वं वा यस्मिन् प्रतीयमाने यन्न प्रतीयते तत् ततो भिन्नम्, यथा घटे प्रतीयमानेऽप्रतीयमानः पटः, न प्रतीयते चेत् साधनप्रतीतिकाले साध्यं तदा तत् ततो भिन्नमिति कथं तादात्म्यलक्षणम् ? किंच, यदि तादात्म्याद् गम्यगमकभावोऽभ्युपगम्यते तदा तादात्म्याऽविशेषात् यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वस्य गमकम्, तथाऽनित्यत्वमपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गमकं स्यात् । अथ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेवानित्यत्वनियतत्वेन निश्चितम्, नानित्यत्वं तन्नियतत्वेन, निश्चयापेक्षश्च गम्यगमकभाव इति, तर्हि 'यस्मिन्निश्चीयमाने यन्न निश्चीयते' इत्यादि पूर्वोक्तमेव दूषणं पुनरापतति । अपि च, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव ह्यनित्यत्वनियतत्वेन निश्चितमिति वदता [illegible] संबन्धोऽभ्युपगतो भवति । नापि तदुत्पत्तिलक्षणः संबन्धो गम्यगमकभावनिबन्धनम्, [illegible] प्रति गमकत्वं स्यात् । अथ [illegible] तदा [illegible] प्रति गमकत्वं न स्यात् । अथ "कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यधर्मा- [illegible] न स्यात्" [illegible] प्रति [illegible] संबन्धोऽभ्युपगतो भवति । अपि च [illegible] संबन्धो [illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥ [ ]

[illegible]

कार्यकारणभावादिसंबन्धानां द्वयी गतिः।
नियमाऽनियमाभ्यां स्यादनियमादतद्गता ॥ [ ]
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम्।
नियमात् केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते" ॥ [ ] इत्यादि।

स च संबन्धः किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, उत व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण इति विकल्पद्वयम्। ५
तत्र यदि प्रथमो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तत्रापि वक्तव्यम्—किं प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, उतानुमानेन
इति? न तावत् प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, अन्वयस्य हि रूपम् 'तद्भावे एव भावः', न च ज्ञातृव्यापा-
रस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्य प्रत्यक्षेण सद्भावः शक्यते ग्रहीतुम्, तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य पूर्वमेव निषि-
द्धत्वात्, त्वयाऽनभ्युपगमाच्च। नापि ज्ञातृव्यापारसद्भावे यथार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सद्भावः
प्रत्यक्षेण ज्ञातुं शक्यः, तस्यातीन्द्रियव्यापारजेन प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः, तदग्राहित्व-अक्षाणां तेन १०
सह संबन्धाभावात्। नापि स्वसंवेदनलक्षणेन प्रत्यक्षेण पूर्वोक्तस्य हेतोः सद्भावः शक्यो निश्चेतुम्,
[illegible] तत्र तस्याव्यापारात्, तत्र प्रत्यक्षेण साध्यसद्भावे एव हेतुसद्भावलक्षणोऽन्वयो निश्चेतुं
शक्यः। नाप्यनुमानेन तन्निश्चयः, अनुमानस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात्। न च तस्या-
न्वयः प्रत्यक्षसमधिगम्यः, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्। अनुमानात् तन्निश्चयेऽनवस्थे-तरेतराश्रयदोषावनु-
षज्येते इति प्रागेव प्रतिपादितम्। न च प्रत्यक्षाऽनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं सम्भवति। तत्र अन्व- १५
यनिश्चयद्वारेण ज्ञातृव्यापारे साध्ये पूर्वोक्तस्य हेतोर्नियमलक्षणः संबन्धो निश्चेतुं शक्यः। नापि व्यति-
रेकनिश्चयद्वारेण, यतो व्यतिरेकः 'साध्याभावे हेतोरभाव एव' इत्येवंस्वरूपः, न च प्रकृतस्य साध्यस्या-
भावः प्रत्यक्षेण समधिगम्यः, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, अनभ्युपगमात्, अभावप्रमाण[illegible]-
[illegible]। नाप्यनुमानादिसद्भावग्राहकप्रमाणनिश्चेयः, अत एव दोषात्। अथादर्शननिश्चेय इति पक्षः,
सोऽपि न युक्तः, यतोऽदर्शनं किमनुपलम्भरूपम्, आहोस्विद् अभावप्रमाणस्वरूपम् इति वक्तव्यम्, अ[illegible]
तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, यतोऽत्रापि वक्तव्यम्-अनुपलम्भः किं दृश्यानुपलम्भोऽभिमतः, [illegible]
होस्विद् अदृश्यानुपलम्भः इति? तत्र यद्यदृश्यानुपलम्भः प्रकृतसाध्याभावनिश्चायकोऽभिम[illegible]
तदाऽत्रापि कल्पनाद्वयम्—किं स्वसंबन्धी अनुपलम्भस्तन्निश्चायकः, उत सर्वसंबन्धी? यद्य[illegible]
संबन्धी तन्निश्चायकः, स न युक्तः, परचेतोवृत्तिविशेषैस्तस्यानैकान्तिकत्वात्। अथ सर्वसं[illegible]
बन्धी तन्निश्चायक इत्यभ्युपगमः, अयमप्ययुक्तः, सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यार्वाग्दृशा[illegible]
अनुपलम्भस्तन्निश्चायक इति पक्षः, सोऽप्यसङ्गतः, यतो दृश्यानुपलम्भश्चतुर्विध इति। तत्र यदि स्वभावा[illegible]
दृश्यानुपलम्भः, कारणानुपलम्भः, व्यापकानुपलम्भः, विरुद्धविधिश्चेति विषये व्यापारासंभवा[illegible]
भावानुपलम्भः, स न युक्तः, स्वभावानुपलम्भस्याभावव्यवहारसाधकत्वेन पर्यु[illegible]
तन्निश्चायकत्वेनाभिमतः, स न युक्तः, स्वभावानुपलम्भस्य केनचित् सहैककालानां[illegible]
हि—एकज्ञानसंसर्गिणस्तुल्ययोग्यतारूपस्य भावान्तरस्य प्रकृतसाध्याभावनि[illegible]
तद्व्यवहारस्याभावोऽसावभ्युपगम्यते, न च प्रकृतस्य साध्यस्य प्रवर्तते, न च प्रकृ[illegible]
तीति नात्र स्वभावानुपलम्भस्य व्यापारः। नापि कारणानुपलम्भः प्रतिपादनात्। 'प्रत्यक्षाऽनुपल[illegible]
सिद्धे कार्यकारणभावे कारणानुपलम्भः कार्याभावनिश्चायकत्वेन प्रागेव प्रतिपादनात्। व्यापकानुपलम्भेन [illegible]
केनचित् सह कार्यत्वं निश्चितम्, तस्याहश्यत्वेन प्रागेव न तन्निश्चायकः। व्यापकानुपलम्भोऽपि [illegible]
कार्यकारणभावः' इति कारणानुपलम्भोऽपि न तन्निश्चायकः। न च प्रकृतसाध्यव्यापकानुपलम्भोऽपि [illegible]
व्यापकाभावे व्याप्याभावसाधकोऽभ्युपगम्यते। न च व्यापकानुपलम्भोऽविकलकारणस्य [illegible]
निश्चेतुं शक्या, प्रकृतसाध्यस्याहश्यत्वप्रतिपादनात्, तत्र विरोधोऽविकलकारणस्य [illegible]
विषयोपलब्धिलक्षणो विषये न प्रवर्तते। तथाहि—एको विरोधो निर्दिशात् प्रत्यक्षात्। [illegible]
भावात् सहानवस्थानलक्षणो निश्चीयते शीतो-ष्णयोरिव सहदर्शनाद्वेव। द्वितीय[illegible]
प्रतिलक्षणं कस्यचिद् भावे निषेधमानस्तु[illegible]

१ तदसाधकत्वविकल्पः प्रत्य- मो॰, वा॰। २ प्र॰ [illegible]
[illegible] "अत्र हि [illegible]" पृ॰ टि॰ १

स्थितिलक्षणः, सोऽपि लक्षणस्य स्वरूपव्यवस्थापकधर्मरूपस्य दृष्टान्ताभ्युपगमनिष्ठो दृष्टान्ताभ्यु-
पगमनिमित्तप्रमाणनिबन्धनो न प्रकृतसाध्यविषये संभवति, तत्र ततोऽपि प्रस्तुतसिद्धिः। तत्र
साध्यस्याभावनिश्चयोऽनुपलम्भनिबन्धनः। साधनाभावनिश्चयोऽपि नादृश्यानुपलम्भनिमित्तः, उक्त-
दोषत्वात्; दृश्यानुपलम्भनिमित्तत्वेऽपि न स्वभावानुपलम्भस्तन्निमित्तम्, उद्दिष्टविषयाभावव्यव-
५ हारसाधकत्वेन तस्य व्यापाराभ्युपगमात्। अनुद्दिष्टविषयत्वेऽपि 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र
साधनाभावः' इत्येवं न ततः साधनाभावनिश्चयः; तन्निश्चयश्च नियमनिश्चयहेतुरिति न स्वभावानु-
पलम्भोऽपि तन्नियमहेतुः। नापि कारणानुपलम्भः, यतः कारणं ज्ञातृव्यापार एवार्थप्रकटनलक्ष-
णस्य हेतोर्भवताऽभ्युपगम्यते, न चासौ प्रत्यक्षसमधिगम्य इति कुतस्तस्य सम्प्रति (तं प्रति) कार-
णत्वावगमः? इति न कारणानुपलम्भोऽपि तदभावनिश्चयहेतुः। व्यापकानुपलम्भेऽप्ययमेव न्यायः,
१० यतो व्यापकत्वमपि पूर्वोक्तहेतुं प्रति ज्ञातृव्यापारस्यैवाभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथाऽन्यस्य व्यापकत्वे
साध्यविपक्षाद् व्यापकनिवृत्तिद्वारेण निवर्तमानमपि साधनं न साध्यनियतं स्यात्। अथ यथा
सत्त्वलक्षणो हेतुः क्षणिकत्वलक्षणसाध्यव्यतिरिक्तक्रम-यौगपद्यस्वरूपपदार्थान्तरव्यापकनिवृत्तिद्वा-
रेणाऽक्षणिकलक्षणाद् विपक्षाद् व्यावर्त्तमानः स्वसाध्यनियतस्तथा प्रकृतोऽपि हेतुर्भविष्यति, अस-
म्यगेतत्; यतस्तत्रापि यद्यर्थक्रियालक्षणसत्त्वव्यापके क्रम-यौगपद्ये कुतश्चित् प्रमाणात् क्षणिके
१५ सिद्धे भवतस्तदा तन्निवृत्तिद्वारेण विपक्षाद् व्यावर्तमानोऽपि सत्त्वलक्षणो हेतुः स्वसाध्यनियतः
स्यात्, अन्यथा तत्र व्यापकवृत्त्यनिश्चये राश्यन्तरे क्षणिकाऽक्षणिकरूपे तस्याशङ्क्यमानत्वेन तद्वा-
प्यस्यापि नैकान्ततः क्षणिकनियतत्वनिश्चयः। न च प्रकृतसाध्येऽयं न्यायः, तस्यात्यन्तपरोक्षत्वेन
हेतुव्यापकभावान्तराधिकरणत्वासिद्धेः; तत्र व्यापकानुपलम्भनिमित्तोऽपि विपक्षे साधनाभावनि-
श्चयः। नापि विरुद्धोपलब्धिनिमित्तः, प्रकृतसाध्यस्यात्यन्तपरोक्षत्वेन तदप्रतिपत्तौ तदभावनियत-
२० विपक्षस्याप्यप्रतिपत्तितस्तेन सहार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः। पर-
स्परपरिहारस्थितलक्षणस्तु विरोधोऽन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरर्थप्रकाशनाऽप्रकाशनयोः सम्भवति, न
पुनरर्थप्रकाशन-अज्ञातृव्यापारयोः, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वाभावात्। नापि ज्ञातृव्यापारनियत-
त्वादर्थप्रकाशनस्य साध्यविपक्षेण विरोध इति शक्यमभिधातुम्, अन्योन्याश्रयदोषप्रसक्तेः। तथा-
हि-सिद्धे तन्नियतत्वे तद्विपक्षविरोधसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तन्नियतत्वसिद्धिरिति स्पष्ट एवेतरेतराश्रयो
२५ दोषः। तत्र विरुद्धोपलब्धिनिमित्तोऽपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः। अथादर्शनशब्देन अभावाख्यं
प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तमभिधीयते, तदप्यनुपपन्नम्; तस्य तन्निमित्तत्वासम्भवात्। तथाहि-
निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकस्वरूपतयाऽऽत्मनोऽपरिणामरूपं वा तदभ्युपगम्येत, तदन्यवस्तुविषय-
ज्ञानरूपं वा गत्यन्तराभावात्? तदुक्तम्—

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते ।
३० साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि" ॥ [श्लो०वा०सू०५, अभावप०श्लो० ११]

तत्र यदि 'निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकरूपत्वेनात्मनोऽपरिणामलक्षणमभावाख्यप्रमाणं साधनाभावनि-
यतसाध्याभावस्वरूपव्यतिरेकनिश्चयनिमित्तम्' इत्यभ्युपगमः, स न युक्तः; तस्य समुद्रोदकपलपरि-
माणेनानैकान्तिकत्वात्। अथान्यवस्तुविषयविज्ञानस्वरूपमभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्त-
मिति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-किं तद् साध्यनियतसाधनस्वरूपादन्यद्
३५ वस्तु, यद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानमित्युच्यते?-यदि यथोक्तसाधनस्वरूपव्यतिरिक्तं पदार्थान्तरं तदा
वक्तव्यम्-तद् एकज्ञानसंसर्गि साधनेन सह, उतान्यथा इति? यदि यथोक्तसाधनैकज्ञानसंसर्गि तदा
तद्विपर्यज्ञानात् सिध्यति यथोक्तसाधनस्याभावनिश्चयः प्रतिनियतविषयः, किन्तु 'यत्र यत्र साध्या-
भावस्तत्र तत्रावश्यंतया साधनस्याप्यभावः' इत्येवंभूतो व्यतिरेकनिश्चयो न ततः सिध्यति; सर्वोपसं-
हारेण साधनाभावनियतसाध्याभावनिश्चयश्च हेतोः साध्यनियतत्वलक्षणनियमनिश्चायक इति नैक-

---

१ पृ० २१ पं० २२। २ अन्यथा तद्व्यापकवृत्त्य-गु०। ३ भन्यामम्-भौ० ८०। ४ 'समुद्रोदकं इति पदानि'? इत्येवं समुद्रोदकपलपरिमाणेन। ५ समुद्रोदकपरिणामेन-दे०। ६ "एकमेवनिधानमपरसंव-न्धिमात्रकम्" (इति नियमेन) गु० दि०। ७-'निश्चयस्य हेतोः' वा०, वा० विना सर्वत्र।-निश्चयहेतोः स०

ज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भाद्भावाख्यात् प्रमाणात् व्यतिरेकनिश्चयः । अथ तदसंसर्गिपदार्था-
न्तरोपलम्भस्वरूपमभावाख्यं प्रमाणं साध्याभावे साधनाभावनिश्चयनिमित्तम्, तदप्यसम्यक्,
अतिप्रसङ्गात्-न हि पदार्थान्तरोपलम्भमात्रादन्यस्य तदनुपयोग्यतारूपस्य तेन सहैकज्ञानासंसर्गिणः
पदार्थान्तरस्याभावनिश्चयः, अन्यथा घटोपलम्भात् त्रिलोक्याभावनिश्चयः स्यात् । अथ तथाभूतसाध-
नाद्यन्यवस्त्वभावः, तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानम्, तद् विपक्षे साधनाभावनिश्चयनिमित्तम्। ननु तदपि ५
ज्ञानं किं 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र साधनाभावः' इत्येवं प्रवर्तते, उत 'क्वचिदेव साध्याभावे
साधनाभावः' इत्येवम्? तत्र यद्याद्यः कल्पः, स न युक्तः, यथोक्तसाधनविविक्तसर्वप्रदेश-कालप्रत्यक्षी-
करणमन्तरेण एवंभूतज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । सर्वदेशप्रत्यक्षीकरणे च कालादिविप्रकृष्टानन्तप्रदेशप्र-
त्यक्षीकरणक्षम् स्वभावादिव्यवहितसर्वपदार्थसाक्षात्करणात् स एव सर्वदर्शी स्यादित्यनुमानाथ-
पणं सर्वज्ञाभावप्रसाधनं चानुपपन्नम्। अथ द्वितीयपक्षाभ्युपगमः, तदा भवति ततः प्रतिनियते १०
प्रदेशे साध्याभावे साधनाभावनिश्चयः-घटविविक्तप्रत्यक्षप्रदेश इव घटाभावनिश्चयः-किंतु तथाभू-
तात् साध्याभावे साधनाभावनिश्चयान्न व्यतिरेको निश्चितो भवति । साधनाभावनियतसाध्याभा-
वस्य सर्वोपसंहारेण निश्चये व्यतिरेको निश्चितो भवति; अन्यथा—यथैव साध्याभावे साधनाभावो
न भवति तथैव साधनसद्भावेऽपि न साध्यमिति—न साधनं साध्यनियतं स्यादिति व्यतिरेकनिश्च-
यनिमित्तो न हेतोः साध्यनियमनिश्चयः स्यात्; तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः । अथ न प्रकृतसाधनाभा- १५
वज्ञानं तद्विविक्तसमस्तप्रदेशोपलम्भनिमित्तम्-येन पूर्वोक्तो दोषः-किन्तु तद्विषयप्रमाणपञ्चकनिवृ-
त्तिनिमित्तम् । तदुक्तम्—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, अभावप० श्लो० १]

नन्वत्रापि वक्तव्यम्-किं सर्वदेश-कालावस्थितसमस्तप्रमातृसंबन्धिनी तन्निवृत्तिस्तथाभूतसाधना- २०
भावज्ञाननिमित्तम्, उत प्रतिनियतदेश-कालावस्थितात्मसम्बन्धिनी इति कल्पनाद्वयम् । तत्र
यद्याद्या कल्पना, सा न युक्ता, तथाभूतायास्तन्निवृत्तेरसिद्धत्वात् । न चासिद्धाऽपि तथाभूतज्ञाननि-
मित्तम्, अतिप्रसङ्गात्-सर्वस्यापि तथाभूतज्ञाननिमित्तं स्यात् केनचित् सह प्रत्यासत्ति-विप्र-
कर्षाभावात्। अनभ्युपगमाच्च—नहि परेणापि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेरसिद्धाया अभावज्ञाननिमित्तता-
ऽभ्युपगता, ज्ञातस्यैव प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेरभावसाधनत्वप्रतिपादनात्— २५

"गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।
तदाऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, अर्था० प० श्लो० ३८]

इत्यभिधानात् ।

न चेन्द्रियादिवदज्ञाताऽपि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरभावज्ञानं जनयिष्यतीति शक्यमभिधातुम्, प्रमाण-
पञ्चकनिवृत्तेस्तुच्छरूपत्वात् । न च तुच्छरूपाया जनकत्वम्, भावरूपताप्रसक्तेः-एवंलक्षणत्वाद् भाव ३०
स्यात्, तन्न सर्वसंबन्धिनी प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिर्विपक्षे साधनाभावनिश्चयनिबन्धनम् । नाप्यात्मसंब-
न्धिनी तन्निमित्तम्, यतः साऽपि किं सार्वत्रिकी, अतीताऽनागतकालभवा वा ? न पूर्वा,
तस्या गङ्गापुलिनरेणुपरिसंख्यानेनानैकान्तिकत्वात् । नोत्तरा, सार्वत्रिकस्यात्मनस्तन्निवृत्तेरसंभ-
वात् असिद्धत्वाच्च, तत आत्मसंबन्धिन्यपि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिस्तज्ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तम्, तन्न
अन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमप्यभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तम् । ३५

[प्रसङ्गवशाद् अभावप्रमाणनिरसनम्]

यच्च—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, अभावप० श्लो० २७]

---

१ -भ्युपगतमते पु० ।

इत्यभावप्रमाणोत्पत्तौ निमित्तप्रतिपादनम्, तत्र किं वस्त्वन्तरस्य प्रतियोगिसंसृष्टस्य ग्रहणम्, आहोस्विद् असंसृष्टस्य? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; प्रतियोगिसंसृष्टवस्त्वन्तरस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणे प्रतियोगिनः प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तरे ग्रहणाद् नाभावाख्यप्रमाणस्य तत्र तदभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तिः; प्रवृत्तौ वा प्रतियोगिसत्त्वेऽपि तदभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तेर्विपर्ययरूपत्वान्न प्रामाण्यम्। अथ ५प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणं तदा प्रत्यक्षेणैव प्रतियोग्यभावस्य गृहीतत्वात् तत्राभावाख्यं प्रमाणं प्रवर्तमानं व्यर्थम्। अथ प्रतियोग्यसंसृष्टताऽवगमो वस्त्वन्तरस्याभावप्रमाणसंपाद्यस्तर्हि तदप्यभावाख्यं प्रमाणं प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणे सति प्रवर्तते, तदसंसृष्टतावगमश्च पुनरन्यभावप्रमाणसंपाद्य इत्यनवस्था। तथा, प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं किं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य, अथासंसृष्टस्य? यदि संसृष्टस्य तदा नाभावप्रमाणप्रवृत्तिरिति पूर्ववद्वाच्यम्। अथासंसृष्टस्य स्मरणम्, ननु प्रत्यक्षेण १०वस्त्वन्तरासंसृष्टस्य प्रतियोगिनो ग्रहणे तथाभूतस्य तस्य स्मरणं नान्यथा; प्रत्यक्षेण च पूर्वप्रवृत्तेन वस्त्वन्तरासंसृष्टप्रतियोगिग्रहणे पुनरन्यभावप्रमाणपरिकल्पनं व्यर्थम्–

"वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया" ॥ [श्लो॰ वा॰ सू॰ ५, अभावप॰ श्लो॰ २]

इत्यभिधानात् तदर्थं तस्य परिकल्पनम्, तच्च प्रत्यक्षेणैव कृतमिति तस्य व्यर्थता। अथान्याभावप्रमाणसंपाद्यः प्रतियोगिनो वस्त्वन्तरासंसृष्टताग्रहस्तर्हि तथाभूतप्रतियोगिग्रहणे तथाभूतस्य तस्य स्मरणम्, १५तत्सद्भावे चाभावप्रमाणप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ च तस्यासंसृष्टताग्रहः, तद्ग्रहे च स्मरणमितीदं चक्रकचोद्यं भवन्तमनुधावति। नापि वस्तुमात्रस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमित्यभिधातुं शक्यम्, तथाऽभ्युपगमे तस्य वस्त्वन्तरत्वासिद्धेः प्रतियोगिनोऽपि प्रतियोगित्वस्य, इति न प्रतियोगिनो नियतरूपस्य स्मरणमिति सुतरामभावप्रमाणोत्पत्त्यभावः। किंच, यदि अभावाख्यं प्रमाणमभावग्राहकमभ्युपगम्यते तदा तमेवं प्रतिपादयतु, प्रतियोगिनस्तु निवृत्तिः कथं तेन प्रतिपादिता स्यात्? अथाभावप्रतिपत्तौ तन्निवृत्तिप्रतिपत्तिः; २०ननु साऽपि निवृत्तिः प्रतियोगिस्वरूपासंस्पर्शिनी, ततश्च तत्प्रतिपत्तौ पुनरपि कथं प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिः? तन्निवृत्तिसिद्धेरपरतन्निवृत्तिसिद्ध्यभ्युपगमे अपरा तन्निवृत्तिस्तथाऽभ्युपगमनीयेत्यनवस्था। किंच, अभावप्रतिपत्तौ प्रतियोगिस्वरूपं किमनुवर्त्तते, व्यावर्त्तते वा? अनुवृत्तौ कथं प्रतियोगिनोऽभावः? व्यावृत्तौ कथं प्रतिषेधः प्रतिपादयितुं शक्यः? तद्विविक्तप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिषेध इति चेत्, न; तदप्रतिभासने तद्विविक्तताया एव प्रतिपत्तुमशक्तेः। प्रतियोगिप्रतिभासाद् नायं दोष इति २५चेत्, क्व तर्हि विज्ञाने तस्य प्रतिभासः? यदि प्रत्यक्षे, न युक्तः; तत्सद्भावसिद्ध्या तन्निवृत्त्यसिद्धेः। स्मरणे तस्य प्रतिभास इति चेत्, न; तत्रापि येन रूपेण प्रतिभाति न तेनाभावः, येन न प्रतिभाति न तेन निषेधः, तदेवं यदि प्रतियोगिस्वरूपादन्योऽभावस्तथापि तत्प्रतिपत्तौ न तन्निवृत्तिसिद्धिः। अनन्यत्वेऽपि तत्प्रतिपत्तौ प्रतियोगिनः प्रतिपन्नत्वाद् न निषेधः। अपि च, तद् अभावाख्यं प्रमाणं निश्चितं सत् प्रकृताभावनिश्चयनिमित्तत्वेनाभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अनिश्चितम् इति विकल्पद्व३०यम्। यद्यनिश्चितमिति पक्षः, स न युक्तः; स्वयमव्यवस्थितस्य खरविषाणादेरिव अन्यनिश्चायकत्वायोगात्। इन्द्रियादेस्त्वनिश्चितस्यापि रूपादिज्ञानं प्रति कारणत्वान्निश्चायकत्वं युक्तम्, न पुनरभावप्रमाणस्य, तस्यापरज्ञानं प्रति कारणत्वासम्भवात्; तदसम्भवश्च–प्रमाणाभावात्मकत्वेनावस्तुत्वात्, वस्तुत्वेऽपि तस्यैव प्रमेयाभावनिश्चयरूपत्वेनाभ्युपगमार्हत्वात्। नापि द्वितीयः पक्षः, यतस्तन्निश्चयोऽन्यस्मादभावाख्यात् प्रमाणादभ्युपगम्येत, प्रमेयाभावाद् वा? तत्र यदि प्रथमपक्षः, स ३५न युक्तः; अनवस्थाप्रसङ्गात्। तथाहि–अभावप्रमाणस्याभावप्रमाणान्निश्चितस्याभावनिश्चायकत्वम्, तस्याप्यन्याभावप्रमाणाद् इत्यनवस्था। अथ प्रमेयाभावात् तन्निश्चयः, सोऽपि न युक्तः; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि–प्रमेयाभावनिश्चयात् प्रमाणाभावनिश्चयः, सोऽपि प्रमाणाभावनिश्चयाद् इति इतरेतराश्रयत्वम्। नापि स्वसंवेदनात् प्रमाणाभावनिश्चयः, तस्य भवताऽनभ्युपगमात्; तन्न अभावाख्यं प्रमाणं सम्भवति। सम्भवेऽपि न तत् प्रमाणचिन्तार्हमिति प्रतिपादितम्, प्रतिपादयि-

---

१ "प्रतियोगिशब्देन संसृष्टत्वम्" गु॰ टि॰। २ तथाभूतस्य स्मरणम् कां॰, डा॰, आ॰, भ॰। ३ तस्य वस्त्वन्तरत्वासिद्धो (द्धौ) न प्रतियोगिनो नियतरूपस्य स्मर—दे॰। ४ अत्र 'असिद्धेः' इति अध्याहार्यम्। ५ अभावमेव।

ष्यते च प्रमाणचिन्ताऽवसरे अत्रैव, तथाभावप्रमाणादपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः; अतो न अदर्शननिमित्तोऽपि प्रकृतव्यतिरेकनिश्चयः, तदभावाद् न प्रकृतसाध्ये प्रकृतहेतोर्नियमलक्षणसंबन्धनिश्चयः ।

न चान्वय-व्यतिरेकनिश्चयव्यतिरेकेणान्यतः कुतश्चित् तन्निश्चयः, नियमलक्षणस्य संबन्धस्य यथोक्तान्वय-व्यतिरेकव्यतिरेकेणासम्भवात् । तथाहि—य एव साधनस्य साध्यसद्भाव एव भावः अयमेव तस्य साध्ये नियमः, साध्याभावे साधनस्यावश्यतयाऽभाव एव यः अयमेव वा तस्य तत्र नियमः । अतो यदेवान्वय-व्यतिरेकयोर्यथोक्तलक्षणयोर्निश्चायकं प्रमाणं तदेव नियमस्वरूपसम्बन्धनिश्चायकम्, तन्निश्चायकं च प्रकृतसाध्यसाधने हेतोर्न सम्भवतीति प्रतिपादितम्; तथाऽनुमानादपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणसिद्धिः ।

अथापि स्यात् बाह्येषु कारकेषु व्यापारवत्सु फलं दृष्टम्—अन्यथा सिद्धस्वभावानां कारकाणामेकं चारवर्षं साध्यमनङ्गीकृत्य कः परस्परं सम्बन्धः—अतस्तदन्तरालवर्तिनी सकलकारकनिष्पाद्याऽभिमतफलजनिका व्यापारस्वरूपा क्रियाऽभ्युपगन्तव्या इति प्रकृतेऽपि व्यापारसिद्धिरिति, एतद् असम्बद्धम्, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि—व्यापारोऽभ्युपगम्यमानः किं कारकजन्योऽभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अजन्यः इति विकल्पद्वयम् । तत्र यद्यजन्य इति पक्षः, सोऽयुक्तः, यतोऽजन्योऽपि किं भावरूपोऽभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अभावरूपः ? यद्यभावरूप इत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः, यतोऽभावरूपत्वे तस्यार्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वं न स्यात्, तस्य फलजनकत्वविरोधात्; अविरोधे वा फलार्थिनः कारकान्वेषणं व्यर्थं स्यात्, तत एवाभिमतफलनिष्पत्तेर्विश्वमदरिद्रं च स्यात्; तथाऽभावरूपो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः । अथ भावरूपोऽभ्युपगमविषयः, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किमसौ नित्यः, आहोस्विद् अनित्यः इति ? तत्र यदि नित्य इति पक्षः, सोऽसङ्गतः, नित्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमेऽन्धादीनामप्यर्थदर्शनप्रसङ्गः, सुप्ताद्यभावः, सर्वस्य सर्वज्ञताभावप्रसङ्गश्च; कारकान्वेषणवैयर्थ्यं तु व्यगम् । अथानित्य इत्यभ्युपगमः, सोऽप्यलौकिकः, अजन्यस्य भावस्यानित्यत्वेन क्वचिदनभ्युपगमात् । अथ चेदम्-मप्येवाभ्युपगतः, तत्रापि वक्तव्यम्—किं कालान्तरस्थायी, उत क्षणिकः ? यदि कालान्तरस्थायी, तदा "क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" [ ] इति वचः परिप्लवेत । कारकान्वेषणं चात्रापि पक्षे फलार्थिनामसङ्गतम्, कियत्कालस्थाय्यजन्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमे तत्काले यावत् तत्फलस्यापि निष्पत्तेः आव्यापारविनाशमर्थप्रकाशलक्षणकार्यसद्भावादन्ध-मूर्छादीनामभावः स्यात् । अथ क्षणिक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः, क्षणानन्तरं व्यापाराभावेनार्थप्रतिभासाभावाद् अपगतार्थप्रतिभासं सर्वं जगत् स्यात् । अथ क्षण एव द्वितीयादिक्षणेषु व्यापारोत्पत्तेर्नायं दोषः, अजन्यत्वं तु तस्यापरकारकजन्यत्वाभावेन, नैसर्गिक, कारकाऽनपेक्षस्य देश-काल-स्वरूपप्रतिनियमाभावस्वभावतायाः प्रतिपादनात् । किञ्च, अनवरतक्षणिकाऽजन्यव्यापाराभ्युपगमे तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथैव भावात् सुप्ताद्यभावदोषस्तदवस्थः, तस्मादजन्यव्यापाराभ्युपगमः श्रेयान् । अथ जन्यो व्यापारः इति पक्षः कक्षीक्रियते, तदाऽत्रापि विकल्पद्वयम्—किमसौ जन्यो व्यापारः क्रियाऽऽत्मकः, उत तद्भावात्मकः इति ? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः, तत्रापि विकल्पद्वयानतिवृत्तेः । तथाहि—साऽपि क्रिया किं स्पन्दात्मिका, उत अस्पन्दात्मिका ? यदि स्पन्दात्मिका तदाऽऽत्मनो [illegible]कारकाणां व्यापारसद्भावेऽपि [illegible] न स्यात्, यद्यपीदं प्रयासतस्तदेव स्वतः भवतैवमभ्युपगन्तव्या । अथापरिस्पन्दात्मिका क्रिया व्यापारस्वभावा, न, तथाभूतायाः परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात् अभावस्य जनकत्वविरोधात् । न च क्रिया कारक-फलाऽन्तरालवर्तिनी परिस्पन्दस्वभावा [illegible] वा प्रमाणगोचरचारिणी इति न तस्याः [illegible]विषयत्वमभ्युपगन्तुं युक्तमिति न क्रियाऽऽत्मको व्यापारः । नापि तद्भावात्मको व्यापारोऽङ्गीकर्तुं युक्तः, तत्रापि विकल्पद्वयानतिवृत्तेः । तथाहि—किमक्रियाऽऽत्मको व्यापारो बोधस्वरूपः, अबोधस्वभावो वा ? यदि बोधस्वरूपः, तदा [illegible] प्रमाणान्तरगम्यताऽभ्युपगन्तुं युक्ता । अथाबोधस्वभावः, तथापि [illegible] बोधात्मकत्वासम्भवात्—न हि चिद्रूपस्याचिद्रूपो व्यापारो युक्तः—'जानाति' इति च [illegible] बोधात्मकत्वैवाभिधानात्, तत्र अबोधस्वभावोऽपि व्यापारः । किञ्च, असौ ज्ञातृव्यापारो यदि

१ सर्वं च विरुण. पृ० १० स्तम्भ इत्र [illegible] । २ पृ० १० पं० २ ।

स० त० ४

स्वभावः, उत धर्मस्वभावः इति पुनरपि कल्पनाद्वयम्। धर्मिस्वरूपत्वे ज्ञातृवत् प्रमाणान्तरग
धर्मिणियुक्तम्। धर्मस्वभावत्वेऽपि धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापारः, अव्यतिरिक्तः, उभयम्, अनु
भयं चेति चत्वारो विकल्पाः। न तावद्व्यतिरिक्तः, तत्त्वे संबन्धाभावेन 'ज्ञातुर्व्यापारः' इति व्यपदे
योगात्। अव्यतिरेके ज्ञातैव तत्स्वरूपवद् नापरो व्यापारः। उभयपक्षस्तु विरोधपरिह
५ नाभ्युपगमनीयः। अनुभयपक्षस्तु अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकविधानेनापरनिषेधादयुक्त
प्रतिपादितम्। किंच व्यापारस्य कारकजन्यत्वाभ्युपगमे तज्जनने प्रवर्तमानानि कारकाणि कि
अपरव्यापारभाञ्जि प्रवर्तन्ते उत तन्निरपेक्षाणि इति विकल्पद्वयम्। यद्याद्यो विकल्पः, त
तद्व्यापारजननेऽपि तैरपरव्यापारभाग्भिः प्रवर्तितव्यम् तज्जननेऽप्यपरव्यापारयुग्भिः प्रवर्तित
मित्यनवस्थितेर्न फलजननव्यापारोद्भूतिरिति तत्फलस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गाद् न व्यापारपरिकल्प
१० नीयः। अथ अपरव्यापारमन्तरेणापि फलजनकव्यापारजनने प्रवर्तन्ते इति नायं दोषः, त
प्रकृतव्यापारमन्तरेणापि फलजनने प्रवर्तिष्यन्त इति किमनुपलभ्यमानव्यापारकल्पनप्रयासेन
किंच, असौ व्यापारः फलजनने प्रवर्त्तमानः किमपरव्यापारसव्यपेक्षः, अथ निरपेक्षः इत्यत्रापि
कल्पनाद्वयम्। तत्र यद्याद्या कल्पना, सा न युक्ता; अपरापरव्यापारजननक्षीणशक्तित्वेन व्यापार
स्यापि फलजनकत्वायोगात्। अथ व्यापारान्तरानपेक्ष एव फलजनने प्रवर्त्तते, तर्हि कारकाणामपि
१५ व्यापारनिरपेक्षाणां फलजनने प्रवृत्तौ न कश्चिच्छक्तिव्याघातः सम्भाव्यते। अथ व्यापारस्य
व्यापारस्वरूपत्वान्नापरव्यापारापेक्षा, कारकाणां त्वव्यापाररूपत्वात् तदपेक्षा; का पुनरियं व्यापारस्य
व्यापारस्वभावता? यदि फलजनकत्वम्, तद् विहितप्रतिक्रियम्। अथ कारकाश्रितत्वम्, तदपि
भिन्नस्य तज्जन्यत्वं विहाय न सम्भवतीत्युक्तम्। अथ कारकपरतन्त्रत्वम्, तदपि न; अनुत्पन्नस्या-
सत्त्वात्, नाप्युत्पन्नस्य, अन्यानपेक्षत्वात्; तथापि तत्परतन्त्रत्वे कारकाणामपि व्यापारपरतन्त्रता
२० स्यात्। अथैवं पर्यनुयोगः सर्वभावप्रतिनियतस्वभावव्यावर्तक इत्ययुक्तः, तथाहि—एवमपि
पर्यनुयोगः सम्भवति–वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे आकाशस्यापि स स्यात्, इतरथा वह्नेरपि स न
स्यादिति। स्यादेतत् यदि प्रत्यक्षसिद्धो व्यापारस्वभावो भवेत्, स च न तथेति प्रतिपादितम्
तत एवोक्तम्—

"स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते।
२५ तत्रोत्तरमिदं युक्तं न दृष्टेऽनुपपन्नता"॥ [ ]

तत्र व्यापारो नाम कश्चिद् यथाऽभ्युपगतः परैः।

अथानुमानग्राह्यत्वे स्यादयं दोषः, अत एवार्थापत्तिसमधिगम्यता तस्याभ्युपगता। ननु दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टकल्पनाऽर्थापत्तिः, तत्र कः पुनरसौ भावो व्यापारव्यतिरेकेण नोपपद्यते यो व्यापारं कल्पयति? अर्थ इति चेत्, का पुनरस्य तेन विनाऽनुपपद्यमानता?
३० नोत्पत्तिः, स्वहेतुतस्तस्याः भावात्। किंच, असावर्थः किम् एकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं कल्पयति, उत सर्वज्ञातृव्यापारमन्तरेण इति वक्तव्यम्। तत्र यदि सकलज्ञातृव्यापारमन्तरेणेति पक्षः, तदा अन्धानामपि रूपदर्शनं स्यात् तद्व्यापारमन्तरेणार्थाभावात् सर्वज्ञताप्रसङ्गश्च। अथ एकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपत्तिस्तर्हि यावदर्थसद्भावस्तावत् तस्यार्थदर्शनमिति सुप्ताद्यभावः। अथ अर्थधर्मोऽर्थप्रकाशतालक्षणो व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं कल्पयति; ननु साऽप्यर्थप्रकाशताऽर्थधर्मो
३५ यद्यर्थ एव तदाऽर्थपक्षोक्तो दोषः। अथ तद्व्यतिरिक्तः, तदा तस्य स्वरूपं वक्तव्यम्। तस्यानुभूयमानता सा इति चेत्, न; पर्यायमात्रमेतत्, न तत्स्वरूपप्रतिपत्तिरिति स एव प्रश्नः। किंच, प्रकाशोऽनुभवश्च ज्ञानमेव, तदनवगमे तत्कर्मतायाः सुतरामनवगम इत्यर्थप्रकाशता-अनुभूयमानते स्वरूपेणानवगते कथं ज्ञातृव्यापारपरिकल्पिके? किंच, अर्थप्रकाशतालक्षणोऽर्थधर्मोऽन्यथानुपपन्नत्वेनानिश्चितस्तं कल्पयति, आहोस्विद् निश्चित इति? तत्र यद्याद्यः कल्पः, स
४० न युक्तः; अतिप्रसङ्गात्। तथाहि—यद्यनिश्चितोऽपि तथात्वेन स तं परिकल्पयति तदा यथा तं

१ पृ० ३५ पं० ४०। २ भा०, पू०, मा० विना सर्वत्र अव्यतिरिक्ते। ३ पृ० १० पं० ६। ४ भा०, पू०, मा० विना प्रवर्तन्ते नायं। ५ व्यापारजननिरपेक्षाणां आ०, मु०, हे०, मा०, हा०। ६ पृ० ३५ पं० १५। ७ पृ० ९ पं० २४। ८ पृ० १० पं० ५। ९ भा०, पू०, मा० विना सर्वत्र तदन्याना-। १० स्वभावभावः मो०। ११ 'तदा यथा तं परिकल्पयति' इत्ययं पाठः भा०, पू०, मा० विना नास्ति।

परिकल्पयति तथा येन विनाऽपि स उपपद्यते तमपि किं न कल्पयति विशेषाभावात्? अथा-निश्चितोऽपि तेन विनाऽनुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स तं परिकल्पयति तर्हि लिङ्गस्यापि नियतत्वेना-निश्चितस्यापि स्वसाध्यगमकत्वं स्यात्, तथा च अर्थापत्तिरेव परोक्षार्थनिश्चायिका नानुमानमिति षट्प्रमाणवादाभ्युपगमो विशीर्येत। अथ अन्यथानुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स धर्मस्तं परिकल्पयति, तदा वक्तव्यम्-क तस्यान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयः? यदि दृष्टान्तधर्मिणि तदा लिङ्गस्यापि तत्र नियतत्व- ५ निश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिः स्यात्, एवं चार्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भूतेति पुनरपि प्रमाणषट्का-भ्युपगमो विशीर्येत। अथ साध्यधर्मिणि तन्निश्चय इत्यनुमानात् पृथगर्थापत्तिः, तदाऽपि वक्तव्यम्-कुतः प्रमाणात् तत्र तन्निश्चयः? यदि विपक्षेऽनुपलम्भात्, तन्न युक्तम्; सर्वसम्बन्धिनोऽनुप-लम्भस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात्, आत्मसंबन्धिनस्तु अनैकान्तिकत्वादिति नान्यथाऽनुपपद्यमानत्व-निश्चयः। किञ्च, अर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थानुभूयमानतालक्षणस्यार्थधर्मस्य य एव स्वजनकस्यार्थाभावेऽ- १० पगतयाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चयः स एव स्वजनकस्यार्थसद्भावे एवोपपद्यमानत्वनिश्चय इत्यर्था-पत्त्युत्थापकस्यार्थस्य, स्वसाध्यानुमापकस्य च लिङ्गस्य न कश्चिद्विशेष इत्यनुमाननिरासेऽर्थापत्तेरपि निरासः कृत एवेति नार्थापत्तेरपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणनिश्चायकत्वम्। येऽपि "संवेदनाख्यं फलं ज्ञातृव्यापारसद्भावे सामान्यतोदृष्टं लिङ्गम्" आहुः, तन्मतमप्यसमञ्जसम्; यतः संवेदनाख्यस्य लिङ्गस्य किम् अर्थप्रतिभासस्वभावत्वम्, उत तद्विपरीतत्वम् इति कल्पनाद्वयम्। तत्रार्थप्रति- १५ भासस्वभावत्वे किमपरेण ज्ञातृव्यापारेण कल्पितेन इति वक्तव्यम्। तदुत्पत्तिस्तेन विना न सम्भवतीति चेत्; न; इन्द्रियादेस्तदुत्पादकस्य सद्भावात् व्यर्थं तत्परिकल्पनम्। क्रियामन्तरेण कारककलापात् फलानिष्पत्तेः तत्कल्पनेति चेत्; नन्विन्द्रियादिसामग्र्यस्य कः व्यापारः इति वक्तव्यम्। क्रियोत्पत्ताविति चेत्; साऽपि क्रिया क्रियान्तरमन्तरेण कथं कारककलापादुपजायते इति पुनरपि तदेव चोद्यम्। क्रियान्तरकल्पनेऽनवस्था प्राक् प्रतिपादितैव। तदर्थप्रतिभास- २० स्वभावत्वेऽन्यो व्यापारः कल्पनीयः, निष्प्रयोजनत्वात्। अथ द्वितीया कल्पनाऽभ्युपगम्यते, साऽपि न युक्ता; यतोऽर्थस्य संवेदनं तद् भवत् ज्ञातृव्यापारलिङ्गतां समासादयति, सा च तदसंवेदन-स्वभावस्य कथं सङ्गता? शेषं तु पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते। किञ्च, अर्थप्रतिभासस्वभावं संवेदनम्, ज्ञाता, तद्व्यापारश्च बोधात्मको नैतत् त्रितयं क्वचिदपि प्रतिभाति। अथ 'घटमहं जानामि' इति प्रतिपत्तिरस्ति, न चैषा निह्नोतुं शक्या, नाप्यस्याः किञ्चित् बाधकमुपलभ्यते, तत् २५ कथं न त्रितयसद्भावः? तथाहि—'अहम्' इति ज्ञातुः प्रतिभासः, 'जानामि' इति संवेदनस्य,

[illegible]

सापेक्षत्वे स्वव्यापारकर्तृत्वानुपपत्तिः, अनेकजन्यत्वात् तस्य। निरपेक्षत्वे किं मीलनेन? सर्वथा संसर्गावस्थायामपि स्वव्यापारकरणादनवरतफलसिद्धिः, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा। तन्न युक्तं व्यापा-रस्याप्रतीयमानस्य कल्पनम्। को ह्यन्यथा संभवति फलेऽप्रतीयमानकल्पनेनात्मानमायासयति? ३५ अन्यथासंभवश्च-इन्द्रियादिषु सत्सु फलस्य प्रागेव दर्शितः, इन्द्रियादेस्तदभ्युपगमनीयत्वात्।

एतेनापि संवेदनाख्यं फलमपरोक्षं व्यापारानुमापकमयुक्तम्, स्वदर्शनव्याघातप्रसक्तेः। तथाहि—भवता शून्यवाद-परतःप्रामाण्यप्रसक्तिभयात् स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगतः, विपरीतख्यातौ तयोरवश्यंभावित्वात्। तथाहि—तस्यामन्यदेश-कालोऽर्थस्तद्देश-कालयोरसन् प्रतिभाति; न च

---

१ [illegible] श्लो० १००० । २ पृ० १८ पं० ७ । ३ पृ० १८ पं० ८ । ४ तद्रूपार्थधर्म-भा० ।
५ पृ० २६ पं० ९ । ६ अर्थानुसारेण विचारणात् अत्र 'तत्राऽर्थसंवेदने-' इति पाठो युक्तः, 'वि०' [illegible]
परित्यक्तः एव पाठो दृष्टः । ७ प्र० पृ० पं० १७ । ८ अत्रे 'तथाहि' इत्यतः इत आरभ्य
(पृ० २८ पं० [illegible]

तद्देशाद्यसत्त्वस्यात्यन्तासत्त्वस्य चासत्प्रतिभासे कश्चिद्विशेषः, यथाऽन्यदेशाद्यवस्थितमाकारं कुत
श्चिद् भ्रमनिमित्ताद् ज्ञानं दर्शयति तथा अविद्यावशादत्यन्तासन्तमपि किं न दर्शयति? तथा
कथं शून्यवादाद् मुक्तिः? तथा परतःप्रामाण्यमपि मिथ्यात्वाशङ्कायां कस्यचिज्ज्ञानस्य बाधक
भावान्वेषणाद् वक्तव्यम्, तदन्वेषणे च सापेक्षत्वं प्रमाणानामपरिहार्यं विपरीतख्यातौ, ततो
कस्यचिद् ज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, तदभावाभान्यदेश-कालाकारार्थप्रतिभासः, नापि बाधकाभावा
पेक्षा। भ्रान्ताभिमतेषु तु तथाव्यपदेशः स्मृतिप्रमोषात्। तथाहि—'इदं रजतम्' इति प्रतीतौ
'इदम्' इति पुरोऽवस्थितार्थप्रतिभासम्, 'रजतम्' इति पूर्वावगतरजतस्मरणं सादृश्यादेः कुत
श्चिन्निमित्तात्, तच्च स्मरणमपि स्वरूपेण नावभासत इति स्मृतिप्रमोष उच्यते। यत्र 'स्मरामि' इति
प्रत्ययस्तत्र स्मृतेरप्रमोषः, यत्र तु स्मृतित्वेऽपि 'स्मरामि' इति रूपाप्रवेदनं कुतश्चित् कारणात् तत्र
स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते। अस्मिन् मते 'रजतम्' इति यत् फलसंवेदनं तत् किं प्रत्यक्षफलस्य सतः
किं वा स्मृतेः? यदि प्रत्यक्षफलस्य तदा यथा 'इदम्' इति प्रत्यक्षफलं प्रतिभाति तथा 'रजतम्'
इत्यपि, ततश्च तुल्ये प्रतिभासे 'एकं प्रत्यक्षम्, अपरं स्मरणम्' इति किंकृतो विशेषः? अथोच्यते—
'स्मरणस्यापि सतस्तद्रूपानवगमात् तेनाकारेणावगमः' तत् किं 'रजतम्' इत्यत्राप्रतिपत्तिरेव?
तस्यां चाभ्युपगम्यमानायां कथं स्मृतिप्रमोषः? अन्यथा मूर्छाद्यवस्थायामपि स्यात्। अथ 'इदम्'
इति तत्र प्रत्यक्षाभावाभावौ, ननु 'इदम्' इत्यत्रापि वक्तव्यम्–किमाभाति? पुरोऽवस्थितं शुक्ति
काशकलमिति चेत्, ननु किं प्रतिभासमानत्वेन तत् तत्र प्रतिभाति, उत सन्निहितत्वेन? प्रतिभा
समानत्वेन तथाऽभ्युपगमे न स्मृतिप्रमोषः, शुक्तिकाशकले हि स्वगतधर्मविशिष्टे प्रतिभासमाने
कुतो रजतस्मरणसंभावना? नहि घटग्रहणे पटस्मरणसंभवः। अथ शुक्तिका-रजतयोः सादृश्यात्
शुक्तिप्रतिभासे रजतस्मरणम्, न, तयोर्विद्यमानत्वेऽप्यकिंचित्करत्वात्। यदा ह्यसाधारणधर्मोपा
धिकं शुक्तिरूपं प्रतिभाति तदा कथं सादृश्यानुस्मरणम्? अन्यथा सर्वत्र स्यात्। सामान्यमात्र
ग्रहणे हि ननु कदाचित् भवेदपि, सामान्यस्वरूपप्रतिभासे, तत्र 'इदम्' इत्यत्र शुक्तिकाशकल
प्रतिभासाभावात् तथाव्यपदेशः। सन्निहितत्वेनाप्रतिभासमानस्यापि तद्विषयत्वाभ्युपगमे इन्द्रिय
संबद्धानां तद्देशवर्तिनामणुप्रभृतीनामपि प्रतिभासः स्यात्। न चाप्रतिभासमानानामिन्द्रियादीनामिव
[illegible]नामपि तद्विषयता युज्यते, तत्र 'इदम्' इत्यत्र शुक्तिकाशकलप्रतिभासः। नापि
'रजतम्' इत्यत्र स्मृतिरूपेऽपि तस्याः स्वरूपेणानवगमात् 'प्रमोष' इत्यभ्युपगमो युक्तः। अथ
स्मृतिरप्यनुभवरूपेण प्रतिभातीति तत्प्रमोषोऽभ्युपगम्यते, तर्हि [illegible]
[illegible]

[illegible]

अथान्यथाभासोऽसौ, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किं तत्कालोऽन्यथाभासोऽसौ, अथोत्तरकालभावी? यदि तत्कालभावी अन्यथाभासः स्मृतेः प्रमोषस्तदा घटादिज्ञानं तत्कालभावि तस्याः प्रमोषः स्यात्। अथोत्तरकालभाव्यसौ तस्याः प्रमोषः, तदप्ययुक्तम्, अतिप्रसङ्गात्—यदि नामोत्तरकाल-मन्यथाभासः समुत्पन्नः, पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेनाभ्युपगतस्य तत्त्वे किमायातम्? अन्यथा सर्वस्य पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वप्रसङ्गः। अथान्याकारवेदित्वं तस्या असौ, तदा विपरीतख्यातिः ५ स्यात् न स्मृतिप्रमोषः। कथमसौ विपरीत आकारस्तस्याः? यदि स्फुटार्थावभासित्वम्, तदसौ प्रत्यक्षस्याकारः कथं स्मृतिसम्बन्धी? तत्सम्बन्धित्वे वा तस्याः प्रत्यक्षरूपतैव स्यात् न स्मृति-रूपता। अत एव शुक्तिकायां रजतप्रतिभासस्य न स्मृतिरूपता तत्प्रतिभासेन व्यवस्थाप्यते, तस्य प्रत्यक्षरूपतया प्रतिभासनात्। नापि बाधकप्रत्ययेन तस्याः स्मृतिरूपता व्यवस्थाप्यते, यतो बाधकप्रत्ययः तत्प्रतिभातस्यार्थस्यासद्रूपत्वमावेदयति, न पुनस्तज्ज्ञानस्य स्मृतिरूपताम्। १० तथाहि—बाधकप्रत्यय एवं प्रवर्तते-'न इदं रजतम्', न पुनः 'रजतप्रतिभासः [illegible] स्मृतिः' इति। तन्न स्मृतिप्रमोषरूपता भ्रान्तदशामभ्युपगन्तुं युक्ता, अतो नायमपि सत्पक्षः। तथार्थसंवेदन-[illegible] १५ रिति स्थितम्॥

[वेदाऽपौरुषेयत्वपरीक्षणम्]

शब्दसमुत्थस्य तु अभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तदा अपौरुषेयस्या-सम्भवाद् गुणवत्पुरुषप्रणीतस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः, अथ तत्प्रणीतत्वं नाभ्युपगम्यते तदा तदुत्थज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादित्यभिप्रायवानाचार्यः प्राह-'जिनानाम्' राग-द्वेषमोह- २० लक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां 'शासनं' मतमभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम्।

न चात्रेदं प्रेर्यम्-यदि जिनशासनं जिनप्रणीतत्वेन सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगमनीयम्—अन्यथा प्रामाण्यस्याप्यनभ्युपगमनीयत्वादिति प्रसङ्गसाधनमत्र प्रतिपाद्यत्वेनाभिप्रेतम्—तत्कि-मिति बौद्धयुक्त्याऽऽहतेन त्वया स्वतःप्रामाण्यनिरासोऽभिहितः? यतः सर्वनयसमूहात्मकत्व-मेव आचार्येण प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्। यद् वक्ष्यत्ययमेव प्रकरणस्य परिसमाप्तौ। यथा— २५

'भद्दं मिच्छदंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स'॥ [तृतीयकाण्डे गाथा ७०]
इत्यादि।

अयमेवार्थो बौद्धयुक्त्युपन्यासेन समर्थितः। अन्यत्राप्यन्यमतोपक्षेपेणान्यमतनिरासे द्वयोरभिप्रायो द्रष्टव्यः, सर्वनयानां परस्परसापेक्षाणां सम्यग्मतत्वेन, विपरीतानां विपर्ययत्वेनाचार्याभिप्रेतत्वात्। ३० अत एवोक्तमनेनैव द्वात्रिंशिकायाम्—

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः"॥ [चतुर्थद्वात्रिंशिकायां श्लो० १५]

अथापि स्यात्, यदि प्रामाण्यापवादकदोषाभावो गुणनिश्चित एव भवेत् तदा स्यादेतत् ३५ प्रसङ्गसाधनम्, यावताऽपौरुषेयत्वेनापि तस्य सम्भवात् कथं प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः? असदेतत्, अपौरुषेयत्वस्यासिद्धत्वात्। तथाहि—किमपौरुषेयत्वं शासनस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपमभ्युपगम्यते, उत पर्युदासरूपम्? तत्र यदि प्रसज्यरूपं तदा किं तदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, उत अभाव-प्रमाणवेद्यम्? यदि तदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, तदयुक्तम्, तदुपलम्भकप्रमाणाविषयत्वात्तदभावा-नुपपत्तेः, अभावार्थे वा न तद्विषयत्वम्, तस्य तद्विषयत्वविरोधाद् अनभ्युपगमाच्च। अभाव- ४०

---

१ ऋग्वेदकल्पद्रुमे (पृ० ११, प्रथम पृ०-पं० १) अत्र स्थले एवं पाठः—"[illegible] प्रत्येकमेव [illegible] नाभ्युपगमनीयः"। २-नाभ्युपगम्य तार्हे ([illegible]) [illegible]—नाभ्युपगम्यते [illegible]। ३ [illegible]-११०० । ४ मीमांसकमते प्रमाण-[illegible]। ५ 'सद्' इति [illegible]।

प्रमाणप्रागभावाभ्युपगमेऽपि वक्तव्यम्—किमभावप्रमाणं ज्ञानविनिर्मुक्तात्मलक्षणम्, उत [illegible]
स्वरूपम्? प्रथमपक्षेऽपि किं सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मस्वरूपम्, आहोस्वित् विशेषविषय[illegible]
पञ्चकविनिर्मुक्तात्मलक्षणम् इति? प्रथमपक्षे नाऽभावपरिच्छेदकत्वम्, परिच्छेदस्य ज्ञानधर्म[illegible]
सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मनि च तदभावात्। विशेषविषयप्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मनोऽपि नाभाव[illegible]
५ परिच्छेदकत्वम्, आगमान्तरेऽपि तस्य सद्भावेन व्यभिचारात्। तदन्यज्ञानमपि यदि तद्ग्राहक
विषयं स्यात्तदाभावप्रमाणं स्यात्, तस्य सन्निधानैर्विरोधात्। 'पौरुषेयत्वादन्यत्रभावस्तद्ग्राहक[illegible]
तदन्यज्ञानम्' अभावप्रमाणमिति चेत्, तथापि वक्तव्यम्—किमन्योपायकम्? प्रमाणपञ्च[illegible]
भावश्चेत्, तत्रापि वक्तव्यम्—किमात्मसंबन्धी, सर्वसंबन्धी वा प्रमाणपञ्चकाभावस्तु[illegible]
न सर्वसंबन्धी, तस्यासिद्धत्वात्। नात्मसंबन्धी, तस्यागमान्तरेऽपि सद्भावेन व्यभिचारित्वात्
१० आगमान्तरे परेण पुरुषसद्भावाभ्युपगमात् प्रमाणपञ्चकाभावो नाभावप्रमाणमुत्पादक इति चेत्
न; पराभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्। प्रमाणत्वे वा वेदेऽपि नामत्वप्रमाणानुभूतिः, परेण तत्रापि
कर्तृपुरुषसद्भावाभ्युपगमात्, प्रवृत्तौ वाऽऽगमान्तरेऽपि स्यात् अविशेषात्। न च वेदे पुरुषा[illegible]
[illegible] निरस्त, अन्यत्रापि तन्निषेधस्याविशेषात्। किञ्च, प्रमाणपञ्चकाभावः किं ज्ञातोऽभाव-
[illegible], उताज्ञातः? यदि ज्ञातस्तर्हि न तज्ज्ञानप्रमाणपञ्चकाभावाद् भवेत्, अनवस्था-
१५ [illegible]। नापि प्रवेशमानत्वात्, इतरेतराश्रयदोषात्। अथाऽज्ञानज्ञापकः, न, समया[illegible]
[illegible]। न चाज्ञातः प्रमाणपञ्चकाभावोऽभावज्ञानजनकः, 'प्रमाणपञ्चक प्रमाणपञ्चका-
[illegible]' इत्यभिधानात्। न च इन्द्रियादिरिव अज्ञातस्यापि प्रमाणपञ्चकाभावस्याभावज्ञान
[illegible], अन्यथा सर्वेषां [illegible] अविशेषे वा [illegible]
[illegible]। न [illegible] किन्तु प्रमाणपञ्चकादि[illegible] इति
२० चेत्, न [illegible] अभावज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। [illegible]
[illegible]

अत एव न सर्वज्ञाभावज्ञानाभावात्, अनिश्चितं सर्वज्ञस्याभावज्ञानाभावः, तथा च प्रमाणपञ्चकनि-
र्मुक्तोऽभावप्रमाणमत्यन्तः । अथ वेदाऽनादित्वसमभावप्रमाणोत्थापकम्, अन्यत्रापि प्रमाणम्—
ज्ञातसम्बन्धं वा तत् तदुत्थापकम् ? न ज्ञातम्, तज्ज्ञानासम्भवात्, प्रत्यक्षादेस्तज्ज्ञापकत्वेना-
प्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा तत एव पुरुषाभावसिद्धेरभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, अनादित्वसिद्धेः पुरुषाभाव-
प्रमाणान्तरविषयत्वात् । नाप्यज्ञातं तत् तदुत्थापकम्, अगृहीतसम्बन्धस्यापि तत्र तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् ५
कैश्चित् प्रत्यासत्ति-विप्रकर्षाभावात्, तत्र अनादित्वमपि तदुत्थापकमिति नाभावप्रमाणात्
[illegible]
[illegible]
[illegible]
तथाऽप्युपदेशात्, अक्षराणां च अनादिकालसद्भावभावेन कालस्वरूपतत्त्वेनाप्यसंबन्धात् न तत्पूर्वक- १०
प्रत्यक्षस्य तथाप्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ वा तद्वद् अनागतकालसम्बद्धधर्मस्वरूपग्राहकत्वेनापि प्रवृत्तेर्न
धर्मज्ञनिषेधः । तथा "सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तम्, विद्यमानो-
पलम्भनत्वात्" [जैमिनीय सू० १-१-४] इति सूत्रम्,

"भविष्यति न दृष्टं च, प्रत्यक्षस्य मनागपि ।
सामर्थ्यम्" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११५] १५

इति च वार्तिकं व्याहतं स्यादिति न प्रत्यक्षात् तत्सिद्धिः । नाप्यनुमानात्, तस्याभावात् । अथ—

"अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात्, तद्यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्यते" ॥ [ ]

इत्यतोऽनुमानात् तत्सिद्धिः, न, अस्य हेतोरागमान्तरेऽपि समानत्वात् । किंच, किं यथाभूतो
वेदकरणासमर्थपुरुषयुक्त इदानीं तत्कर्तृपुरुषरहितः काल उपलब्धः, अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः २०
कालत्वात् साध्यते, उत अन्यथाभूतः ? यदि तथाभूतस्तदा सिद्धसाध्यता । अथान्यथाभूतस्तदा
सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतुः । तथाहि—यथाभूतानामभिनवकूप-प्रासादादीनां सन्निवेशादि
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
त्वसाधनं च वेदानामनर्थसरम् । अथ तथाभूतस्यैवातीतस्यानागतस्य वा कालस्य तद्रहितत्वं
साध्यते, न च सिद्धसाध्यता, अन्यथाभूतस्य कालस्याऽभावात्, न, 'अन्यथाभूतः कालो नास्ति'
इति कुतः प्रमाणादवगतम् ? यद्यन्यतः तत एवापौरुषेयत्वसिद्धिः किमनेन ? अतोऽनु-
मानाच्चेत्, न, अन्यथाभूतकालाभावात् 'अतोऽनुमानात् तद्रहितत्वसिद्धिस्ततस्तदसिद्धिः' २५
इतीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तदेवमन्यथाभूतकालस्याभावासिद्धेस्तथाभूतस्य तद्रहितत्वसाधने
सिद्धसाधनमिति । नापि शब्दात् तत्सिद्धिः, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः । तदेवमन्यथा कथं वेदवचन-

---

१ पृ० ३३ पं० ११ । २ 'नानुमानात् तेऽनादिरहिते कचित्' इति पूर्तिः । ३ वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्ततया अन्यथाभूते अतीते अनागते च काले सत्यपि वेदकरणासमर्थपुरुषयुक्ततया वर्तमानवदसौ कश्चित् तस्मिन् तत्कर्तृर-हितत्वस्य अस्माकमपि इष्टत्वात् । ४ अत्र 'बुद्धिमत्कारणप्रयोजकम्, न त्वन्यथाभूतानाम्' इति अयं पाठः सुघटः । बुद्धिमत्कारणत्वप्रयोजकत्वान्यथा—चं०, पू०, मो०, वा०, वा०, पू० । ५ अत्र अयं पाठः सुबोधः 'तेन सता सर्वज्ञशत्रुः कर्तुः भक्त्या सिद्धसाध्यानन्यथाभूतकालाभावसिद्धिरिति अतीतानागतपौरुषेयत्वसाधनं च वेदानामनवसरम्' । ६—कालाभावसिद्धिरिति अतीतापौरुषेयत्वसाधनं च वेदानामनवसरम् पि० । ७ वेदानामवसरम्—मु० । वेदानामनवसरम् मो०, वा०, दा० । "अवदातावसरम्" मु० टि० । ८ प्र० पृ० तृतीये टिप्पणे दृश्यम् । ९ प्रसङ्गात् मु० बहिर्गतः पाठः । १० केवलम् सं० प्रतौ अयं पाठः । अन्यथा इत्थं वेद—ओ०, दा० । अन्यथाय-थार्थं वेद—पु० । अत्र स्थले प्रमेयकमलमार्तण्डे लभ्यमान पाठ एवम्—"न चाऽपौरुषेयत्वप्रतिपादकं वेदवाक्यमस्ति, तस्यापि विधिवाक्यवत्परस्य परैः प्रामाण्यमिष्यते" पृ० ११५, पं० ६-८ ।

[illegible]! नानि विविदास्पदत्वस्य मयाद्भिः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते; अभ्युपगमे वा पौरुषेयत्वं स्यात्। तथाहि [illegible] वेदवचांसि श्रूयन्ते—

"[illegible] समवर्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८, मं० १०, सू० १२१]
"[illegible] चैतानि निःश्वसितानि" [बृह० उ० अ० २, ब्रा० ४, सू० १०]
"याज्ञवल्क्य इतिहोवाच" [बृह० उ० अ० २, ब्रा० ४, सू० १]

[illegible] तत्सिद्धिः। नानुमानात् तत्सिद्धिः, यदि हि चोदनासदृशं वाक्यमपौरुषेयं [illegible] सिद्धं स्यात् तदा [illegible] वेदस्यापौरुषेयत्वमनुमानात् सिद्धं स्यात्; [illegible] न तत्सिद्धिः। नाप्यर्थापत्तेः, अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमान[illegible] वेदे [illegible]। नाऽप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदस्यापौरुषेयत्वं
१० [illegible], आगमान्तरेऽपि तस्य धर्मस्य भावादपौरुषेयत्वं स्यात्। न चासौ तत्र [illegible] वेदेऽपि [illegible]। आगमान्तरे पुरुषस्य कर्तुरभ्युपगमात् पुरुषाणां च सर्वेषां [illegible] वेदे [illegible] तत्र संभवात् नाऽप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मः [illegible] वेदे [illegible] पुरुषस्य कर्तुरभावादप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मः [illegible]। कुतः पुरुषस्य पुरुषाभावो निश्चितः? अन्यतः प्रमाणादिति चेत्, तदेवास्तु,
१५ [illegible] अर्थापत्तिरत्र, [illegible] इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि—अर्थापत्तितः पुरुषा[illegible] [illegible], एतत्सिद्धौ चार्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। [illegible] तथाहि—अप्रामाण्याभावलक्षणो [illegible] आगमान्तरेऽप्यसौ धर्मस्तत् किं न कल्पयति [illegible] वेदे कुतः पुरुषाभावः? [illegible]

गृहीतसम्बन्धोऽर्थप्रतिपादकः शब्दो नित्यः। तदुक्तम्-"दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः" इति। अथ मतम्-भूयो भूय उच्चार्यमाणः शब्दः सादृश्यादेकत्वेन निश्चीयमानोऽर्थप्रतिपत्तिं विदधाति, न पुनर्नित्यत्वात्, तन्न किंचिन्नित्यत्वपरिकल्पनेन प्रमाणबाधितेन, तदयुक्तम्; सादृश्येन शब्दादर्थाप्रतिपत्तेः—नहि सदृशतया शब्दः प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते किन्त्वेकत्वेन। तथाह्ययं प्रतिपत्तिः—'य एव संबन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्नः शब्दः स एवायम्' इति। किंच, सादृ- ५
श्यादर्थप्रतिपत्तौ भ्रान्तः शब्दादर्थप्रत्ययः स्यात्। न ह्यन्यस्मिन् गृहीतसङ्केतेऽन्यस्मादर्थप्रत्ययोऽभ्रान्तः, यथा गोशब्दे गृहीतसंबन्धेऽश्वशब्दाद् गवार्थप्रत्ययः। न च भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणं सादृश्यं शब्दे संभवति, विशिष्टवर्णात्मकत्वाच्छब्दस्य, वर्णानां च निरवयवत्वात्। न च समानस्थान-करणजन्यत्वलक्षणं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्, परकीयस्थान-करणादेरतीन्द्रियत्वेन तज्जन्य(न्यत्व)स्याप्यप्रतिपत्तेः। न च गत्वादिविशिष्टानां गादीनां वाचकत्वमभ्युपगन्तुं १०
युक्तम्, गत्वादिसामान्यस्याभावात्, तदभावश्च गादीनां नानात्वायोगात्, तदयोगश्च प्रत्यभिज्ञया गादीनामेकत्वनिश्चयात्। अत एव न सामान्यनिबन्धना गादिषु प्रत्यभिज्ञा, भेदनिबन्धनस्य सामान्यस्यैव गादिष्वभावात् कुतस्तन्निबन्धना गादिषु प्रत्यभिज्ञा? किंच, किं गत्वादीनां वाचकत्वम्, उत गादिव्यक्तीनाम्? न तावद् गत्वादीनाम्, नित्यत्वेनाभ्युपगमाश्रयणप्रसङ्गात्। नापि गादीनां वाचकत्वम्, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-किं गत्वादिविशिष्टं व्यक्तिमात्रं वाचकम्, १५
उत गादिव्यक्तिविशेषः? तत्र न तावद् गादिव्यक्तिविशेषः, सामान्युक्तस्यापि तदानन्वयात्,
...स्यान्तर्भू-
...ै नित्यस्य
...स इति।
...स्यात्। २०
तथाहि—शब्दश्रवणम्, ततः सङ्केतकालानुभूतस्मरणम्, ततः तात्सदृश्यावेगाध्यवसायः, न चैतावन्तं कालं शब्दस्यावस्थानं भवत्परिकल्पनया, तद् वाचकशून्यात् तत्प्रतिभासादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। अतोऽर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गाद् नानित्यत्वं शब्दस्य॥

[उत्तरपक्षः-शब्दनित्यत्वनिरसनम्]

अत्र प्रतिविधीयते, यदुक्तम् 'दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः, अनित्यत्वे पुनः पुनरुच्चारणासंभवाद् न समयग्रहः, तदभावे शब्दादर्थप्रतिपत्तिर्न स्यादिति परार्थशब्दोच्चारणान्यथाऽनुपपत्तेर्नित्यः शब्दः' तदयुक्तम्, अनित्यस्यापि धूमादेरिवावगतसंबन्धस्यार्थप्रत्यायकत्वसंभवात् शब्दस्य; न हि धूमादीनामप्येकैव व्यक्तिरग्न्यादिप्रतिपादिका किन्त्वन्यैव। न चानाधिगतसमानपरिणतीनां सर्वधूमादिव्यक्तीनामर्वाग्दृशा व्यक्त्यन्तेन संबन्धः शक्यो ग्रहीतुम्, असाधारणरूपेण सर्वधूमादिव्यक्तीनामदर्शनात्। न च लिङ्गाऽनुमेयसामान्ययोस्तत्र संबन्धग्रहणम्, शब्देऽप्यस्य न्यायस्य ३०
समानत्वात्। न च 'धूमत्वाद् मया प्रतिपन्नोऽग्निः' इति प्रतिपत्तिः किन्तु धूमादिति। सा च लिङ्गाऽनुमेययोः सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रयोः संबन्धग्रहणे सति सामान्यविशिष्टव्यक्त्यवगमे युक्ता, न च धूमसामान्यादग्निसामान्यस्य। यथा च सामान्यविशिष्टस्य विशेषस्य अनुमेयत्वम् वाच्यार्थं चाऽभ्युपगमनीयम्—अन्यथा सामान्यमात्रस्य शब्दादर्थक्रियाऽक्षमत्वे अर्थक्रियार्थिनः प्रवृत्त्यभावात्—तथा सामान्यसाध्यादेव समुद्भूतेर्दाहाद्यर्थिनामनुमेय-वाच्यप्रतिभासात् प्रवृत्त्यभा ३५
वेन लिङ्ग-वाच्यप्रतिभासयोरप्रामाण्यप्रसङ्गः—तथा धूम-शब्दयोरपि विशिष्टयोः तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, न्यायस्य समानत्वात्। न चानुमेयार्थ-वाच्यार्थसामान्यं व्यक्तिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानं तां लक्षयतीति तदन्यथा प्रवृत्तिर्भविष्यतीति वक्तुं शक्यम्, क्रमप्रतीतेरभावात्-नहि लिङ्ग-वाचक-

---

१ "वेदस्य" मु० टि०। २ "नित्यस्तु स्यात् दर्शनस्य परार्थत्वात्" मीमांसादर्शने १-१-१८। ३ तदप्ययुक्तम् भां०। ४ स्थानानि कण्ठताल्वादीनि, करणानि स्पृष्टादिप्रयत्नाः। ५ तज्जन्यत्वस्याऽपि दे०, बं-पू०, भा०। ६ पृ० ११ पं० २१। ७ (क) "अनुमानतः" मु० भां० टि०। ८ वाच्यार्थं सामान्यं

नितलिङ्गि-वाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यप्रतिभासः पश्चाद् व्यक्तिप्रतिभास इति क्रमप्रतीत्यनुभवः।
'न च लक्षणा संभवति' इति प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्याम इत्यास्तां तावत् । एवं सामान्यविशिष्ट-
धूमादिलिङ्गस्य गमकत्ववद् गत्वादिविशिष्टगादिवाचकत्वे न किञ्चिद्भिन्नत्वेन, तदभावेऽपि धूमा-
दिश्य स्वार्थप्रतिपत्तिसंभवात् । अथ धूमादौ सामान्यस्य संभवात् पूर्वोक्तेन न्यायेन गमकत्व-
५ मस्तु, शब्दे तु न किंचित् सामान्यमस्ति यद्विशिष्टस्य शब्दस्य वाचकभावः । शब्दत्वमिति चेत्,
न; गोशब्दस्य शब्दत्वविशिष्टस्य स्ववाच्ये न संबन्धग्रहः । न च शब्दत्वमपि गादिषु विद्यते गोश-
ब्दत्व-गत्वादीनां तु सत्त्वे का कथा । शब्दत्वादीनां त्वभावो वर्णान्तरग्रहणे वर्णान्तरानुसन्धा-
नाभावात्; यत्र सामान्यमस्ति तत्रैकग्रहणेऽपरस्यानुसन्धानं दृष्टम् यथा शावलेयग्रहणे बाहुले-
यस्य, वर्णान्तरे च गादौ गृह्यमाणे न कादीनामनुसन्धानम्, तत्र तत्र शब्दत्वादिसंभवः, एतदयुक्तम्।
१० यतः किमिदमनुसन्धानं भवतोऽभिप्रेतं यद् वर्णान्तरे गृह्यमाणे वर्णान्तरस्य नास्तीति प्रतिपाद्यते ?
यदि गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि वर्णः' इत्यनुसन्धानाभावः, तदयुक्तम्, एवंभूतानुस-
न्धानस्यानुभूयमानत्वेनाभावासिद्धेः । अथ गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि कादिः' इत्यनुस-
न्धानाभावान्न सामान्यसद्भावस्तदाऽत्यल्पमिदमुच्यते, शावलेयादावपि व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे
'अयमपि बाहुलेयः' इत्यनुसन्धानाभावाद् गोत्वस्याप्यभावः प्रसक्तः । अथ तत्र 'गौर्गौः' इत्यनुग-
१५ ताकारप्रत्ययस्याबाधितस्य सद्भावाद् न गोत्वासत्त्वम्, एतद् गादिष्वपि समानम्—तत्रापि 'वर्णो
वर्णः' इत्यनुगताकारस्याबाधितस्य प्रत्ययस्य सद्भावात् कथं न वर्णेषु वर्णत्वस्य, गादिषु गत्वादेः,
शब्दे शब्दत्वस्य संभवो निमित्तस्य समानत्वात् ? तथाहि—समानाऽसमानरूपासु व्यक्तिषु
क्वचित् 'समाना' इति प्रत्ययोऽन्वेति, अन्यत्र व्यावर्तते; यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्था
नान्यत्र, सा च प्रत्ययानुवृत्तिर्गादिष्वपि समाना इति कथं न तत्र सामान्यव्यवस्था ? यदि पुन-
२० र्गादिष्वनुगताकारप्रत्ययसत्त्वेऽपि न गत्वादिसामान्यमभ्युपगम्यते तर्हि शावलेयादिष्वपि न गोत्व-
सामान्यमभ्युपगमनीयम्, न हि तत्रापि तथाभूतप्रत्ययानुवृत्तिमन्तरेण सामान्याभ्युपगमेऽन्यद्
निमित्तमुत्पश्यामः । अक्षजन्यत्वम् अबाधितत्वादि च प्रत्ययस्योभयत्रापि विशेषः समानः । यदि
चानुगताऽबाधिताऽक्षजप्रत्ययविशेषविषयत्वे सत्यपि गत्वादेरभावः, गादेरपि व्यावृत्ततथाभू-
तप्रत्ययविषयस्याभावः स्यात्, ततश्च कस्य दर्शनस्य परार्थत्वमित्यन्वं साध्येत ? अथ गादौ श्रोत्र-
२५ ग्राह्यत्वनिमित्तोऽनुगतः प्रत्ययो न सामान्यनिमित्तः, तदप्ययुक्तम्; श्रोत्रग्राह्यत्वस्यातीन्द्रियत्वेना-
नवगमे निमित्ताग्रहणे तद्ग्रहणनिमित्तानुगतप्रत्ययस्य गादावभावप्रसङ्गात् । न च प्रत्यभिज्ञया गादी-
नामेकत्वसिद्धेर्भेदनिबन्धनस्य तेषु गत्वादिसामान्यस्याभाव इति युक्तमभिधानम्, गादेकत्वादि-
काया दलपुनर्जातकेश-नखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात् । अथ दलितपुनरुदिते नखशिखरादौ
प्रत्यभिज्ञाया बाधितत्वेन भ्रान्तत्वं न पुनर्गादौ, ननु तत्र प्रत्यभिज्ञायाः किं बाधकम् ? अन्तराले-
३० दर्शनमिति चेत्, ननु गादावप्यन्तरालेऽदर्शनं समानम् । अथ दलितपुनरुदिते नखशिखरादावभा-
वनिमित्तमन्तरालेऽदर्शनम्, न गादावभावनिमित्तम्, किं पुनस्तत्रादर्शननिमित्तमिति वक्तव्यम् । किमत्र
वक्तव्यम् अभिव्यञ्जकाभावः।

अथ केवलमभिव्यञ्जकाभावादन्तराले नाग्रप्रतिपत्तिः ? वर्णादिसंस्कारः । अथ कोऽयं
वर्णादिसंस्कारः ? आत्म-मनःसंयोगपूर्वकप्रयत्नप्रेरितेन कोष्ठ्येन वायुना ताल्वादिसंयोग-विभा-
३५ गवता तु प्रतिनियतवर्णाद्यभिव्यञ्जकत्वेन भेदमापादयता पवनमुखमर्मीपगतेः स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धेन,
तद्देशस्य च तूलादेः प्रेरणात् कार्यानुमानेन, देशान्तरे शब्दोपलब्ध्यन्यथाऽनुपपत्त्या च प्रतीय-
मानेन निश्चलदेशगतस्य गकारादेर्वर्णस्य, श्रोत्रस्य, उभयस्य वाऽऽवारकाणां वायूनामपनयनं
वर्णस्य संस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारश्चेति चेत्, ननु 'वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिः'
इत्यभ्युपगमे आवारकवायुनिवर्तनप्रतिनियतविधानात् वर्णोऽप्यन्तराले ज्ञानं न जनयतीति
४० कल्प्यताम्, सा च शक्तिर्वैचित्र्यकृतात् कथञ्चिदभिन्नाऽभ्युपगन्तव्या, एतावन्मात्रे तत्रो
वर्णस्फुरणे 'तत्र नास्ति' इति संबन्धानुपाते । उपकारे वा तदुपकारिका अपरा शक्ति-

१ ऋग्वेद् १।०० । २-यथा बहुमुखमर्मीपगतैः क०, पु०, ग० ।

भ्युपगन्तव्या, तस्या अपि ततो भेदेऽनवस्था; अभेदे प्रथमैव शक्तिः कथञ्चिदभिन्नाऽभ्युपगमनीया,
एवं हि पारम्पर्यपरिश्रमः परिहृतो भवति। तथाऽभ्युपगमे च तच्छक्तिप्रतिघाते वर्णस्वरूपमेव तद्-
भिन्नमावारकेण प्रतिहतं भवति; ततश्च कथं नानित्यत्वम्? व्यञ्जकेनापि शक्तिप्रतिबन्धापनयन-
द्वारेण विज्ञानजननशक्त्याविर्भावेन वर्णस्वरूपमेवाविर्भावितं भवतीति कथं न वर्णस्य व्यञ्जकज-
न्यत्वम्? व्यञ्जकाव्यापारविज्ञानजननस्वरूपो वर्णो यदि तेनैव स्वरूपेणावतिष्ठते तदा सर्वदा तदव- ५
भासिज्ञानप्रसङ्गः, सर्वदा तज्जननस्वभावस्य भावात्; 'सहकार्यपेक्षा च नित्यस्य न भवति' इति
प्रतिपादयिष्यामः। अजनने वा न तत्स्वभावतेति प्रथममपि ज्ञानं न जनयेत्, यो हि यत्र जनयति
न स तज्जननस्वभावः, यथा शालिबीजं यवाङ्कुरमजनयत् न तज्जननस्वभावम्, न जनयति च वर्णो
व्यञ्जकाभिमतवाय्वभिव्यक्तोऽपि सर्वदा स्वप्रतिभासिज्ञानमिति न सर्वदा तज्जननस्वभावः। तत्स्वभा-
वाभावे चोत्तरकालं तदेवानित्यत्वमिति व्यर्थमभिव्यक्तिकल्पनम्। अपि च, वर्णाभिव्यक्तिपक्षे कोष्ठ्येन १०
वायुना वायद्देशमभिव्याप्ता यावान् वर्णविभागोऽपनीतावरणः कृतस्तावत एव श्रवणं स्यात् न
समस्तस्य वर्णस्येति खण्डशस्तस्य प्रतिपत्तिः स्यात्। अथ वर्णस्य निरवयवत्वादेकत्रोत्सारितावरणः
सर्वत्रापनीतावरण इति नायं दोषस्तर्हि निर्विभागत्वादेवैकत्रानपनीतावरणः सर्वत्र तथेति मनागपि
श्रवणं न स्यात्। सर्वत्र सर्वात्मना वर्णस्य परिसमाप्तत्वात् सामस्त्येन श्रवणाभ्युपगमे वर्णस्या-
व्यापकत्वम् अनेकत्वं च दुर्निवारम्। यदि चैकत्राभिव्यक्तो निर्विभागत्वेन सर्वत्राभिव्यक्तस्तदा १५
सर्वदेशावस्थितैस्तस्य श्रवणं स्यात्। यदप्युच्यते—यथैवोत्पद्यमानोऽयमुत्पत्तिवादिनां पक्षे दिगा-
दीनामविभागादविभक्तदिगादिसंबन्धित्वेन स्वरूपेणासर्वगतोऽपि सर्वान् प्रति भवन्नपि न सर्वैर-
वगम्यते किन्तु यच्छरीरसमीपवर्ती वर्ण उत्पन्नस्तैरेवासौ गृह्यते तथाऽस्मत्पक्षेऽपि सतः सर्वगतो-
ऽपि वर्णो न सर्वैर्दूरस्थैरवगम्यते किन्तु यच्छरीरसमीपस्थोऽभिव्यक्तस्तैरेवेति व्यञ्जकध्वनिसन्नि-
धानाऽसन्निधानकृतं वर्णस्य श्रवणम् अश्रवणं च युक्तम्। एतदेवाह— २०

"यथैवोत्पद्यमानोऽयं न सर्वैरवगम्यते॥
दिग्देशाद्यविभागेन सर्वान् प्रति भवन्नपि।
तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः॥
तैरेव गृह्यते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन"। इति, [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० ८४-८६]

तदपि प्रलापमात्रम्। यतो यदि व्यञ्जका वायवो यत्रैव संनिहितास्तत्रैव वर्णसंस्कारं कुर्युस्तदा २५
स्यादप्येतत्, किन्तु तथाऽभ्युपगमे वर्णस्य सावयवत्वम् अनभिव्यक्तस्वरूपादभिव्यक्तस्वरूपस्य च
भेदादनेकत्वं च स्यात्। सर्वात्मना तु संस्कारे—

"यच्छरीरसमीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः।
तैर्यथा श्रूयते शब्दस्तथा दूरगतैर्न किम्"?॥ [ ]

उत्पत्तिपक्षे तु अव्यापकत्वाद् यत्समीपवर्ती वर्ण उत्पन्नस्तैरेवासौ गृह्यते न दूरस्थैरिति युक्तम्। ३०
"दिग्देशाद्यविभागेन" इति चातीवासङ्गतम्, अविभागस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽसंभवेनानभ्युपग-
मात्। किंच, व्यापकत्वेन वर्णानामेकवर्णाऽऽवरणापाये समानदेशत्वेन सर्वेषामनावृतत्वाद्
युगपत् सर्ववर्णश्रुतिश्च स्यात्। अथापि स्यात् प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथाऽनुपपत्त्या व्यञ्जकभेदसिद्धेः
प्रतिनियतैर्व्यञ्जकैः प्रतिनियताऽऽवारकनिराकरणद्वारेण प्रतिनियतवर्णसंस्काराद् न युगपत्सर्ववर्ण-
श्रुतिदोषः, स्यादेतद् यदि व्यञ्जकानां वायूनां भेदः स्यात्, स चावारकभेदनिबन्धनः, अन्यथा ३५
तदभेदेऽभिमतावारकापनेतृत्वेन कुतो व्यञ्जकभेदः? आवारकभेदोऽपि वर्णदेशभेदनिबन्धनः,
अन्यथा समानदेशानां यदेवैकस्यावारकं तदेवापरस्यापि इत्यावारकभेदो न स्यात्। देशभेदोऽपि
वर्णानामव्यापकत्वे सति स्यात्, व्यापकत्वे तु परस्परदेशपरिहारेण वर्णानामवस्थानाभावान्न
देशभेदः। न चाव्यापकत्वं वर्णानामभ्युपगम्यते भवद्भिरिति न देशभेदः, तदभावान्नावारकभेदः,
तदसत्त्वाच्च व्यञ्जकभेद इति युगपत्सर्ववर्णश्रुतिरिति तदवस्थो दोषः। नाप्यावारकाणां न वर्णापि- ४०

१-शालप्रतिप-मु०। २ दैरावृ पाठः बा०, पू०, बा०, चं-छ० प्रतिष्वेव, अन्यत्र
वर्णपिधायक-इति। किन्तु दे०, भा० प्रतौ 'पूर्वोक्तदोषाभाव इति यद्धं वाक्यम्'
दोषाभाव इति ...न्यम्' इति पाठः।

[illegible] पि न तदावारकापनेतृत्वेन [illegible] क्तुं शक्यम्, एत एवमभि- [illegible] तत्र वर्णसंस्कारोऽभिव्य-
क्तिरिति पक्षो युक्तः। नापि श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिरिति पक्षो युक्तः, तस्मिन्नपि पक्षे सकृत् सं-
५ स्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपत् शृणुयात्; नह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः संनिहितं स्वविषयं किञ्चित्
पश्यति किञ्चिन्नेति दृष्टम्। अथ व्यञ्जकानां वायूनां भिन्नेषु कर्णमूलावयवेषु वर्त्तमानानां संस्का-
राधायकत्वेनार्थापत्त्या प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथाऽनुपपत्तिलक्षणया प्रतिनियतवर्णग्राहकत्वेन सं-
स्काराधायकत्वस्य प्रतीतेर्नैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपद् गृह्णातीति। तथाहि-
वायवीयशब्दपक्षे यथा गकारादेर्निष्पत्त्यर्थं प्रयत्नप्रेरितो वायुर्नान्यं वर्णमुत्पादयति तथाऽस्मत्पक्षेऽ-
१० प्यन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्कारे समर्थो नान्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्कारं विधास्यति। येषां तु ताल्वादि-
संयोग-विभागनिमित्तः शब्द इति पक्षस्तेषां यथाऽन्यगकारादिजनकैः संयोग-विभागैर्नान्यो वर्णो
जन्यते तथाऽस्मत्पक्षेऽपि नान्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्काराधायकव्यञ्जकप्रेरकैरन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्का-
राधायकवायुप्रेरणं क्रियत इत्युत्पत्त्य-भिव्यक्तिपक्षयोः कार्यदर्शनान्यथाऽनुपपत्त्या समः सामर्थ्य-
भेदः प्रयत्न-विवक्षयोः सिद्धः। अतश्च यदुक्तं कैश्चित् "समानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु व्यञ्जकेषु न दृष्टो
१५ नियमः" इति, एतदयुक्तम्; अर्थापत्तेर्दृष्टान्तानपेक्षत्वात्, दृष्टश्च तैलाभ्यक्तस्य मरीचिभिः, भूमेरुद-
दकसेकेन गन्धाभिव्यक्तिभेद इति कथं न व्यञ्जकनियमः? तदुक्तम्—

"व्यञ्जकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता ॥
जातिभेदश्च तेनैव संस्कारो व्यवतिष्ठते।
अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथाऽन्यं न करोति वै ॥
२० तथाऽन्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति।
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्नान्यो वर्णो यथैव हि ॥
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभिः।
तस्मादुत्पत्त्य-भिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः ॥
सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात् प्रयत्न-विवक्षयोः" । इति, [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० ७९–८३]

२५

एतदसंबद्धम्, इन्द्रियसंस्कारकाणां व्यञ्जकानां समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु प्रतिनियतवि-
षयग्राहकत्वेनेन्द्रियसंस्कारकत्वस्य कदाचिददर्शनात्; नह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं
स्वविषयं किञ्चित् पश्यति, किञ्चिन्नेत्युपलब्धम्। तथा बाधिर्यनिराकरणद्वारेण बेलातैलादिना
संस्कृतं श्रोत्रं स्वग्राह्यान् गकारादीन् वर्णानविशेषेणैवोपलभमानमुपलभ्यते, एवं घ्राणादीनीन्द्रि-
३० याणि स्वव्यञ्जकैः संस्कृतानि स्वविषयग्राहकत्वेनाविशेषेण प्रवर्त्तमानानि प्रतीयन्त इति प्रकृतेऽप्य-
यमेव न्यायो युक्तः। यश्च तैलाभ्यक्तस्य मरीचिभिः, भूमेस्तूदकसेकेन गन्धाभिव्यक्तिरिति व्यञ्जकं
प्रति नियमो दर्शितः सोऽपि विषयसंस्कारकव्यञ्जकप्रतिनियमः नेन्द्रियसंस्कारकव्यञ्जकप्रतिनि-
यमः। विषयसंस्कारकेष्वप्ययं नियमो भिन्नदेशेषु दर्शितः न समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्येषु। तत
इन्द्रियसंस्कारकेषु समानेन्द्रियग्राह्ये समानदेशेऽर्थे प्रतिनियतविषयग्राहकत्वेन इन्द्रियान्तरविषय-
३५ ग्राहकत्वेन च इन्द्रियसंस्कारकत्वस्यादर्शनात् अत्यन्तासंभविनो नार्थापत्तिसामर्थ्यात् कल्पना
युक्ता; कारकाणां तु प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वस्यान्यत्राप्युपलब्धेः प्रतिनियतवर्णोत्पादनसामर्थ्यभेदस्य
ताल्वादिष्वर्थापत्तितः कल्पना संभाव्यत एव। किंच, इन्द्रियं संस्कुर्वन् व्यञ्जकं यदि यथावस्थित-
वर्णग्राहकत्वेनेन्द्रियसंस्कारं विदध्यात् तदा सकलजनमण्डलव्यापिनो गादेः प्रतिपत्तिः स्यात्,
न चासौ दृष्टा; अथान्यथा, न तर्हि वर्णस्वरूपप्रतिभास इति न तत्स्वरूपसिद्धिः, तत्र श्रोत्रसंस्का-
४० रोऽप्यभिव्यक्तिः। नाप्युभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, प्रत्येकपक्षोक्तदोषप्रसङ्गात्। न चान्यप्रकारः
संस्कारोऽभिव्यक्तिः संभवति, तद् अभिव्यक्तेरसंभवात् नाभिव्यक्तिनिमित्तोऽन्तराले गादीनाम-

---

१ च वा०, पु०। २ बला-पु०। ३ प्र० पृ० पं० १६।

मुपलम्भः किन्तु दलितनखशिखरादिविषयोभावनिमित्त इति लूनपुनर्जातनखादिविषयापान्तरा-लादर्शनेन गादिप्रत्यभिज्ञाया बाध्यमानत्वादप्रामाण्यम् ।

अथ खण्डितपुनरुदितनखरशरसमूहविषयाया अपि प्रत्यभिज्ञायास्तत्सामान्यविषयत्वेन नाप्रा-माण्यम्, तस्यास्तद्विषयतयाऽबाध्यमानत्वात्; न चायं प्रकारो गादिविषयप्रत्यभिज्ञायाः सम्भवति, तथाभूतदेशादिविषय गादिभेदविषयाबाधितप्रतिभासाभावेन तद्भेदासिद्धौ 'समानानां भावः सामा-न्यम्' इति कृत्वा तत्र सामान्यस्यैवासम्भवात्, असदेतत्; गादिष्वपि 'पूर्वोपलब्धगादेः सका-शात् अयमल्पः महान् कर्कशः मधुरो वा गादिः' इत्यबाधिताध्यक्षप्रतिभाससद्भावेन भेदनिबन्ध-नसामान्यसम्भवस्य न्यायानुगतत्वात् । न च यथा तुरगजवस्य पुरुषेऽध्यारोपात् 'पुरुषो याति' इति प्रत्ययः व्यपदेशश्च तथा व्यञ्जकध्वनिगतस्याल्प-कर्कशादेर्गादावुपचारात् तथाप्रत्ययः व्यपदेशश्चेत्यभ्युपगन्तुं शक्यम्, तथाऽभ्युपगमे वाहीके गोप्रत्ययवद् गादिप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वेन गादिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात्; नहि भ्रान्तप्रत्ययसंवेद्या द्विचन्द्रादयः स्वरूपसंगतिमनुभवन्ति । न चाल्प-महत्त्वप्रत्यययोर्भ्रान्तत्वे अल्प-महत्त्वे एव गादिविषये अव्यवस्थितस्वरूपे न पुनर्गादिको धर्मः, तत्प्रत्ययस्याभ्रान्तत्वात्; न चान्यविषयप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वेऽन्यस्य तथाभावोऽतिप्रसङ्गादिति वक्तुं युक्तम्, यतो यद्यल्प-महत्त्वादिधर्मव्यतिरिक्तस्य गादेर्द्वित्वरहितस्येव निशीथिनीनाथस्य प्रत्यय-विषयत्वं स्यात् तदैव तद् युज्येतापि वक्तुम्; न च स्वप्नेऽपि तद्धर्मानध्यासितो गादिः केनचित् प्रतीयत इति कथं तस्य महत्त्वादिधर्मरहितस्य स्वरूपव्यवस्था ? अत एव महत्त्वादिधर्मयुक्तस्य सर्वदा प्रतीयमानत्वाद् गादेर्न तद्धर्मयुक्ततया प्रतीयमानस्य उपचरितप्रत्ययविषयता । तदुक्तम्—

> "यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथाऽपि वा ।
> स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते" ॥ [ ] इति ।

तत्र व्यञ्जकधर्माध्यारोपादुपचरितप्रत्ययविषयत्वं तथाभूतस्य गादेः, सर्वभावानामुपचरितप्रत्यय-विषयत्वेन स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । न च व्यञ्जकस्य प्रदीपादेरल्प-महत्त्वभेदाद् व्यङ्ग्यस्य घटादेरल्प-महत्त्वभेदप्रतिभासो दृष्टः । अथ व्यञ्जकधर्मानुकारित्वं व्यङ्ग्ये उपलभ्यते । तथाहि-एकस्वरूपमपि मुखं खड्गे प्रतिबिम्बितं दीर्घम्, आदर्शे वर्तुलम्, नीलकाचे गौरमपि श्यामं व्यञ्जकधर्मानुकारितया प्रतिभासविषयमुपलभ्यत इति प्रकृतेऽपि तथा स्यात्, एतदप्यसङ्गतम्; दृष्टान्तमात्रादर्थासिद्धेः, तस्य हि साध्य-साधनप्रतिबन्धसाधकप्रमाणविषयतया साध्यसिद्धावुपयोगो न स्वतन्त्रस्य, अन्यथा—

> "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः" [अमृतबिन्दु-उपनि० प० १२, पृ० १५]

इत्यादिदृष्टान्तमात्रतोऽद्वैतवादिनोऽपि पुरुषाद्वैतसिद्धेः शब्दस्वरूपस्याप्यभावात् कस्योपचाराद् महत्त्वादिप्रतिभास इत्युच्यते ? मुखादीनां च छाया खड्गादौ संक्रान्ता तद्धर्मानुकारिणी प्रतिभाति न मुखादयः । न च गादीनां छाया व्यञ्जकध्वनिसंक्रान्ता तद्धर्मानुकारिणी प्रतिभातीति शक्यं वक्तुम्, शब्दस्य भवताऽमूर्त्तत्वेनाभ्युपगमात्, अमूर्त्तस्य च मूर्त्तध्वनौ छायाप्रतिबिम्ब-नाऽसंभवात् । मूर्त्तानामेव हि मुखादीनां मूर्त्ते आदर्शादौ छायाप्रतिबिम्बनं दृष्टं नामूर्त्तानामात्मा-दीनाम् । अदृष्टे च ध्वनौ छाया प्रतिबिम्बिताऽपि न गृह्येत कथं तद्धर्मानुकारितया प्रतीतिवि-षयः ? न च ध्वनेः शब्दप्रतिभासकाले श्रवणप्रतिपत्तिविषयत्वम्, उभयाकारप्रतिपत्तेरसंवेद-नात्; तत्र व्यञ्जके ध्वनौ प्रतिबिम्बिता गकारादिच्छाया प्रतिभाति । नाप्यमूर्त्ते गादौ ध्वनिच्छाया-प्रतिबिम्बनं युक्तम्, अमूर्त्ते आकाशादौ घटादिच्छायाप्रतिबिम्बनानुपलब्धेः । तदयुक्तमुक्तम् 'खड्गादौ दीर्घमुखादिप्रतिभासवद् अल्प-महत्त्वादियुक्तशब्दप्रतिभासः' इति, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-योर्वैषम्यात् । अतोऽबाधितमहत्त्वादिभेदभिन्नगादिप्रतिभासाद् गादिभेदसिद्धेस्तन्निबन्धनस्य सामा-न्यस्य गादौ सद्भावात् तन्निबन्धना प्रत्यभिज्ञा दलितोदितनखशिखरादिष्विव गादावभ्युपगम-नीया । अत एव धूमादीनामिवानित्यत्वेऽपि गादीनां सामान्यसद्भावतः सङ्केतग्रहणस्य सम्भवाद्

---

१ ग्रन्थाग्रम् १४०० । २ "सामान्यविषयत्वप्रयोगोऽबाध्यमानत्वप्रयोगस्याप्रामाण्याभावकत्वः" गु० टि० । ३-भ्रान्तित्वे कां०, गु० । ४ प्रतिबिम्बसाधक कां०, गु० । ५ अत्र 'इति' अध्याहार्यम् । ६ प्र० पृ० पं० २१ ।

न परार्थशब्दोच्चारणान्यथाऽनुपपत्त्या तन्नित्यत्वकल्पना युक्ता, तद् गत्वादिविशिष्टस्य गादेरविचलितविशेषस्य स्वार्थेन सङ्गत्यवगमेन न किञ्चिन्नित्यत्वेन। यथा गोत्वादिविशिष्टस्य गोव्यक्तिमात्रस्य वाच्यत्वे न कश्चिद्दोषस्तद्वद् वाचकत्वेऽपि, तद् अर्थप्रतिपादकत्वस्य अन्यथापि सम्भवात् 'दर्शनस्य परार्थत्वाद् नित्यः शब्दः' इत्ययुक्तमभिहितम्। यत् पुनरुक्तम् 'सदृशग्रहणाद् न
५ सादृश्यादर्थप्रतिपत्तिः' इति, तत्र यदि सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं व्यक्तेः सादृश्यमभिप्रेतं तदा तस्य यथा व्यक्तिविशेषणस्य वाचकत्वं तथा प्रतिपादितम्। अथ अन्यथाभूतं सादृश्यमत्र विवक्षितं तदा तस्य वाचकत्वानभ्युपगमात् स एव परिहारः। यत्तूक्तम् 'वर्णानां निरवयवत्वाद् न भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यस्य सम्भवः' तदत्यन्तासङ्गतम्, वर्णानां भाषावर्गणारूपपरिणतपुद्गलपरिणामस्यैव सावयवत्वात्।

१० अथ पौद्गलिकत्वे वर्णानां महती अदृष्टकल्पना प्रसज्यते। तथाहि-शब्दस्य श्रवणदेशाऽऽगमनम्, मूर्ति-स्पर्शादिमत्त्वं च अनुपलभ्यमानं परिकल्पनीयम्; तेषां च मूर्ति-स्पर्शानां सतामप्यनुद्भूतता कल्पनीया, त्वग्ग्राह्यत्वं च परिकल्पनीयम्; ये चान्ये सूक्ष्मा भागास्तस्य कल्प्यन्ते तेषां च शब्दकरणवेलायां सर्वथाऽनुपलभ्यमानानां कथं रचनाक्रमः क्रियताम्? उपलभ्यमानत्वेऽपि कीदृशाद् रचनाभेदाद् गकारादिवर्णभेदः? द्रवत्वेन च विना कथं वर्णावयवानां परस्प-
१५ रतः संश्लेषो वर्णनिष्पादकः? यद्यपि च कथञ्चित् कर्त्रा निष्पादिता वर्णास्तथापि आगच्छतां कथं न वायुना विश्लेषः? लघूनां तदवयवानामुदकादिनिबन्धनाभावात् निबद्धानामप्यागच्छतां वृक्षाद्यभिहतानां विश्लेषो लोष्टवत्। न चैकशब्दस्यैकश्रोत्रप्रवेशे मूर्त्तत्वेन प्रतिबद्धत्वादन्येषां श्रोतॄणां तद्देशव्यवस्थितानामपि श्रवणमुपपद्यते, प्रयत्नान्तरस्याभावेन पुनर्निष्क्रमणासम्भवात्। न चैकगोशब्दापेक्षयाऽवान्तरवर्णनानात्वकल्पनायामस्ति प्रयोजनम्, एकस्मादेव गोशब्दादर्थप्रतीतेः। अतो
२० गकारादिवर्णनानात्वमदृष्टं परिकल्पनीयम्। न चैकस्यैव गोशब्दावयविनः सर्वासु दिक्षु गमनं युज्यत इत्यनेकाऽदृष्टपरिकल्पना स्यात्। तदुक्तम्—

> "शब्दस्याऽऽगमनं तावददृष्टं परिकल्प्यते ॥
> मूर्त्ति-स्पर्शादिमत्त्वं च तेषामभिभवः सताम्।
> त्वग्ग्राह्यत्वमन्ये च सूक्ष्मा भागाः प्रकल्पिताः ॥
> २५ तेषामदृश्यमानानां कथं च रचनाक्रमः?।
> कीदृशाद् रचनाभेदाद् वर्णभेदश्च जायताम्? ॥
> द्रवत्वेन विना चैषां संश्लेषः कल्प्यतां कथम्?।
> आगच्छतां च विश्लेषो न भवेद् वायुना कथम्? ॥
> लघवोऽवयवा ह्येते निबद्धा न च केनचित्।
> ३० वृक्षाद्यभिहतानां तु विश्लेषो लोष्टवद् भवेत् ॥
> एकश्रोत्रप्रवेशे च नान्येषां च पुनः श्रुतिः।
> न चावान्तरवर्णानां नानात्वस्यास्ति कारणम् ॥
> न चैकस्यैव सर्वासु गमनं दिक्षु युज्यते"। [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० १०७-११२]
> इति,

३५ एतद् मदन्यपक्षेऽपि सर्वं समानम्। तथाहि-'वायोरागमनं तावददृष्टं परिकल्प्यते' इत्यादि सर्वं [illegible] एव, केवलं वर्णस्थाने वायुशब्दः पठनीय इति कथं न मदन्यपक्षेऽपि भूयस्यदृष्टपरिकल्पना? अपि च, मदन्यपक्षेऽप्यनन्त [illegible] परिकल्पनागौरवदोषः समापतेत्—वर्णानां पूर्वापरकोट्योः सर्वत्र देशेऽनुपलभ्यमानस्य सत्त्वं परिकल्पनीयम्, तथा वाचकाः [illegible] वायवः प्रमाणगोचरा- [illegible] तथाभूता एव व्यञ्जकाः परिकल्पनीयाः, तेषां चावरकानामपि
४० [illegible] परिकल्पनीयम्। अस्मन्मते तु सर्वमपि नास्तीति कथमदृष्टपरिकल्पना गुर्वी?

---

१ [illegible] भा०, वृ०, ... । २ पृ० ११ पं० ११ । ३ पृ० ११ पं० ११ । ४ [illegible] भा०, पु०, ... । ५ पृ० १० पं० १ । ६ पृ० ११ पं० ... । ७ [illegible] ([illegible]) भा०, ..., पु० ।

...शेषत्वं च शब्दस्य अम्बरगुणप्रतिषेधप्रस्तावे प्रमाणोपपन्नं करिष्यते इत्यास्तां तावत् । यत् ...
...न्तरं शब्दार्थप्रत्ययस्याभिहितं तद् धूमाग्निकादिभिरत्ययेन प्रत्युक्तम् । 'गत्यादिविशिष्टस्य
...वाचकत्वमयुक्तम्, गत्यादेः सामान्यस्यासम्भवात्', तद् अनन्तरं निराकृतम् । यत् पुनरुक्तम्
...व्यक्तिमात्रं गत्यादिविशिष्टं नोपपद्यते, तस्य सामान्य-विशेषयोरन्यतरत्रान्तर्भावे एकत्र वाच- ५
...नित्यत्वप्रसङ्गात्, अन्यथानन्वयात् वाचकत्वायोगात्' एतदसारम् । व्यक्तिमात्रस्य सामा-
...विशिष्टस्य पूर्वं वाचकत्वव्यवस्थापनात्, ता एव व्यक्तयोऽत्रियक्षितासाधारणविशेषाः सामा-
...विशिष्टव्यक्तिमात्रशब्दाभिधेयाः ।

किंच, किं वर्णानां नित्यत्वमभ्युपगम्यते, उत वर्णक्रमस्य, आहोस्विद् वर्णाभिव्यक्तेः, किं
...तत्क्रमस्य ? तत्र न तावद्भिव्यक्तेर्नित्यत्वम्, तस्या निषिद्धत्वात्, अनित्यत्वेऽपि पुरुषप्रयत्नप्रेरित- १०
वायुजन्यत्वेनापौरुषेयत्वासम्भवात् । नाप्यभिव्यक्तिक्रमस्य, अभिव्यक्त्यभावे तत्क्रमस्याप्यभावात्, ...
तदपौरुषेयत्वे तस्यापि पौरुषेयत्वात् । अर्थवं पौरुषेयत्वस्यानादित्सिद्धस्य वेनचिदाशयत्रस्य
सर्वपुरुषैः परिग्रहात् पुरुषाणां स्वातन्त्र्याभावादपौरुषेयत्वमुच्यते । तदुक्तम्—

"यत्ता नहि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते । १५
यथैवास्य परैरुक्तः तथैवेनं विवक्षति ॥
परोऽप्येवं ततश्चास्य संबन्धवदनादिता ।
तेनेयं व्यवहारात् स्यात्कौटस्थ्येऽपि नित्यता ॥
यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" । [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० २८८-
२९०] इति,

एतदसंबद्धम्, अपौरुषेयत्वप्रतिपादकप्रमाणस्याभिद्धत्वात् । अथ वर्णक्रमस्यापौरुषेयत्वमभ्युप- २०
गम्यते, तदप्यचारु, वर्णानां नित्यत्वेन कालकृतस्य तत्नुपपत्तेः, व्यापकत्वेन देशकृतस्य मुक्ता-
वलीमुक्ताफलमालावद् अप्यसंभवात् ।

अथ वर्णानामपौरुषेयत्वमङ्गीक्रियते, तदप्यसङ्गतम्, "य एव लौकिकाः शब्दास्त एव
वैदिकाः" इत्यभिधानाद् वेदपाठोऽध्ययनात्मपि प्रमाणं स्यादिति तदर्थानुष्ठानं भवतः
प्रसज्यते । लौकिके च वाक्ये यो विसंवादः क्वचिदुपलभ्यते स भवदीया न प्राप्नोति । अथ २५
लौकिक-वैदिकशब्दयोर्भेदोऽभ्युपगम्यते, तथा (तदा) शाखादिरसमञ्जसवाद्युपगमात् सर्वेषु-
रुषाणां न तेषां यथावस्थितवेदार्थपरिज्ञानम्, स्वयं वेदोऽपि न भवतां वेदार्थं प्रतिपादयति,
नापि वेदार्थप्रतिपादकमपौरुषेयं वेदव्याख्यानमवगतार्थं सिद्धं येन ततो वेदार्थप्रतिपत्तिः स्यादिति
व्याख्यानुसारेण वेदशब्दार्थप्रकल्पनमपि तद्वदभ्युपगमेऽनुपपन्नमिति न वेदार्थप्रतिपत्तिः । अपौरुषेयत्वमभ्युपग-
न वैदिक-लौकिकशब्दयोर्भेदाभ्युपगमः श्रेयानिति लौकिकवद् वैदिकस्यापि पौरुषेयत्वं वेदार्थप्रतिपादकत्वं, ३०
तत्त्वम् । न च लौकिक-वैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपाविशेषे, तद्व्यतिरेकेण विशेषो वियत् यतो वैदिका अपौ०
अनुपार्थमाणोऽत्र पुरुषेणाध्ययने संभवति (समाने) अपरो विशेषो विषयस्याऽऽ... न च विद्वत्वे
रुषेयाः, लौकिकाः पौरुषेयाः स्युः । तथा नियोगो वाक्यस्यापकमुभयोरपि । न च ...
पुरुषेच्छावशात् अर्थप्रतिपादकत्वं युक्तम्, उपलभ्यते च यत्र पुरुषैः सङ्केतितकालमर्थप्रतिपादकेन प्रति
पादयन्तः । अन्यथा निर्योगाद्यर्थे नत्वति प्रसङ्गः स्यात् । अतः पौरुषेयत्वमनुमानादपि सिद्धम् ।
तथाहि—ये मत्प्रचिन्त्यमानाऽविशिष्टास्ते पौरुषेयाः, यथाऽभिनवकूप-प्रासादादिरचनाऽविशिष्टा
जीर्णकूप-प्रासादादयः, मत्प्रचिन्त्यवचनरचनाऽविशिष्टं च वैदिकं वचनमिति प्रयोगः । न चायमप्र-
सिद्धविशेषणः पक्षः, अभिनव-
कार्तिको हेतुः, वैदिकीनां रचनानां प्रत्यक्षेण उपलब्धेः । नाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, अभिनव-

१ पृ० ११ पं० ६ । २ पृ० ११ पं० १० । ३ पृ० ११ पं० १० । ४ पृ० १४ पं० ३ । ५ पृ० ११
पं० १८ । ६ पृ० १४ पं० ११ । ७ पृ० १४ पं० ११ । ८ भा०, पु०, वा०, बृ० विना ... । [illegible]
भा०, पु० । [illegible] ... । ९ [illegible] । विशेषं भा०, पु०, ...
[illegible] (पृ० ११६, पं० ६-७) । १० ... । ११ ...
[illegible] भा० विना । १२ विशेषणादर्श-भा०, पु०, ...

कूप-प्रासादादिषु पुरुषपूर्वकत्वेऽस्य साध्यधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य सिद्धत्वात्।
स्वरूपासिद्धत्वम्, वैदिकीषु वचनरचनासु विशेषग्राहकप्रमाणाभावेन तथाभावात्।
माण्याभावलक्षणो विशेषस्तत्र इति शक्यमभिधातुम्, तथाभूतस्य विशेषस्य
षेयत्वानिराकरणात्। यादृशो हि विशेष उपलभ्यमानः पौरुषेयत्वं निराकरोति
५स्याभावादविशिष्टत्वमुच्यते, न पुनः सर्वथा विशेषाभावात्; एकान्तेनाविशिष्टस्य
घात्। अप्रामाण्याभावलक्षणश्च विशेषो दोषवन्तमप्रामाण्यकारणं पुरुषं निराकरोति,
वन्तमप्रामाण्यनिवर्तकम्। न च गुणवतः पुरुषस्याभावात् अन्यस्य च तेन विशेषेण
सिद्धमेवापौरुषेयत्वं वेदे इत्यभ्युपगमनीयम्, अपौरुषेयत्वस्य निराकृतत्वात्;
प्रामाण्याभावलक्षणस्य विशेषस्याभावप्रसङ्गात्। न च गुणवतः पुरुषस्यान्येन
१०मिति तथाभूतविशेषस्याभावाद् नासिद्धो नररचितवचनरचनाऽविशिष्टत्वलक्षणो हेतुः।
येषु प्रासादादिषु [illegible]
अथापौरुषेयेष्वदृष्टमपि नररचितरचनाऽविशिष्टत्वं तत्र विरोधाभावादाशङ्क्यमानं
व्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकम्, न; अपौरुषेयेष्वपि नररचितरचनाऽविशिष्टत्वस्य भावे
निश्चितेषु प्रासादादिषु सकृदपि तस्य सद्भावो न स्यात्, अन्यहेतुकस्य ततः
१५भावे वा तद्धेतुक एवासाविति नापौरुषेये तस्य सद्भावः शङ्कनीयः। अत एव न विरुद्धः,
धर्मत्वे सति विपक्ष एव वृत्तिर्यस्य स विरुद्धः, न चास्य विपक्षे वृत्तिरिति प्रतिपादितम्।
कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाऽप्रयोजकत्वानि हेतोर्दोषाः सम्भवन्ति। तथाहि–
प्रबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वमुच्यते, न च यत्र
भूतो हेतुर्धर्मिणि प्रवर्तमानः स्वसाध्यं व्यवस्थापयति तत्रैव प्रमाणान्तरं प्रवृत्तिमासादयत्
२०धर्मं व्यावर्त्तयति; एकस्यैकदैकत्र विधि-प्रतिषेधयोर्विरोधात्। तत्र बाधाऽविनाभावयोः
इति न कालात्ययापदिष्टत्वमविनाभूतस्य हेतोर्दोषः संभवति।
रीतधर्मसाधकस्य प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य तत्रैव धर्मिणि सद्भाव उच्यते, न
भूतहेतुसाधितधर्मणो धर्मिणो विपरीतत्वं संभवतीति न विपरीतधर्माधायिनो हेत्वन्तरस्य
त्तिरिति न प्रकरणसमत्वमविनाभूतस्य हेतोर्दोषः। अप्रयोजकत्वं तु
२५णामन्यतमरूपाभावः, न च प्रकृते हेतौ तदभाव इति दर्शितम्। अथाऽनुमानलक्षणयुक्तस्य प्रत्यनु-
मानस्यापौरुषेयत्वसाधकस्य सद्भावात् प्रकरणसमता प्रकृतस्य हेतोः, अनुमानबाधितत्वं वा पक्ष-
दोषः; प्रत्यनुमानं च दर्शितम्–

"वेदाध्ययनमखिलं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययनं यथा"॥ [श्लो० वा० सू० ७, श्लो० ३६६] इति।

३०न चैतदाशङ्कनीयम्–एवंविधे प्रत्यनुमानेऽभ्युपगम्यमाने कादम्बर्यादीनामप्यपौरुषेयत्वसिद्धिः,
यतस्तेषु बाणादीनां कर्तॄणां निश्चयः; तथाहि–कालिदासकृतत्वेन कुमारसंभवादीनि काव्यानि
अविगानेन स्मर्यन्ते। अथ वेदेऽपि कर्तृस्मरणमस्ति, तथा च केचिद् हिरण्यगर्भं वेदानां कर्तारं
स्मरन्ति, अपरे अष्टकादीन् ऋषीन्, सत्यम्, अस्ति न त्वविगीतं यथा भारतादिषु, तथा छिन्नमूलं
च। स्मरणस्यानुभवो मूलम्, न च वेदे कर्तृस्मरणस्य केनचित् प्रमाणेन मूलानुभवो व्यवस्थापयितुं
३५शक्यः; यदपि कर्तृसद्भावप्रतिपादकं वचनं कैश्चित् कृतम्–"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" [ऋग्वे०
अष्ट० ८ मं० १०, सू० १२१] इत्यादि, तदपि मन्त्राऽर्थवादानां श्रूयमाणेऽर्थे प्रामाण्यायोगाद् न
तत्सद्भाववेदकम्। तदुक्तम्–

"भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते।
वेदे तु तत्स्मृतिर्या तु साऽर्थवादनिबन्धना"॥ [श्लो० वा० सू० ७, श्लो० ३६७],

४०एतदप्ययुक्तम्। यतः किमत्र प्रतिसाधनत्वेन विवक्षितम्? किमध्ययनशब्दवाच्यत्वम्, उत वर्तु-

---

१ न च प्रामाण्याभावलक्षणो भा०, वा०, प० विना सर्वत्र। २ निश्चितेषु एषु प्रासा–गु०। ३ पृ० पं० ११। ४ धर्मिणि गु०। ५ पृ० १९ पं० २६।

…म्? पूर्वस्मिन् पक्षे निर्विशेषणो वा हेतुरपौरुषेयत्वप्रतिपादकः, कर्त्रस्मरणविशिष्टो वा ?
…दस्य निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् । किंच, किं यथाभूतानां
…स्मरणपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवास्मर्यमाणकर्तृकत्वं साधयति, उत
…थाभूतानाम् ? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । अथान्यथाभूतानां तदा सन्निवेशादि-
…प्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतानामेव साधयति न च सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थ-
…शक्तिवैकल्येन अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्यस्येष्टत्वात्, स्यादेतद् यदि
…प्रणायामभूतार्थप्रतिपादने ऽप्रामाण्याभावः सिद्धः स्यात्, यावता गुणवत्प्रणेतुरभावे तद्दर्शन-
…नेतृत्वे दोषनिरासात् सापवादं प्रामाण्यमित्युक्तम् । तथाभूतां च प्रेरणामतीन्द्रियदर्शनशक्ति-
…शिवा सापि कर्तुं समर्था इति गुणवत्प्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धि-
…हेतुः सिद्धसाधनं न स्यात् ! अथ न गुणवत्प्रणेतृकृतत्वेन चोदनाया अप्रामाण्यनिवृत्तिः किन्त्वर्था-
…त्वेनैव, ततो नायं दोषः । ननु कुतः पुनरपौरुषेयत्वं चोदनाया अवगतम् ? यदन्यतोऽनुमानात्
तदा तत्र एवापौरुषेयत्वसिद्धेरयं प्रकृतमनुमानम् । अत एतदनुमानाधेत्, अन्यतोऽनुमानादपौरु-
षेयत्वसिद्धौ प्रेरणाया अप्रामाण्याभावः, तदभावाच्च तथाभूतप्रणेत्रभावेन सर्वपु-
…तदानीमीदृशत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः । अतः स्थितमेतत्—तथाभूतानां तथाभूताश्च-
कसाधने सिद्धसाधनम्, तत्र निर्विशेषणो हेतुः प्रकृतोऽपौरुषेयत्वं साधयति । अथ सविशेषणो
हेतुः पूर्वोक्तः प्रकृतसाध्यगमकस्तदा विशेषणस्यैव केवलस्य गमकत्वाद् विशेष्योपादानमनर्थकम् ।

नन्वस्तु विशेषणस्यैव गमकत्वं सर्वथा अपौरुषेयत्वमिष्टा नः प्रयोजनमिति चेत्, असदेतत् ।
यतः कर्त्रस्मरणं विशेषणं किमभावाख्यं प्रमाणम्, अर्थापत्तिः, अनुमानं वा ? यदभावाख्यमिति
पक्षः, स न युक्तः; अभावप्रमाणस्य प्रामाण्याभावात् । किंच, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिनिब-
न्धना अस्य प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते भवता "प्रमाणपञ्चकं यत्र" [श्लो० वा० सू० ५, अभाव० श्लो० १] इत्यादिविधानात्, न च प्रमाणपञ्चकस्य वेदे पुरुषसद्भावाऽऽवेदकस्य निवृत्तिः, नररचितरचनाऽवि-
शिष्टस्य पौरुषेयत्वप्रतिपादकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात् । न चास्याऽप्रामाण्यमभिधातुं शक्यम्,
यतोऽस्याऽप्रामाण्यं किम् अभावप्रमाणबाधितत्वेन, उत स्वसाध्याविनाभावित्वाभावेन ? तत्र न
तावदभावप्रमाणबाधितत्वेन, चक्रकदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—न यावदभावप्रमाणप्रवृत्तिर्न तावत्
प्रस्तुतानुमानबाधा, यावच्च न तस्य बाधा न तावत् सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तिः, यावच्च न तस्य
निवृत्तिर्न तावत् तन्निबन्धना अभावाख्यप्रमाणप्रवृत्तिः, तदप्रवृत्तौ च नानुमानबाधेति दुरुत्तरं
चक्रकम्, तथाभावप्रमाणबाधितत्वात् प्रस्तुतानुमानस्याप्रामाण्यम् । न चाबाधितत्वमनुमानप्रा-
माण्यनिबन्धनम्—तथाऽभ्युपगमे तस्य प्रामाण्यमेव न स्यात्, तस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् । तथाहि—
बाधाऽभावो नानुपलम्भाद्विधीयते, विद्यमानबाधकस्यापि बाधानुपलम्भस्य भावात् । नापि बाध-
काभावज्ञानात्, यतस्तदपि ज्ञानं यदि तदैव बाधकाभावं निश्चाययति तदा न तत् प्रामाण्यनि-
बन्धनम्, तथाभूतज्ञानस्य 'संभवद्बाधकेऽपि भावात् । अथ सर्वदा तद् बाधकाभावं निश्चाययति,
तदसत्, 'न पूर्वं बाधकस्य प्रवृत्तम्, नाप्युत्तरकालं प्रवर्तिष्यते' इत्येवंभूतस्य ज्ञानस्यार्वाग्दृशा-
मसंभवात् । भावे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वाद् न प्रेरणैव धर्मे प्रमाणम्' इत्यन्ययोगव्यवच्छेदेन तद्विषयत्वं
स्यामाण्याधारणोपपत्तिः स्यात्—किन्तु निश्चितस्वसाध्याविनाभूतलिङ्गप्रभवत्वम् । स्वसाध्या-
विनाभावनिश्चायकं च प्रकृतस्य हेतोः पौरुषेयत्वेन कार्यकारणभावनिश्चायकम्, तदेव च
स्वसाध्यविपर्यये तस्य सद्भावबाधकम्, तस्य च प्रकृते हेतौ सत्त्वेन दर्शितत्वाद् न तत्प्रसाध्य-
मानस्याप्रामाण्यम् । अत एव स्वसाध्याविनाभावित्वाभावेन तस्य अप्रामाण्यम् इति द्वितीयोऽपि
पक्षो न युक्तः; तथाभावाख्यं कर्त्रस्मरणलक्षणं प्रमाणम् अपौरुषेयत्वसाधकम्, नापि पौरुषेयत्वबा-
धकम् । अथ अर्थापत्तिः कर्त्रस्मरणम्, तदप्यसङ्गतम्, अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावस्य प्रतिपादयि-
ष्यमाणत्वात् । तदुपन्यासस्य पक्षस्य दूषितत्वात् । अथानुमानम्, तदप्यसङ्गतम्, 'अपौरुषेयो …
कर्त्रस्मरणात्' इत्येवंप्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणत्वदोषात् । अथ 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति …
दोषाच्च व्यधिकरणत्वदोषस्तर्हि असर्यमाणकर्तृकत्वं भारतादिषु निश्चितकर्तृकेष्वपि विद्यत …

… । २ पृ० ११ पं० २१ । ३ पृ० ३१ पं० २५ । ४ संमताद् …
… । पृ० ४० पं० ११ ।

कान्तिकत्वम्। अथ आगमान्तरे वेदे कर्तुः स्मरणात् ततो व्यावृत्तमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं विशेषणत्वेन
व्याख्यात इति नानैकान्तिकत्वम्, न; तत्रापि कर्तुः स्मरणस्य भवता प्रमाणत्वेनानभ्युपगमात्,
अभ्युपगमे वा वेदेऽपि कर्तुः स्मरणात् 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति प्रतिवाद्यसिद्धो भवन्
भवतोऽप्यसिद्धः स्यात्। अथ वेदे [illegible] कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेः कर्तृस्मरणमसत्यम्। तथाहि-
५ केचिद् हिरण्यगर्भम्, अपरेऽष्टकादीन् वेदस्य कर्तॄन् स्मरन्तीति कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिः। नन्वेवं
कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवासत्यं स्यात् तत्र, न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्या-
दीनामपि कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेः कर्तृमात्रस्मरणस्यासत्यत्वेन तत्राप्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य सद्भावात्
पुनरप्यनैकान्तिकत्वं प्रकृतहेतोः। अथ वेदे कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिरिति
तत्र कर्तृस्मरणमसत्यम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेष एव विप्रतिपत्तिर्न कर्तृमात्रे, तेन तत्र कर्तुः
१० स्मरणस्य निर्बाधस्य सत्यत्वाद् नास्मर्यमाणकर्तृकत्वं तेषु वर्तत इति नानैकान्तिकत्वम्। ननु 'वेदे
सौगताः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः' इत्येवं कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेर्यदि कर्तृस्मरणं मिथ्या
तदा कर्तृस्मरणवद् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमप्यसत्यं स्यात्, विप्रतिपत्तेरविशेषात्; तथा च पुनरप्य-
सिद्धो हेतुः। एतेन 'सत्यम्, वेदे कर्तृस्मरणमस्ति न त्वविगीतं, यथा भारतादिषु' इति निरस्तम्।
यदप्युक्तम् 'तथा छिन्नमूलं च वेदे कर्तृस्मरणम्। तत्रानुभवो मूलम्, न चासौ तत्र तद्विषयत्वेन
१५ विद्यते' इति, तदप्यसङ्गतम्; यतः किं प्रत्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलत्वम्, उत
प्रमाणान्तरेण? तत्र यदि प्रत्यक्षेणेति पक्षस्तदा वक्तव्यम्—किं भवत्संबन्धिना प्रत्यक्षेण तत्र तदनु-
भवाभावः, उत सर्वसंबन्धिना तत्र तदनुभवाभावः? यदि भवत्संबन्धिना, तदाऽऽगमान्तरेऽपि
तत्कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावा-
दनैकान्तिकः पुनरपि हेतुः। अथ सर्वसंबन्धिना प्रत्यक्षेणाननुभवः, असावसिद्धः; न ह्यर्वाग्दृशा
२० 'सर्वेषामत्र तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षं न प्रवृत्तिमत्' इति निश्चेतुं शक्यमिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्न-
मूलत्वासिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। अथ प्रमाणान्तरेण तदनुभवाभावः
तत्रापि वक्तव्यम्—आगमलक्षणं किं तत् प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते, उत अनुमानस्वरूपम् अपरस्य
प्रामाण्यासम्भवात्? तत्र यद्यागमलक्षणेन तदननुभव इति पक्षः, स न युक्तः, "हिरण्यगर्भः सम-
वर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८, मं० १०, सू० १२१] इत्यादेरागमस्य तत्र तत्सद्भावावेदकस्य संभ-
२५ वात्। न च मन्त्रार्थवादानां स्वरूपार्थे प्रामाण्याभाव इति वक्तुं शक्यम्, यतो मन्त्रार्थवादानां
स्वाभिधेयप्रतिपादनद्वारेण कार्यार्थोपयोगिता; तेषां तत्राप्रामाण्ये विध्यर्थाङ्गताऽपि न स्यात्।
अथानुमानेन तत्र तदननुभवः, सोऽपि न युक्तः; अनुमानेन तत्र तदनुभवस्य प्रतिपादितत्वात्।
अथानुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं भवद्भिर्हेतुत्वेनोच्येत तदा पूर्वोक्तप्रकारेणासिद्धत्वाऽनै-
कान्तिकत्वे स्याताम्, न तु तत्कर्त्रनुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः किन्तु तदभावपूर्वकम्।
३० नन्वत्रापि यदि तदभावः प्रमाणान्तरात् सिद्धस्तदाऽस्यानुमानस्य वैयर्थ्यम्। न च तदभावप्रति-
पादकमन्यत् प्रमाणमस्तीत्युक्तम्। अस्मादेव अनुमानात् तदभावसिद्धिस्तदाऽतोऽनुमानात् तद-
भावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं सिध्यति, तत्सिद्धौ चातोऽनुमानात् तदभावसिद्धिरिती-
तरेतराश्रयदोषात् तदवस्थं सविशेषणस्याप्यस्य हेतोरसिद्धत्वम्। अथ मतं यत्र सिद्धकर्तृकेषु
भावेष्वस्मर्यमाणकर्तृकत्वं तत्र कर्तुः स्मरणयोग्यता नास्तीति निर्विशेषणस्यानैकान्तिकत्वम्। वैदि-
३५ कीनां तु रचनानां सति पौरुषेयत्वेऽवश्यं पुरुषस्य कर्तुः तदर्थानुष्ठानसमयेऽनुष्ठातृणां स्मरणं स्यात्,
ते हि अदृष्टफलेषु कर्मस्वेवं निर्विचिकित्साः प्रवर्त्तन्ते यदि तेषां तद्विषयः सत्यत्वनिश्चयः, तस्या-
प्येवंभावो यदि तदुपदेष्टुः स्मरणम्, यथा पित्रादिप्रामाण्यवशात् स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदु-
पदेशात् प्रवर्त्तन्ते-पित्रादिभिरेतदुपदिष्टं तेनानुष्ठीयते—एवं वैदिकेष्वपि कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु तत्र
स्मरणं स्यात्; न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातॄणां त्रैवर्णिकानां कर्तुः स्मरणमस्ति, अतः स्मरण-
४० योग्यस्य कर्तुरस्मरणात् अपौरुषेयो वेदः; एवं चायं हेत्वर्थः-कर्तुः स्मरणयोग्यत्वेऽपि सति अस्मर्य-
माणकर्तृकत्वात् अपौरुषेयो वेदः। न चैवंविधस्य हेतोः सिद्धकर्तृकेषु भावेषु वृत्तिः, अतो नानैका-
न्तिकः; यत्र पौरुषेयत्वं तत्र सविशेषणो हेतुर्न संभवतीति विरुद्धत्वमपि न [illegible], विपक्षे वर्तमानः

१ पृ० ४० पं० ११। २ पृ० ४० पं० २३। ३ स्वरूपेऽर्थे भा०। ४ पृ० ३६ पं० २१। ५ पृ० ३६ पं० १८- पृ० ३१ पं० ५। ६ "ब्राह्मण-वैश्य-क्षत्रियाणाम्" पु०, भा० टि०।

सन्देहोऽस्तु विरुद्ध उच्यते, अत्र तु सविशेषणस्य प्रसिद्धपौरुषेये वस्तुन्यप्रवृत्तिः, नापि सपक्षे सामान्यादौ सत्त्वम्। अतः परिशुद्धान्वय-व्यतिरेकहेतुसद्भावात् कर्तृस्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् अपौरुषेयो वेदः सिध्यति; तदयुक्तम्; आगमान्तरेऽपि 'कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यस्य हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणाभावेन सद्भावसंभवात् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकत्वस्य तदवस्थत्वात्। किञ्च, विपक्षविरुद्धं हि विशेषणं विपक्षाद् व्यावर्तमानं स्वविशेष्यमादाय निवर्तेत इति युक्तम्, न च पौरुषेयत्वेन सह कर्तुः स्मरणयोग्यत्वस्य सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितलक्षणो वा विरोधः सिद्धः; सिद्धौ वा तत एव साध्यसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्यर्थम्। यदप्युक्तम् 'तदर्थानुष्ठानसमयेऽवश्यंतया पूर्वदर्शितानामनिश्चितप्रामाण्यानामप्रवृत्तिप्रसङ्गात् सति कर्तरि तत्स्मरणं स्यात्, न चाभियुक्तानामपि तदस्ति' इति, तद् आगमान्तरेऽपि समानं नवेति चिन्त्यतां स्वयमेव। न चायं नियमः—अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्ते, न हि पाणिन्यादिप्रणीतव्याकरणप्रतिपादितशब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदनुष्ठातारोऽवश्यंतया व्याकरणप्रणेतारं पाणिन्यादिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्त इति दृष्टम्; निश्चितसमयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणापि विलम्बेन 'भवति' आदिसाधुशब्दोच्चारणदर्शनात्। तत् स्थितमेतत्—सविशेषणस्यापि 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति हेतोर्वादिसंबन्धिनोऽनैकान्तिकत्वम्, प्रतिवादिसंबन्धिनोऽसिद्धत्वम्, सर्वसंबन्धिनोऽपि तद्वैवेति नास्माद्धेतोरपौरुषेयत्वसिद्धिः। अतोऽपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्छासनस्यापौरुषेयत्वासंभवे यदि सर्वज्ञप्रणीतत्वं नाभ्युपगम्यते तदा प्रामाण्यमपि न स्यात्, तथा च 'धर्मे प्रेरणा प्रमाणमेव' इत्ययोगव्यवच्छेदेनावधारणमनुपपन्नम्। अथ प्रेरणाप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं सर्वज्ञः प्रेरणाप्रणेताऽभ्युपगम्यते तदा "चोदनैव च भूतम्, भवन्तम्, भविष्यन्तम्, सूक्ष्मम्, व्यवहितम्—एवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्" इत्याद्यभिधानमसङ्गतं प्राप्नोतीत्युभयतः पाशारज्जुर्मीमांसकस्य। तत् स्थितमेतद् आचार्येण मीमांसकापेक्षया प्रसङ्गसाधनमेतदुपन्यस्तम्-यदि निदं शासनमभ्युपगम्यते भवद्भिस्तदा जिनानां तत्-जिनप्रणीतम्-अभ्युपगन्तव्यमिति॥

[सर्वज्ञवादः]

[पूर्वपक्षः—सर्वज्ञसत्तानिरसनम्]

अथ भवतु प्रेरणाप्रामाण्यवादिनां मीमांसकानामेतत् प्रसङ्गसाधनम्, ये तु तदप्रामाण्यवादिनस्तार्किकास्तान् प्रति, स्वप्रतिपत्तौ वा भवतः किं प्रमाणम्? न च प्रमाणाविषयस्य सद्व्यवहारविषयत्वं युक्तम्। तथाहि—ये देश-काल-स्वभावविप्रकर्षवन्तः सदुपलम्भकप्रमाणविषयभावमनापन्ना भावा न ते प्रेक्षावतां सद्व्यवहारपथावतारिणः, यथा नाकपृष्ठादयस्तथात्वेनाभ्युपगमविषयाः, तथा च समस्तवस्तुविस्तारव्यापिज्ञानसंपत्समन्वितः पुरुष इति सद्व्यवहारप्रतिषेधफलाऽनुपलब्धिः। न चासिद्धो हेतुः। तथाहि—सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानाङ्गनालिङ्गितः पुरुषः प्रत्यक्षसमधिगम्यो वा अभ्युपगम्येत, अनुमानादिसंवेद्यो वा? न तावत्प्रत्यक्षगोचरः, प्रतिनियतसंनिहितरूपादिविषयनियमितसाक्षात्करणस्वभावा हि चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभा प्रत्यया न परस्थं संवेदनमात्रमपि तावदालम्बितुं क्षमाः किमङ्ग? पुनरनाद्यनन्तातीताऽनागतवर्तमान-सूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारिसंवेदनविशेषम्, तद्व्याप्तं वा पुरुषम् अविषये चक्षुरादिकरणप्रवर्तितस्य ज्ञानस्य प्रवृत्त्यसंभवात्? संभवे वाऽन्यतमकरणप्रवर्तितस्यापि ज्ञानस्य रूपादिसकलविषयग्राहकत्वेन संभवात् शेषेन्द्रियपरिकल्पना व्यर्था। न च सूक्ष्मादिसमस्तपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याग्रहणे तद्ग्राहकत्वस्यापि तद्गतस्य तेनाग्रहणात्। तदग्रहे च तद्धर्माध्यासितसंवेदनस्याभिन्नस्यापि न ग्रहणम् [illegible]। नाप्यनुमानतः सकलपदार्थज्ञप्रतिपत्तिः, अनुमा [illegible] द्वयमासादयत् प्रमाणतामाप्नोति, प्रतिबन्धग्रा [illegible]

१ पृ० ४२ पं० १५। २-व्यविलम्बित 'भवति'-वा०, पु०, ल०, गु०। ३ सूक्ष्मसम्पद्गृहीत—भां०, मां०, गु०। ४ "चोदना हि भूतम्, भवन्तम्, भविष्यन्तम्, सूक्ष्मम्, व्यवहितम्, विप्रकृष्टम्-इत्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्"-मीमां० शाब० सू० १, १, २।

गृह्यते, उतानुमानेन ? न तावत्प्रत्यक्षेण, अस्य सम्बद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात् प्रत्यक्ष-
नियतनिमित्तहेतुविषयग्रहणेऽप्यसमर्थत्वात्; न हि सकलगतार्थावधिमता तद्गतविषयागमो विज्ञातुं
शक्यः । नाप्यनुमानेन तद्गतविषयागमः, तथाभ्युपगमेऽनवस्थे-तरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः ।
न चाऽदृष्टसम्बन्धपक्षेऽनवगम्यमानमनुमानं प्रमाणतामासादयति । तथा, धर्मिधर्मसम्बन्धग्रह-
५ णोऽपि न प्रत्यक्षतः, अनवगतसर्वज्ञप्रत्यक्षस्य तत्सम्बन्धग्रहणाप्रवृत्तेः; प्रवृत्तौ वाऽस्यैव सर्वविदः
सर्ववेदनात् अनुमानविकल्पनहेतुव्यापारवैयर्थ्यम् । न चानुमानतोऽप्यनवगतस्यावगमः, हेतु-
पक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैव धर्मिग्राहकस्याप्रवृत्तेः; न चाप्रतिपन्नधर्मिणो हेतुः प्रतिप-
न्नसाध्यप्रतिपत्तिहेतुरिति नानुमानतोऽपि सर्वज्ञप्रतिपत्तिः । किञ्च, सर्वज्ञसत्त्वायां साध्यायां धर्मी
दोषजातिं हेतुर्नातिवर्तते असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणाम् । तथाहि—सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये[1] किं
१० भावधर्मो हेतुः, उताभावधर्मः, आहोस्विदुभयधर्मः ? तत्र यदि भावधर्मस्तदाऽसिद्धः । अथा-
भावधर्मस्तदा विरुद्धः, भावे साध्येऽभावधर्मस्याभावाव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । अथोभय-
धर्मस्तदोभयव्यभिचारित्वेन सत्त्वासत्त्वेऽनैकान्तिकत्वमिति न सकलज्ञसत्त्वसाधने कश्चित्
सम्यग् हेतुः सम्भवति । अपि च, यद्यनियतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेतस्तदा तत्प्र-
तिपत्तिनियतागमाश्रयणं नोपपन्नं भवताम् । अथ प्रतिनियत एव कश्चिदर्हन् सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते तदा
१५ तत्साधने प्रयुक्तस्य हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यभावादसाधारणानैकान्तिकत्वादसा-
धकत्वम् । किञ्च, यत एव हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञस्तत एव बुद्धोऽपि न स्यादिति कुतः
प्रतिनियतसर्वज्ञप्रणीतागमाश्रयणमुपपत्तिमत् ? इति न कश्चित् सर्वज्ञसाधको हेतुः । अथ सर्वे
पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् अग्न्यादिवदिति तत्साधनहेतुसद्भावः, तदसत्; यतोऽत्र
किं सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सर्वपदार्थानां साध्यत्वेनाऽभिप्रेतम्[2], आहोस्विद् प्रति-
२० नियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वमिति कल्पनाद्वयम् । यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; प्रतिनियतरूपा-
दिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि प्रमेयत्वलक्षणस्य हेतोरुपल-
म्भात् हेतुविरुद्धत्व-साध्यविकलदृष्टान्तदोषद्वयाघातत्वात् । अथ द्वितीयः, सोऽप्यसङ्गतः; सिद्ध-
साध्यतादोषप्रसङ्गात् । तथा, प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्व-
व्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते, उत अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपम्, आहोस्विद् उभयव्यक्ति-
२५ साधारणसामान्यस्वभावम् इति विकल्पाः । तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः; विवादास्पदी-
भूतपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात्, सिद्धत्वे वा साध्यस्यापि हेतुवत् सिद्धत्वाद्
व्यर्थं हेतूपादानम्, तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽग्न्यादिलक्षणेऽसिद्धेः संदिग्धान्वयश्च हेतुः
स्यात् । अथ अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वं हेतुस्तदा तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरेष्वती-
न्द्रियेष्वसंभवादसिद्धो हेतुः; सिद्धौ वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्वसिद्धिरेव स्यात् तत्र चाविवाद
३० इति न हेतूपन्यासः सफलः । अथोभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुरिति पक्षः,
सोऽप्यसङ्गतः; अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रिय-इन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणस्य सामा-
न्यस्यासम्भवात्, न हि शावलेय-कर्क[3]व्यक्तिद्वयसाधारणमेकं गोत्वसामान्यमुपलब्धमिति प्रमे-
यत्वसामान्यलक्षणो हेतुरसिद्ध इति नानुमानादपि सर्वज्ञसिद्धिः । नापि शब्दात्, यतः शब्दोऽपि
तत्प्रतिपादकोऽभ्युपगम्यमानः किं नित्यः, उतानित्य इति कल्पनाद्वयम् । न तावद् नित्यः, सर्वज्ञबो-
३५ धकस्य नित्यस्याऽऽगमस्याभावात्, भावेऽपि तत्प्रतिपादकत्वेन तस्य प्रामाण्यासम्भवात्; कार्येऽर्थे
तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथानित्यस्तत्प्रतिपादक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; यतोऽनि-
त्योऽपि किं तत्प्रणीतः स तदवबोधकः, अथ पुरुषान्तरप्रणीत इति विकल्पद्वयम् । तत्र न सर्वज्ञ-
प्रणीतः स तदवबोधक इति पक्षो युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—तत्प्रणीतत्वे तस्य
प्रामाण्यम्, ततः तस्य तत्प्रतिपादकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । नापि पुरुषान्तरप्रणीतस्तद-
४० वबोधकः, तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रमाणत्वात्; तन्न शब्दादपि तस्य सिद्धिः । नाप्युपमानात् तत्सिद्धिः,
यत उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनं तदभ्युपगम्यते; न चोपमानभूतः कश्चित् सर्वज्ञत्वेन
प्रत्यक्षतः सिद्धो येन तत्सादृश्यादन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात् साध्यते; सिद्धौ वा प्रत्यक्षत एव सर्व-

---

१ प्रमेयकमलमार्तण्डे तु "सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये भावधर्मो हेतुः, अभावधर्मो वा स्यात्, उभयधर्मो वा ? प्रथमपक्षे असिद्धः, भावे असिद्धे तद्धर्मस्य सिद्धिविरोधात्"–पृ० ६८ पं० १५ । २ साध्यत्वेऽभि–मां० । ३ कर्क-श्वेतोऽश्वः ।

ज्ञस्य सिद्धत्वान्नोपमानादपि तत्सिद्धिः[1]। सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्य कस्यचिदभावान् नार्थापत्तेरपि सर्वज्ञत्वसिद्धिः। न चागमप्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानस्य तत्परिकल्पकत्वम्, अतीन्द्रिये स्वर्गाद्यर्थे तत्प्रणीतत्वनिश्चयमन्तरेण तस्य प्रामाण्यानिश्चयात्; अपौरुषेयत्वादपि तत्प्रामाण्यसंभवात् कुतस्तस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानता? तन्नार्थापत्तितोऽपि तत्सिद्धिः। अभावाख्यस्य तु प्रमाणस्याभावसाधकत्वेन व्यापाराद् न तत्सद्भावसाधकत्वम्। न चोपमानाऽर्थापत्त्य-भावप्रमाणानां भवता प्रामाण्यमभ्युपगम्यते इति न तेभ्यस्तत्सिद्धिः। तदुक्तम्—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते॥
न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात्।
नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम्?॥" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११७-११९-११८]

ततो 'ये' देश-काल-' इत्यादिप्रयोगे नासिद्धो हेतुः। सद्व्यवहारनिषेधश्च अनुपलम्भमात्रनिमित्तः अनेकधाऽनेन अन्यत्र प्रवर्तित इति अत्रापि तन्निमित्तसद्भावात् प्रवर्तयितुं युक्तः।

{अथ 'यथाऽस्माकं तत्सद्भावाऽऽवेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतां तदभावाऽऽवेदकमपि नास्तीति सद्व्यवहारवदभावव्यवहारोऽपि न प्रवर्तयितव्यः। तथाहि-सर्वविदोऽभावः किं प्रत्यक्षसमधिगम्यः, प्रमाणान्तरगम्यो वा? तत्र न तावत् प्रत्यक्षसमधिगम्यः' यतः प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावाऽऽवेदकमभ्युपगम्यमानं 'किं सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न' इत्येवं प्रवर्तते, उत 'क्वचित् कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो नास्ति' इत्येवम् इति कल्पनाद्वयम्। तत्र यदि 'सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न' इति प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिस्तर्हि न सर्वज्ञाभावः, तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वात्, नहि सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण तदाधारमसर्वज्ञत्वमवगन्तुं शक्यम्, तत्साक्षात्करणे च कथं न तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वम्? इति नाद्यः पक्षः। द्वितीयेऽपि पक्षे न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति न प्रत्यक्षात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः। अथ न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकं किंतु निवर्तमानम्, ननु यदि निखिलदेश-कालाधारसकलपुरुषपरिषदाश्रितानन्तपदार्थसंवेदनव्यापकम् कारणं वा तत् स्यात् तदा तन्निवर्तमानं तथाभूतं सर्वज्ञत्वं व्यावर्तयेद् नान्यथा, अतथाभूतनिवृत्तौ तन्निवृत्तेरसिद्धेः, तथाऽभ्युपगमे वा स एव सर्वज्ञ इति न तेन तन्निषेधः। किंच, प्रत्यक्षनिवृत्तिर्यदि प्रत्यक्षमेव तदा स एव दोषः। अथ प्रत्यक्षादन्या तदाऽसौ प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? अप्रमाणत्वे नातः सर्वज्ञाभावसिद्धिः। प्रमाणत्वे नानुमानत्वम्, सर्वाऽऽत्मसंबन्धिन्यास्तन्निवृत्तेर्यथासङ्ख्यमसिद्धाऽनैकान्तिकत्वदोषद्वयसद्भावात्। न च तुच्छा तन्निवृत्तिस्तदभावज्ञापिका, तुच्छायाः केनचित् सह प्रतिबन्धाभावेन सर्वसामर्थ्यविरहेण च ज्ञापकत्वासम्भवात्। तन्न प्रवर्तमानम्, निवर्तमानं वा प्रत्यक्षं तदभावं साधयति। प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि तदभावो न तावदनुमानगम्यः, तदभावसाधकानुमानाभावात्। अथ 'विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत्' इत्यनुमानं तदभावसाधकम्, नन्वत्र किं प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, उत तद्विपरीतस्य, आहोस्वित् वक्तृत्वमात्रमिति वक्तव्यम्। यदि 'प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वात्' इति हेतुस्तदा विरुद्धो हेतुः, तथाभूतवक्तृत्वस्य सर्वज्ञे एव भावात्। अथ 'प्रमाणान्तरविसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वात्' इति हेतुस्तदा सिद्धसाधनम्, तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरप्यभ्युपगमात्। अथ वक्तृत्वमात्रं हेतुः, न, तस्य साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सहानवस्थानलक्षणस्य, तद्व्यवच्छेदस्वभावेन च परस्परपरिहारस्वरूपस्य च विरोधस्याभावाद् न ततो व्यावृत्तिसिद्धिरिति न स्वसाध्यनियतत्वम्, तदभावाच्च स्वसाध्यसाधकत्वम्। अथ सर्वज्ञो वक्ता नोपलब्ध इति ततो व्यावृत्तिसिद्धिः, न, सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासंभवात्-सर्वज्ञ एव वक्तृत्वमा-

---

१ पृ० ४१ पं० २६। २ तथाभूत भां०, वा०।

[illegible] सर्वज्ञान्तरेण वा तत् तत्र संवेदिष्यते इति न सम्भवः सर्वसंबन्धिनोऽनुपल-म्भस्य । अथ सर्वज्ञस्य [illegible] सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभवः ननु [illegible] कुतः [illegible]? अन्यतः प्रमाणात् चेत्, तत एव तदभावसिद्धेरस्य वैयर्थ्यम् । 'अत एवानुमानात्' इति न [illegible], इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्—सिद्धेऽस्मादनुमानात् सर्वज्ञाभावे [illegible] [illegible] हेतोः [illegible] स्यात्, तस्य च [illegible] [illegible] [illegible]। भवतु वा सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भस्य [illegible] [illegible] [illegible] सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भ इति न [illegible] [illegible] पुनः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकात् हेतोस्तदभावसिद्धिः? नापि सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भात् [illegible] [illegible], तस्य [illegible] [illegible]। न चैवंभूतादपि हेतोः [illegible], [illegible] न कश्चित् सर्वज्ञाभावमनुभवति, [illegible], [illegible]' इति तदभाव [illegible] [illegible] स्यात्। अन्यत्रापि हेत्वादौ दोषः समान इति सर्वानुमानोच्छेदः, तदनुमानस्य [illegible] [illegible] बाधकप्रमाणस्य [illegible]। न चात्रापि [illegible] इति वक्तुं युक्तम्, तदभावस्य हेतुबलप्रस्तावे [illegible]। किंच, सर्वज्ञवि-[illegible] [illegible] तदभावसाधनायोपन्यस्तमानः सर्वोऽपि हेतुरसाधारण इति [illegible]। अत [illegible] प्रमाणं प्रवर्तत [illegible] [illegible] हेतुस्तोमाभासत्वमिति नानुमानादेः सर्वज्ञा-[illegible]। [illegible] सर्वज्ञनीत्यावलम्बनादुपाधि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तदभावसिद्धिः। न च तदभावाभिधायकं किंचिद् वेदवाक्यं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—

"[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पुरुषं [illegible]" ॥ [[illegible]
३-१९]

[illegible] [illegible] [illegible] " [ ] इत्यादि । न च [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], तत्र [illegible] तदभावसिद्धिः। [illegible]नुमानात् तदभा-[illegible] [illegible] [illegible], यथा—

"[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ [[illegible] [illegible] [illegible] ५, [illegible]
[illegible] ३३]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ' यथा [illegible]

"[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]" ॥ [[illegible] [illegible] ३, [illegible] ११३],

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], यथा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]] [illegible]

[illegible]

पलभ्यमानस्यावगमकत्वस्याऽर्थस्य न भूयोदर्शननिमित्तः सपक्षे, अन्यथा 'लोहलेख्यं वज्रम्, पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्' इत्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ—व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्—किन्तु विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्तः, तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत् तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वं नावगतं न तावदर्थापत्तिप्रवृत्तिः, यावच्च न तत्प्रवृत्तिर्न तावदर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्तिः । अत एव यदुक्तम्—

"अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ॥
तेन संबन्धवेलायां संबन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यैव मन्तव्यः पश्चादस्त्वनुमानता" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, अर्थापत्ति० श्लो० ३०-३२] इत्यादि,

तन्निरस्तम्, एवमभ्युपगमेऽर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः, आहोस्वित् स्वसाध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्य इति ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किं तत् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मिण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्वित् दृष्टान्तधर्मिण्येव ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न कश्चिद् विशेषः । अथ द्वितीयः, स न युक्तः; नहि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति । न च तथात्वेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसाध्यं परिच्छेत्तुमिति युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । यत्र [illegible] सर्वोपसंहारेण
[illegible]
[illegible]
[illegible]
प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा 'सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभावात् कथं तत्र प्रवर्त्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियतत्वमवगमयेत् सत्त्वस्य । न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य च यथाक्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्त्यनुमानयोर्भेदोऽभ्युपगन्तुं युक्तः, अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमानात् तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणषट्कवादो विशीर्येत । नियमवतो लिङ्गात् परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविशेषात् 'न ततस्तद् भिन्नम्' इत्यभ्युपगमे स्वसाध्याविनाभूतादर्थादर्थप्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादर्थापत्तेः कथं नाभेदः ? तदेवं प्रमाणत्वेऽर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् अनुमानस्य च सर्वज्ञाभावप्रतिपादकस्य निषेधात् तन्निषेधे चार्थापत्तेरपि तदभावग्राहकत्वेन निषेधान्नार्थापत्तिसमधिगम्योऽपि सर्वज्ञाभावः । अभावाख्यं तु प्रमाणमप्रमाणत्वादेव न तदभावसाधकम् । प्रमाणत्वेऽपि किमात्मनोऽपरिणामलक्षणं तत्, आहोस्विदन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमिति ? तत्र यद्यात्मनोऽपरिणामलक्षणं तदभावसाधकमिति पक्षः, स न युक्तः; तस्य सत्त्वेनाभ्युपगते परचेतोवृत्तिविशेषेऽपि सद्भावेनानैकान्तिकत्वात् । अथान्यविज्ञानलक्षणमिति पक्षः, सोऽप्यसंबद्धः; यतः सर्वज्ञत्वादन्यद् यदि किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किं सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वम् अभ्युपगम्यते, आहोस्वित् कतिपयपुरुषव्यक्तिसमाश्रितमिति ? तत्र यदि सकलदेश-कालाश्रितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तत् सर्वज्ञाभावसाधकम्, तदयुक्तम्, सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणव्यतिरेकेण तदाधारस्य किञ्चिज्ज्ञत्वस्य विषयीकर्तुमशक्तेर्न तद्विषयस्य तदन्यज्ञानस्य सर्वज्ञाभावावगमनिमित्तत्वं युक्तम्, सर्वदेश-कालव्यवस्थि-

१ पृ० ४१ पं० ११ । २ संबन्धान्यतरो भा०, पु० । ३ पृ० [illegible] पं० ७ । ४—त्मकमिष-पु० । ५ पृ० ४५ पं० ११ ।

[illegible]साक्षात्करणे च स एव सर्वदर्शी इति न तदभावाभ्युपगमः श्रेयान्। अथ कतिपय[illegible] [illegible] किञ्चित्कालं तदन्यद् यद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं सर्वज्ञाभावादेरकम्, [illegible] [illegible] तदभावावगमे कतिपयपुरुष[illegible]स्यैव सर्वज्ञत्वेनाभावः सिध्येत्, न सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषेषु तथा च सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि कुत्रचित् कदाचित् [illegible] [illegible]। अथ सर्वज्ञस्य[illegible]तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तदाऽपि किं 'सर्वदा सर्वत्र सर्वैः सर्वज्ञो न' इत्येवं तत् प्रवर्तते, उत 'कुत्रचित् कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो न' इत्येवम्? तत्र नाद्यः पक्षः, सकलदेश-कालपुरुषसाक्षात्करणे तदाधारस्य तदभाव[illegible] [illegible] सर्वज्ञ[illegible] तदाधारस्य घटाभावस्येव, तत्साक्षात्करणे च तदेव सर्वज्ञत्वम् इति न तदभावसिद्धिः। अथ द्वितीयः पक्षस्तदा न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति तदेव सिद्धसाधनम्। '[illegible]' इत्यादि सर्वं प्रतिनिषिद्धमिति [illegible] [illegible] युक्तः, इत्यादि यत् तदभिनिविष्टाभिमतस्य सर्वज्ञादिनोऽभिधानम्।

इतो [illegible] 'अतीन्द्रियसर्वज्ञादिपदार्थसाधकं प्रत्यक्षादिप्रमाणं [illegible] प्रवर्तते' [illegible] [illegible]—अतीन्द्रियेषु [illegible] प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य [illegible] [illegible]—किन्तु [illegible] सर्वज्ञप्रतिषेधप्रतिपादकं युक्तिजालमिदिं यथा[illegible] [illegible]। अत एव तदभिप्रायप्रकाशनपरं भगवतो जैमिनेः सूत्रम्—"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" [जैमि० सू० १-१-४] इति, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किन्तु लोकप्रसिद्ध[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

संप्रयोगजत्वे न प्रत्यक्षम्, नापि शब्दस्याध्यम्' । प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेणैव 'यदि'अर्थोपक्षेपेण वार्त्तिककृताऽप्यभिहितम्—

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते ॥
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।
नूनं स चक्षुषा सर्वज्ञरसादीन् (सर्वान् रसादीन्) प्रतिपद्यते ॥ ५
यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्" ॥ [श्लो० चा० सू० २, श्लो० १११-११३]

पुनरप्युक्तम्—

"येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा-मेधादिभिर्नराः । १०
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ [ ]
यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूर-सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः" ॥ [श्लो० चा० सू० २, श्लो० ११४]
इत्यादि ।

तेनापि 'स्वतन्त्रानुमानाभिप्रायेणाश्रयासिद्धत्वादिदूषणम्' 'उपमानोपन्यासयुक्त्या चाऽशेषोपमा-१५ नोपमेयभूतपुरुषपरिषत्साक्षात्करणे उपमानं प्रवर्त्तते' इत्यादि दूषणाभिधानं च सर्वज्ञवादिनः स्वजा-ड्याविष्करणमात्रकमेव । *अतः 'अतीन्द्रियमर्थविदो न प्रत्यक्षं प्रवृत्तिद्वारेण निवृत्तिद्वारेण चाऽभाव-साधनम्'* इत्यादि सर्वमभ्युपगमवादाभिरलम् ।

यथानुमानेन सर्वज्ञाभावसाधने दूषणमभिहितम् 'किं प्रमाणान्तरसंवादार्थस्य वक्तृत्वात्' इत्यादि, तद् धूमाद्यनुमानेऽपि समानम् । [तथाहि—तत्रापि वक्तुं शक्यते—किं साध्य-२० धर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्तः, उत दृष्टान्तधर्मिसंबन्धी? तत्र यदि साध्यधर्मिसंबन्धी हेतुस्तदा तस्य दृष्टान्तेऽसंभवादनन्वयदोषः । अथ दृष्टान्तधर्मिसंबन्धी, सोऽसिद्धः, दृष्टान्त-धर्मिधर्मस्य साध्यधर्मिण्यसंभवात् । अथोभयसाधारणं धूमत्वसामान्यं हेतुस्तदा तस्य विप-क्षेऽनग्नौ विरोधासिद्धेः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन स्वसाध्यागमकत्वम् । अथ विपक्षेऽनग्नौ धूमस्यानुपलम्भाद् विरोधसिद्धेर्न सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वम्, नन्वत्रापि वक्तुं शक्यम्—सर्व-२५ संबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासंभवात् अनग्नौ देशान्तरे कालान्तरे वा केनचिद् धूमस्योपलम्भात् । तदुपलब्धिमतः कस्यचिदभावात् सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभव इति चेत्, केन पुनः प्रमाणेनानग्नौ धूमसत्त्वग्राहकपुरुषाभावः प्रतिपन्नः? यद्यन्यतः प्रमाणात्, तत एवानग्नेर्धूमस्य व्यावृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भलक्षणस्य विपक्षे धूमविरोधसाधकस्य प्रमाणस्याभिधा-नम् । अथ [illegible] भावः, ३० तत्संभवाच्च [illegible] सं-भवः, संभवे [illegible] भस्य [illegible] नैकान्तिकत्वात् । [illegible] न तु वक्तृत्वलक्षणस्य, [illegible] ग्राहकमिति चेत्, कः ३५ [illegible] भावलक्षणे वाभाव एव असौ, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षाऽनुपलम्भस्वभावम् । ननु किञ्चिज्ज्ञत्वस्य तद्व्यापकस्य वा रागादिमत्त्वस्य भावे एव वक्तृत्वस्य भावः स्यादन्यैव दृष्टः, तदभावे चाऽभाव एवोपलक्षण-निगतेनानुपलम्भतो ज्ञात इति कथं न विपर्यये सर्वज्ञत्वे वीतरागत्वे वा वक्तृत्वलक्षणस्य हेतो-र्बाधकं कार्यकारणभावलक्षणप्रतिबन्धग्राहकं प्रत्यक्षानुपलम्भाख्यं प्रमाणं दर्शनादर्शनशब्दवाच्यं ४०

१ –ता भा० । २ पृ० ४६ पं० १४ । ३ पृ० ४६ पं० २४-११ । ४ पृ० ४५ पं० १२ । ५ पृ० ४५ पं० १५ । ६ विपर्ययविरोधस्ता–भा० । ७ –व्याप्यावृत्ति–भा०, मा० ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] न इतरे भिन्नं
[illegible] । अतो
[illegible]
[illegible]
[illegible] प्रतिनियत [illegible]
[illegible]
१८ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
१५ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
२० [illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible] अद्वैतो [illegible]
२५ [illegible] न स्यात्, [illegible]
[illegible] इति [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
३० [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
३५ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
४० [illegible]
[illegible]

अथ यद् अभ्यासविकलचक्षुरादिजनितं प्रत्यक्षं तद् धर्मादिग्राहकं न भवतीति प्रसङ्गसाधनात् सिध्यति न पुनरभ्यासजन्यम्, चोदनावदभ्यासजस्य धर्मग्राहकत्वाविरोधात् । ननु किं तज्ज्ञानं प्रतिनियतचक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, उताभ्यासजनितम्, आहोस्वित् शब्दजनितम्, किंवाऽनुमानप्रभावितम्? तत्र यदि चक्षुरादिप्रभवम्, तदयुक्तम्; चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवस्य तज्ज्ञानस्य धर्मादिग्राहकत्वायोगात् । अत एव "यदि ५ षड्भिः" इत्यादिकं दूषणमत्र पक्षे । अथाभ्यासजनितं तदिति पक्षः-तथाहि-ज्ञानाभ्यासात् प्रकर्षतरतमादिक्रमेण तत्प्रकर्षसम्भवे तदुत्तरोत्तराभ्याससमन्वयात् सकलभावातिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यत इति, तदपि मनोरथमात्रम्; यतोऽभ्यासो हि नाम कस्यचित् प्रतिनियतशिल्पकलादौ प्रतिनियतोपदेशसद्भावतो जन्मतो जनस्य संभाव्यते न तु सर्वपदार्थविषयोपदेशासंभवः । न च सर्वपदार्थविषयानुपदेशज्ञानसंभवो येन तज्ज्ञानाभ्यासात् सकलज्ञानप्राप्तिः, १० तत्संभवे वा सकलपदार्थविषयज्ञानस्य सिद्धत्वात् किमभ्यासप्रयासेन? किंच, तदभ्यासप्रवर्तकं ज्ञानं यदि चक्षुरादिप्रतिनियतकरणप्रभवमन्येन्द्रियविषयरसादिगोचरम् अतीन्द्रियार्थगोचरं च स्यात् तदा पदार्थशक्तेः प्रतिनियतत्वेन प्रमाणसिद्धाया अभावात् प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसक्तिसद्भावात् सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । अथाभ्याससहायानां चक्षुरादीनामपि सर्वज्ञावस्थायामतीन्द्रियदर्शनशक्तिर्न च व्यवहारोच्छेदः, अस्मदादिचक्षुरादीनामनभ्यासदशायां शक्तिप्र- १५ तिनियमाद् अस्मदादय एव व्यवहारिण इति, एतदप्यसमीचीनम्; न ह्यत्यभ्यासे सत्यप्यन्यतो वा हेतोः कस्यचिदतीन्द्रियदर्शनं चक्षुरादिभ्य उपलभ्यते, दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्तीति । किंच, सर्वपदार्थवेदने चक्षुरादिजनितज्ञानात् तदभ्यासः, तत्सहायं च चक्षुरादिकं सर्वज्ञावस्थायां सर्वपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानं जनयतीति कथमितरेतराश्रयमेतत् कल्पनागोचरचारि चतुरचेतसो भवत इति न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तिक्षमः । अथ शब्दजनितं तज्ज्ञानम्, ननु शब्दस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्ये २० सर्वपदार्थविषयज्ञानसंभवः, तज्ज्ञानसंभवे च सर्वज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमितीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः । अत एवोक्तम्—

"नर्ते तदागमात् सिध्येद् न च तेनागमो विना" । [श्लोक० वा० सू० २, श्लो० १४२] इति ।

न च शब्दजनितं स्पष्टाभमिति न तज्ज्ञानवान् सकलज्ञ इत्यभ्युपगम्यते, एवं च प्रेरणाजनि- २५ तज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम्, अत एवोक्तम्—"चोदना हि भूतं भवन्तम्" इत्यादि, तन्न तृतीयपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः । अनुमानजनितज्ञानेन तु सर्ववित्त्वे न धर्मज्ञत्वम्, धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गत्वेनाभ्युपगम्यमानस्यार्थस्य तेन सह संबन्धासिद्धेः, असिद्धसंबन्धस्य चाऽज्ञापकत्वान्न ततो धर्माद्यनुमानम् इत्यनुमानजनितं ज्ञानं न सकलधर्मादिपदार्थाऽऽवेदकम् । किंच, तथाभूतपदार्थज्ञानेन यदि सर्वविदभ्युपगम्यते तदा अस्मदादीनामपि सर्ववित्त्वमति- ३० प्रसक्तम्, 'भावाभावोभयरूपं जगत्, प्रमेयत्वात्' इत्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात्; अस्पष्टं चाऽनुमानमिति तज्जनितस्याप्यवैशद्यसंभवान्न तज्ज्ञानवान् सर्वज्ञो युक्तः । अथानुमानज्ञानं प्रागविशदमपि तदेवाशेषपदार्थविषयं पुनःपुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामामादयद् वैशद्यभाग् भवति, दृष्टं चाभ्यासबलात् ज्ञानस्यानक्षजस्यापि काम-शोक-भयो-न्माद-चौरस्वप्नाद्युपप्लुतस्य वैशद्यम्, नन्वेवं तज्ज्ञानवद् अतीन्द्रियार्थविशिष्टज्ञानस्याप्युपप्लुतत्वं स्यादिति ३५ तज्ज्ञानवतः कामाद्युपप्लुतपुरुषवद् विपर्यस्तत्वम् । अथ यथा रजो-नीहाराद्यावरणापगमवृक्षादिदर्शनमविशदं तदावरणापाये वैशद्यमनुभवति एवं रागाद्यावारकाणां विज्ञानावैशद्यहेतूनामपाये सर्वज्ञज्ञानं विशदतामनुभविष्यतीति, असदेतत्; रागादीनामावरणत्वासिद्धेः, कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्वं लोके प्रसिद्धं न रागादीनाम् । तथाहि-रागादिसद्भावेऽपि कुड्याद्यावारकाभावे विज्ञानमुत्पद्यमानं दृष्टम्, रागाद्यभावेऽपि कुड्याद्यावारकसद्भावे न विज्ञानोदय इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां कुड्यादीनामेवाऽऽवर- ४० णत्वावगमो न रागादीनामिति न रागादय आवारका इति न तद्विगमोऽपि सर्वविद्विज्ञानस्य वैशद्यहेतुः ।

---

१ मन्दायम्-२००० । २ पृ० ४९ पं० ३ । ३ तदाऽर्थशक्तेः मां । ४ पृ० ४१ पं० ४ टिप्पणं दृश्यम् । ५-भरका-मां० ।-वरणका-गु० ।

किंच, सर्ववेदनं सर्वज्ञानेन किं समस्तपदार्थग्रहणम्, उत शक्तिगुणकम्, आहोस्वित् प्रधानभूतकतिपयपदार्थग्रहणम्? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तत्रापि वक्तव्यम्–किं क्रमेण तद्ग्रहणम्, आहोस्वित् यौगपद्येन? तत्र यदि क्रमेण तद्ग्रहणम् तदयुक्तम् अतीताऽनागतवर्तमानपदार्थानामपरिसमाप्तेः [illegible] अथ युगपत् अतीतानागतवर्तमानपदार्थ[illegible]

५ [illegible] प्रतिभासासंभवात्। [illegible]

[illegible]

१० [illegible] । अथ [illegible]

[illegible]

१५ [illegible] इति चेत्,

[illegible]

२० [illegible]

[illegible]

२५ [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] इति नायं दोषः, यदपि [illegible]
भासे क्वचिद् ज्ञाने समारोपः । न च क्रमभाविप्रतिभासग्राहकमेकं ज्ञानमिति वक्तुं युक्तम्,
प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात् अन्यथापि [illegible] भेदस्य, न च क्रमभाविप्र-
तिभासग्राहक[illegible] ज्ञाने [illegible] 'न सकलमेव ज्ञानं उत्पादानन्तरक्षणादिका-
५ वस्थायि इति [illegible] क्षणिका हि सा न कालान्तरमास्ते" [ ]
इति । अथ यदि [illegible] इन्द्रियं सविकल्पकज्ञानं जन-
यति तत्र [illegible] कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यति, तदप्यसङ्ग-
तम् । पूर्वप्रवृत्त[illegible] तदर्थमात्रग्रहणेऽप्यसामर्थ्यात् सुर-
दीनां च तदवगमज्ञानजननेऽशक्तेः । [illegible] प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामेव तदवगमज्ञानोत्पत्तिप्रस-
१० ङ्गाद् अकिञ्चित्करस्य स्मरणादेरनपेक्षणीयत्वात् परिमलस्मरणसव्यपेक्षस्य लोचनस्य 'सुरभि चन्दनम्'
इत्यत्र विषये गन्धादौ ज्ञानजनकत्वस्यैव तथापि तज्जनकत्वविरोधात् । अथ तत्स्मरणसव्यपेक्षलोच-
नव्यापारानन्तरं 'कार्यकारणभूते एते वस्तुनी' इत्येवमाकारज्ञानसंवेदनात् कार्यकारणभावावगमः
सविकल्पकप्रत्यक्षनिबन्धनो व्यवस्थाप्यते तर्हि तत एव परिमलस्मरणसहकारिचक्षुर्व्यापारानन्तरभावी
'सुरभि मलयजम्' इति प्रत्ययः समनुभूयत इति परिमलस्यापि चक्षुर्जप्रत्ययविषयत्वं स्यात् । अथ
१५ परिमलस्य लोचनाविषयत्वाद् नायं प्रत्ययस्तज्जः किन्तु गन्धसहचरितरूपदर्शनप्रभवानुमान-
स्वभावः, तदेतत् प्रकृतेऽपि कार्यकारणभावे लोचनाविषयत्वं समानम्; प्रत्ययस्य तु तदध्यवसा-
यिनोऽपरं निमित्तं कल्पनीयम्; तत्र प्रत्यक्षतः सविकल्पकादपि धूम-पावकयोः कार्यकारणत्वा-
वगमः । मानसप्रत्यक्षं तु तदवगमनिमित्तं भवता नाभ्युपगम्यते । अपि च, कार्यकारणभावः
सर्वदेश-कालावस्थिताखिलधूम-पावकव्यक्तिक्रोडीकरणेन अवगतोऽनुमाननिमित्ततामुपगच्छति,
२० न च प्रत्यक्षसंवेदति वस्तुनि सविकल्पकस्य निर्विकल्पकस्य वा व्यापारः संभवतीत्यसकृत् प्रतिपा-
दितम् । किंच, न कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रमेव बौद्धानामिव कारणत्वम्—येन तस्य कारणस्वरूपा-
भेदात् तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावस्य कारणत्वस्याऽप्यवगमः, केवलं कार्यदर्शनादु-
त्तरकालं तन्निश्चीयते—किन्तु कारणस्य कार्यजननशक्तिः कारणत्वम्; सा च शक्तिर्न प्रत्यक्षावसेया
अपि तु कार्यदर्शनसमवगम्या भवता परिकल्पिता । तदुक्तम्–

२५ "शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः" । [श्लो०वा०सू०५, शून्य० श्लो० २५४]

ततः कथं प्रत्यक्षात् कारणस्य कारणत्वावगमः? अथ कार्यादेव कारणस्य कारणत्वावगमो भवतु किं
नश्छिन्नम्; ननु कार्यात् कारणस्य कारणत्वावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगमः, तत्र च तदपि कार्यं लिङ्ग-
भूतं यदि कारणशक्तिमवगमयति तदा शक्ति-कार्ययोः प्रतिबन्धग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्; स च प्रतिब-
न्धावगमो न प्रत्यक्षादिति प्रतिपादितम् । अनुमानात् तदवगमे इतरेतराश्रयाऽनवस्थादोषावतारोऽ-
३० पि समानः । अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भावः प्रतिपादित इति न प्रसिद्धानुमानस्यापि प्रवृत्तिर्भवद-
भिप्रायेण । अथ वह्निगतधर्मानुविधानाद् धूमस्य तत्पूर्वकत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् प्रसिद्धमिति धूम-
त्वस्य तत्पूर्वकत्वव्याप्तिसिद्धिः—अन्यथा धूमाद्वह्न्यसिद्धेः सकललोकप्रसिद्धव्यवहाराभावः, अनुमा-
नाभावे प्रत्यक्षतोऽपि व्यवहारासम्भवात्—तर्हि वचनविशेषस्यापि यदि विशिष्टकारणपूर्वकत्वं तत
एव प्रमाणात् प्रसिद्धं विवादाध्यासिते वचने वचनविशेषत्वात् साध्येत तदा कोऽपराधः?

३५ यदप्युक्तम् 'पक्षधर्मत्वनिश्चये सति हेतोरनुमानं प्रवर्त्तते, न च सर्ववित् कुतश्चित् प्रमा-
णात् सिद्धः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; यतो यदि सर्वविदो धर्मित्वं क्रियेत तदा तस्यासिद्धत्वात्
स्यादप्यपक्षधर्मत्वलक्षणं दूषणम्; यदा तु वचनविशेषस्य धर्मित्वं तस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं
साध्यत्वेनोपक्षिप्तं तदा तत्र तद्विशेषत्वादिलक्षणो हेतुरुपादीयमानः कथमपक्षधर्मः स्यात्? न
चापक्षधर्मादपि हेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणं भवताऽभ्युपगच्छता पक्षधर्मताभावलक्षणं
४० दूषणमासञ्जयितुं युक्तम् । अन्यथा—

१ अयमर्थः शाबरभाष्ये एवं प्रदर्शितः "क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते इति"–पृ० ७ पं० २४ का० ।
२ पृ० ३३ पं० २९ तथा पृ० ४३ पं० १२ । ३–त्यस्याप्यवगमः वा०, बा०, पू० विना सर्वत्र । ४ कारणे वा०,
बा०, पू० । ५–६ पृ० २ पं० १५–१५ । ७ पृ० ४६ पं० ३६ । ८ पृ० ४४ पं० ६ ।

"चित्रोऽत्र मानान्तरेण पुरुषाणामनुमा ।
तथैवोपमितिर्वा न परार्थमपीक्ष्यते" ॥ [ ]

त्वादुपलक्षणसंहेतुसमुत्थानुमानप्रामाण्यप्रतिपादनं भवतोऽप्ययुक्तं स्यात् । यदप्यभ्यधायि 'सर्वज्ञसाधने साध्यादौ कथं दोषजालं हेत्वसिद्धत्वे' इत्यादि, तत्र स्याद्वादिनां दोषः यदि सामान्यासामान्यभेदानुपलक्षयेत्, यावता पूर्वोक्तप्रकारेण पक्षधर्मविशिष्टस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं साध्यमिष्यते, तत्र चास्य दोषजालस्यानवकाश एव । यदप्यभ्यधायि 'यदि नियतः कश्चित् सकलपदार्थप्रत्यक्षोऽभिप्रेतः' इत्यादि, तदप्यसङ्गतमेव, यतो नास्माभिः प्रतिनियत एव कश्चित् सर्वज्ञोऽनुमानात् साध्यते किन्तु विशिष्टकारणपूर्वकत्वं विशिष्टकार्यत्वेन, तच्च स्वसाध्यव्याप्तहेतुबलात् साध्यधर्मिणि सिद्धिमासादयद् हेतुस्वरूपसामर्थ्यात् प्रतिनियतसर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव सिद्धिमासादयतीति । न च 'तत एव हेतोरन्यस्यापि सर्वज्ञस्य सिद्धेरस्यागतत्वमपि भवतां प्रसज्यते' इति दूषणम्, अन्यागमानां दृष्टविरुद्ध एव प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् कथं तत्प्रणेतृणामपि सर्वज्ञत्वसिद्धिः । यच्चान्यदभिहितम् 'न कश्चित् सर्वज्ञप्रतिपादकः समस्ति हेतुः सम्भवति', तदप्यसङ्गतम्, तत्प्रतिपादकस्य प्रागुपदर्शितस्य चानवद्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । यच्चान्यदभिहितम् 'सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्' इत्यत्र 'यदि सकलपदार्थसाक्षात्कारित्वं साध्यम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, एवं साध्यविकल्पनेऽग्न्यादेरप्यनुमानस्यासिद्धिः स्यात् । तथाहि- अत्राप्येवं वक्तुं शक्यते- यदि प्रतिनियतधर्मिधर्मो वह्निः साध्यत्वेनाभिप्रेतस्तदा महानसे दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मधर्मेण वाच्येन व्याप्तस्य धूमलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वाद् विरुद्धो हेतुः स्यात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः साध्यधर्मिणि साध्यते तदा प्रत्यक्षादिविरोधः । अथोभयगतं वह्निसामान्यं तदा सिद्धसाध्यतादोषः । 'तथा प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानम्' इत्यादि यदुक्तं तद् धूमलक्षणेऽपि हेतौ समानम् । तथाहि- अत्रापि किं साध्यधर्मिधर्मो हेतुर्विवक्षितः, उत दृष्टान्तधर्मिधर्मः, अथोभयगतं सामान्यम् ? तत्र यदि साध्यधर्मिधर्मो हेतुः, स दृष्टान्तधर्मिणि नास्तीत्यनन्वयो हेतुदोषः । अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः, स साध्यधर्मिण्यसिद्ध इत्यसिद्धताहेतुदोषः । अथोभयगतं सामान्यम्, तदपि प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षमहानसपर्वतप्रदेशादिलक्षणव्यक्तिद्वयाधिकं न संभवतीति हेतोरसिद्धता तदवस्थिता । अथ पर्वतप्रदेशाभिसम्बन्धिधूमव्यक्तेरन्यकालभाविमहानसप्रतीयमानत्वेन न महानसोपलब्धधूमव्यक्त्याऽत्यन्तवैलक्षण्यमिति नोभयगतसामान्याभावः अनुभयगतसामान्यप्रतिपत्तौ ततोऽनुमानप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ च तदर्थक्रियार्थिनस्तत्र प्रवर्तमानस्य प्रत्यक्षप्रवृत्तिः, तस्यां च तस्यामत्यन्तवैलक्षण्याभावस्तत्प्रवेशः, तत्सद्भावे चोभयगतसामान्यसिद्धेस्तदनुमानप्रवृत्तिरिति चक्रकदूषणावकाशः । अथ कण्ठकोणतादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्यात् महानस-पर्वतप्रदेशसम्बद्धधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यमित्युभयगतसामान्यसिद्धौ न धूमानुमाने हेत्वसिद्धतादिदोषस्तर्हि वाच्यत्वप्रमेयत्वादिधर्मकलापसाधर्म्यस्य वचनविशेषस्यापि सिद्धयेऽप्यत्यन्तवैलक्षण्यनिषेधकस्य सद्भावेन कथं न तद्विदोषाय सामान्यसंभवः ? प्रमेयत्वं तु यथा प्रकृतसाध्यं हेतुर्भवति तथा प्रतिपादयिष्यामः, आस्तां तावत् । यत्तु 'नापि शाब्दात् तत्सिद्धिः' इत्यादि प्रतिपादितं तत् सिद्धसाध्यतादोषाप्रामाण्यापास्तम् । यदप्युक्तम् 'ये देश-काल-इत्यादिप्रयोगो नासिद्धो हेतुः' इति, एतदप्ययुक्तम्, अनुमानस्य तदुपलम्भकस्य भावस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वेनानुपलम्भलक्षणस्य हेतोः परप्रयुक्तस्यासिद्धत्वात् । अत एव 'सद्भावप्रतिषेधस्यानुपलम्भनिमित्तोऽनेन' इत्येतदसारतया स्थितम् । 'अथ यथाऽस्माकं तत्सद्भावाऽऽवेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतां तदभावाऽऽवेदकमपि नास्ति' इत्यादि यावत् 'प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितम्' इति यदुक्तम्, तदप्यचारु, यतः "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीम्" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११७] इत्यादिना तत्सद्भावोपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिप्रतिपादनद्वारेण यद् अभावाख्यप्रमाण-

---

१ पृ० ४४ पं० ८ । २ पृ० ४४ पं० ११ । ३ पृ० ४४ पं० १६ । ४ पृ० ४४ पं० १९ । ५ पृ० ४४ पं० १७ । ६ पृ० ४४ पं० १८ । ७–साध्यधर्मो भां०, वा०, मां० विना । ८ पृ० ४४ पं० २२ । ९ धूमस्वलक्षणे भां०, का० वा०, मां० । १० पृ० ४४ पं० २३ । ११ पृ० ४५ पं० १५ । १२ पृ० ४५ पं० १५–१६ । १३ पृ० ४५ पं० १७ । १४ पृ० ४८ पं० १४ । १५ पृ० ४५ पं० ८ ।

प्रवृत्तिप्रतिपादनं तत् तदभावावेदकस्तत्राभावाख्यप्रमाणाभ्युपगमव्यतिरेकेणासंभवत् मिथ्यावादितां सूचयति। यदप्यवादि 'तथा च प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण भगवतो जैमिने- इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतः प्रसङ्गसाधनस्य तत्पूर्वकस्य च विपर्ययस्य व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः व्यापकनिवृत्तितो व्याप्यनिवृत्तिरवश्यंभाविनी ५प्रदर्श्यते तत्र यथाक्रमं प्रवृत्तिः, अत्र तु प्रत्यक्षत्वस्य सत्संप्रयोगजत्वेन, तस्य च [illegible] नत्वेन, तस्यापि धर्मादिकं प्रत्यनिमित्तत्वेन क्व व्याप्यव्यापकभावावगमो येन प्रसङ्ग- प्रवृत्तिः स्यात्? नन्वेकमेवैतत् 'स्वात्मन्येव' सत्यम्; उक्तं नतु युक्तमुक्तम्। अयुक्तता चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवं प्रत्यक्षं सन्निहितदेश-का[illegible] ग्राहकं सर्वत्र सर्वदा चेति न व्याप्यव्यापकभावग्राहकं प्रमाणमस्ति, [illegible] १०शतविप्रकृष्टस्यार्थस्य ग्राहकं संपातिगृध्रराजप्रत्यक्षं रामायण-भारतादौ [illegible] श्रूयते, तथेदानीमपि गृध्र-वराह-पिपीलिकादीनां चक्षुः-श्रोत्र-घ्राणजस्य प्रत्यक्षस्य रूप-शब्द-गन्धादिषु देशविप्रकृष्टेषु प्रवृत्तिरुपलभ्यते, तथा [illegible] त्वस्य पूर्वदर्शनसंबन्धित्वस्य च स्मरणसव्यपेक्षलोचनादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षग्राह्यत्वं [illegible] स्थितेऽर्थे भवताऽभ्युपगम्यते; अन्यथा—

१५ "देश-कालादिभेदेन तत्राऽस्त्यवसरो मितेः"। [श्लो० वा० सू० ४, श्लो० २३१]

"इदानींतनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया गतम्"। [श्लो० वा० सू० ४, श्लो० २३४]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

२० "संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः"। [श्लो० वा० सू० ४ श्लो० ८४]

इति वचनं विरुद्धार्थं स्यात्, तथाऽतीन्द्रियकाल-दर्शनादेर्वर्तमानार्थविशेषणत्वेन प्रत्यक्षेऽतीन्द्रिय धर्मादेरपि ग्रहणप्रसङ्गात् प्रसङ्गसाधन-तद्विपर्यययोरप्रवृत्तिः स्वयमेव प्रतिपादिता स्यात्। [illegible] [illegible] दोषः कालविप्रकृष्टार्थग्राहकत्वेन इन्द्रियजप्रत्यक्षस्य प्रतिपादयितुमभिप्रेतमिति [illegible] [illegible]। अथ वर्तमानकालसंबद्धे विशेष्ये पुरोवर्तिनि व्यापारवच्चक्षुस्तद्विशेषणभूतेऽती- २५न्द्रियेऽपि पूर्वकालदर्शनादौ प्रवर्तते, अन्यथा चक्षुर्व्यापारानन्तरं 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति विशिष्टा- [illegible] प्रत्यभिज्ञान [illegible], नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुत्पद्यते [illegible] इव दण्डि- बुद्धिः, न च [illegible] संभवतीति चेत्, ननु धर्मादेः किमतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनाऽग्रहणम्, [illegible] आहोस्वित् अविशेषणत्वात्? तत्र नाद्यः पक्षः, अतीन्द्रियस्यापि [illegible] [illegible] [illegible], नाविद्यमानत्वात्, भाविधर्मादेरिवातीतकालादेरविद्यमानत्वेऽपि [illegible] ३०[illegible]। [illegible], तद्दर्शनप्रसङ्गात्। [illegible] पदार्थ[illegible] द्रव्य-गुण-कर्म[illegible] च धर्मादेः सर्वपदार्थ[illegible] अतीतातीन्द्रियकालादेरिव [illegible] [illegible] ग्रहणमस्तु इति कथं धर्मे प्रत्यभिज्ञा[illegible] [illegible] वा संभवः? यथा, [illegible] [illegible] कालविप्रकृष्टार्थ[illegible] [illegible] धर्मादेरपि यदि ग्राहकं कथंचित् स्यात् तदा न कोऽपि दोषः। अपि च, [illegible] ३५[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न पुनर्मनुष्यधर्मेण इति [illegible] [illegible], मनुष्यधर्मेऽपि [illegible]

[illegible]

इते समर्थेनुपलम्भन इति चार्वाकेऽपि देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टस्य कस्यचित् पुरुषविशेषस्य प्रत्यादिसंस्कृतं चक्षुरादि प्राक्के भविष्यतीति न कश्चित् दृष्टव्याघातिकृता । अथ चक्षुरादेः स्वरूप प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेनास्वरूपविषयग्राहकत्वे स्वार्थातिक्रमो व्याघातविरोधी स्यात्, ननु श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम्—'चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः' इति लोकप्रवादात् । सैव्या न प्रयाद इति चेत्, नैतत्; प्रमाणबाधकाभावात् कथंचित्प्राप्तुपपत्तेश्च । न च दूरदूरत्वचक्षुषो आत्मन्तरवात्' इत्युक्तमनोपदोषि, अन्यथापि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितगर्वैरि- चक्षुषि समानत्वात् । तदेवं धर्मादिप्रमत्वपदार्थग्राहकत्वेन चक्षुरादिजनितप्रत्यक्षस्याऽविरोधात् न त्वसम्बद्ध-सर्वसंप्रयोगजन्यादेरप्रत्यापकभावविशिष्टमिति न प्रसङ्ग-विपर्ययोः प्रवृत्तिरिति न तत्- त्वप्रतिबंधः । एतेन "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १११] इत्यादि वार्तिककृत्प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनाभिप्रायेण युक्तिजालमखिलं निरस्तम्, व्याप्तिप्रतिषेधस्य पूर्वोक्त- १० प्रकारेण विहितत्वात् । यच्च 'किं प्रमाणान्तरसंवादार्थस्य गवकृताशात् इत्यादि तत् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम् । तथाहि-अत्रापि वक्तुं शक्यम्-किं साध्यधर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्तः' इत्यादि यावत् 'सिद्धः प्रतिबन्धोऽनयोरस्य-वकृत्वयोरग्नि-धूमयोरिव' इति पर्यन्तम्, तदयुक्तम्, यतोऽ- सर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोरिव नाग्नि-धूमयोः कार्यकारणभावप्रतिबन्धस्य तद्ग्राहकप्रमाणस्य वाऽभावः । नहि यदिसद्भावे धूमो दृष्टस्तदभावे च न दृष्ट इत्येतावता धूमस्याग्निकार्यत्वमुच्यते किन्तु   १५

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यं धर्मानुवृत्तितः" [   ] ।

न चासौ दर्शनाऽदर्शनमात्रगम्यः किन्तु विशिष्टात् प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाख्यात् प्रमाणात् ।

प्रत्यक्षमेवं प्रमाणं प्रत्यक्षाऽनुपलम्भशब्दाभिधेयम्, तदेव कार्यकारणाभिमतपदार्थविषयं प्रत्य- क्षम्, तद्विविक्तान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम्, कदाचिदनुपलम्भपूर्वकं प्रत्यक्षं तद्भावसा- धकम्, कदाचित् प्रत्यक्षपुरःसरोऽनुपलम्भः । तत्रापि येषां कारणाभिमतानां सन्निधानात् प्राग- २० नुपलब्धं सद् धूमादि तत्सन्निधानादुपलभ्यते तदा तत्कार्यता व्यवस्थाप्यते । तथाहि-एतावद्भिः प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्—यद्यग्निसन्निधानात् प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽग- च्छेत्, तदन्यहेतुको वा भवेत् । तदेतत् सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण निरस्तम् । एतेन प्राग- नुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसन्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तत्कार्यता स्यादिति निरस्तम् । तथाहि—तत्रापि यदि रासभस्य तत्र प्रागसत्त्वम्, अन्यदेशादनागमनम्, अन्याकारणत्वं च २५ निश्चेतुं शक्येत तदा स्यादेव कुम्भकारकार्यता, केवलं तदेव निश्चेतुमशक्यम् । एवं तावदनुपलम्भ- पुरस्सरस्य प्रत्यक्षस्य तत्साधनत्वमुक्तम् । तथा, प्रत्यक्षपुरस्सरोऽनुपलम्भोऽपि तत्साधनः— येषां सन्निधाने प्रवर्तमानं सत् कार्यं दृष्टं तेषु मध्ये यदैकस्याप्यभावो भवति तदा नोपलभ्यते, तत् तस्य कारणमितरत् कार्यम् । न चाग्नि-काष्ठादिसन्निधाने भवतो धूमस्यापनीते कुम्भकारादावनुप- लम्भोऽस्ति, अग्न्यादौ त्वपनीते भवत्यनुपलम्भः । एवं परस्परसहितौ प्रत्यक्षानुपलम्भावग्निमतेष्वेव ३० कार्यकारणेषु निःसन्दिग्धं कार्यकारणभावं साधयतः ।

सर्वकालं चाग्निसन्निधाने भवतो धूमस्याग्निजन्यत्वं कदाचित् तदन्यतोऽजन्यत्वेन, अहेतु- कत्वेन, अदृष्टहेतुकत्वेन वा भवेत् ? तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, अग्नितो जन्यत्वात्, "सदेव न जन्यते" [   ] इति न्यायविरोधात्, सतः पुनः जन्यमानत्वानुपपत्तेः । कार्यत्वस्य च कादाचि- त्कत्वेन सिद्धत्वात् । नाप्यहेतुकत्वम्, कादाचित्कत्वेन, अहेतुत्वे तद्विरोधात् । नाप्यदृष्टहेतुकत्वम्, ३५ धूमस्याग्न्यादिसामग्र्यपेक्ष-व्यतिरेकानुविधानात् । अथापि स्यात् अदृष्टमात्रं स्वभावो यदग्न्यादिस- न्निधान एव धूमम्, कर्पूरादिगन्धादिविशिष्टं सुगन्धादिगुणं च करोति नान्यदेति, तत् किमग्निमन्तरेण कदाचित् धूमोऽनिवर्त्य वेद्यते ? किं च, कथं तार्किकाणां धूमस्याभावे भावात् ? धूमोत्पत्ति- काले च सर्वदा प्रतीयमानोऽग्निः काकतालीयन्यायेन भवतीति इत्यलौकिकम् । अथ स तथाविधस्य स्वभावो यदग्निसन्निधान एव धूमं करोति, ननु यथाग्निना नानाकुशलितयोर्गिविज्ञानान्न पूर्वं ४० पश्चात् वा धूमं विदधाति ? न चान्यदा करोतीति तस्य तज्जन्यत्वमावश्यकत्वात् धूमजनने तदेव

---

१ पृ० ४५ पं० ३ । २ पृ० ४५ पं० ११ । ३ पृ० ५० पं० १५ । ४ कार्यधर्मानुवृत्तितः बा० । ५ -च च प्रमाणे आ०, ता० । ६ कार्यस्य च बा०, भा० विना । ७-यादृदृयस्वभावो आ० । ८ तदेवं भा०, पृ० ६ पं० सं० ८

पारंपर्येणाग्निजन्यत्वं धूमस्य। किंच, यथा देश-कालादिकमन्तरेण धूमस्यानुत्पत्तेस्तदपेक्षा प्रतीयते तथाऽग्निमन्तरेणापि धूमस्यानुत्पत्तिदर्शनात् तदपेक्षा केन वार्यते? तदपेक्षा च तत्कार्यतैव। यथा चादृश्यभावे एव धूमस्य भावात् तज्जन्यत्वमिष्यते तथा सर्वदाऽग्निभावे एव धूमस्य भावदर्शनात् तज्जन्यता किं नेष्यते? यावतां च सन्निधाने भावो दृश्यते तावतां हेतुत्वं सर्वेषामित्यदृश्यादिभाव
५भीजन्यत्वात् धूमस्य कुतोऽग्निव्यभिचारः?

न चायं प्रकारोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयो संभवति, असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानस्य वचने अदर्शनात्। तथाहि—यदि सर्वज्ञत्वादन्यत् पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमसर्वज्ञत्वमुच्यते तदा तद्धर्मानुविधानाऽदर्शनान्न तज्जन्यता वचनस्य। नहि किञ्चिज्ज्ञत्वतरतमभावात् वचनस्य तरतमभाव उपलभ्यते। तथाहि—किञ्चिज्ज्ञत्व प्रकृष्टम् अत्यल्पविज्ञानेषु कृम्यादिषु न च तेषु वचनप्रवृत्तेरुत्कर्ष उपलभ्यते। अथ
१०प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्व तत्कार्यं तु वचनं तदा ज्ञानरहिते मृतशरीरे तस्योपलम्भः स्यात्, न च कदाचनापि तत् तत्रोपलभ्यते।

ज्ञानातिशयवत्सु च सकलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनस्यातिशयभावो दृश्यते इति ज्ञानप्रकर्षानुविधानदर्शनात् तत्कार्यता तस्य—धूमस्येवाग्न्यादिसामग्रीगतधर्मानुविधायिनो-यथोक्तप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां व्यवस्थाप्यते। अत एव कारणगतधर्मानुविधानमेव कार्यस्य तत्कार्यतानिमि-
१५त्तम् न पुनरन्वय-व्यतिरेकानुविधानमात्रम्। तदुक्तम्

कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः। [ ] इति।

[illegible]

यत्किञ्चिदेतत्। तेनाग्निमत्त्वेन धूमस्य यो न्यायः सोऽत्रापि समान इति विशिष्टज्ञानग्राहकत्वं विशिष्टताद्रूप्याभ्युपगन्तव्यम्।

अथ ज्ञानविशेषग्रहणे प्रवृत्तं सविकल्पकं निर्विकल्पकं वा मनो नियममिदं वा ज्ञाने न वचनविशेषे प्रवर्तते, तस्य तदानीमनुत्पन्नत्वेनासत्त्वात्। तद्ग्रहणेन च ज्ञानविशेषस्वरूपमेव तेन गृह्यते न तदपेक्षया तस्य कारणत्वम्, वचनविशेषग्राहकेणापि तत्स्वरूपमेव गृह्यते न पूर्वं प्रति कार्यत्वम्, कारणस्यातीतत्वेनाग्रहणात्। नाप्युभयग्राहिणा, भिन्नकालत्वेन तयोरेकज्ञाने प्रतिभासनायोगात्। अत एव स्मरणमपि न तयोः कार्यकारणभावावेदकम्, अनुभवानुसारेण तस्य प्रवृत्त्युपरमेः, अनुभवस्य चात्र वस्तुनि निषिद्धत्वात्। अत्रेदम्। यतः कार्यस्य न तावद्भावानुत्पन्नस्यैव कार्यत्वं धर्मः, असत्त्वात् तदानीम्; नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तभिन्नं तत्, तद्धर्मत्वायोगात्। तथा, कारणस्यापि कारणत्वं कार्यनिष्पत्त्यनिष्पत्त्यवस्थायां न भिन्नमेव। नापि तयोः कार्यकारणभावः संबन्धोऽन्योऽस्ति, भिन्नकालत्वादेव। संबन्धस्य च द्विष्ठत्वाभ्युपगमात्। ततस्तत्स्वरूपमात्रग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावधर्मरूपं कारणत्वं कार्यत्वं च गृह्यते एव क्षयोपशमवशात्। यत्र तु न अस्ति तत्र कार्यदर्शनादपि न तन्निश्चीयते, यतो नाकार्य-कारणयोः कार्यकारणभावः संभवति। नापि तेनाभिन्ना उपकारकाः तयोः कार्यकारणता कर्तुं शक्या, विरोधात्। नापि भिन्ना, तयोः स्वरूपेणाकार्यकारणताप्रसङ्गात्। नापि स्वरूपेण कार्य-कारणयोर्द्वयोरनुभूतकार्यकारणभावस्वरूपसंबन्धपरिकल्पनेन प्रयोजनम्, तदनिर्देशेनापि स्वरूपेणैव कार्यकारणरूपत्वात्। न च भिन्नपदार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वयं द्वितीयग्रहणे तदंशं कार्यत्वं कारणत्वं वा ग्रहीतुमसमर्थमिति वक्तुं युक्तम्, क्षयोपशमवशात् धूमग्राहकज्ञानेऽपि वह्निग्राह्यत्वसंभवात्। अन्यथा बाणादिपरिलक्षणेन सन्तानयाथात्म्यात् ततोऽनन्तरसमागतेन सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। तत्रापि भिन्नपदार्थग्रहणपरिणामाऽपरित्यागवता कार्यस्वरूपग्राहिणा च प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावग्रहणे न कश्चिद् दोषः। न च कारणस्वभावापगमे प्रत्यक्षं न कार्यस्वरूपमात्रग्राहकं प्रतिभासभेदेन भेदोऽवसेयः इति प्रेरणीयम्, चित्रप्रतिभासिज्ञानस्य नीलप्रतिभासाऽपरित्यागप्रवृत्तनीलादिप्रतिभासैकत्ववत् प्रकृतज्ञानस्यापि तदविरोधात्। न च चित्रज्ञानस्याप्येकत्वमसिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, तथाऽभ्युपगमे नीलादिप्रतिभासस्यापि प्रतिपरमाणुभिन्नप्रतिभासत्वेन भिन्नत्वात् एकपरमाणुप्रतिभासस्य चाऽसंवेदनात् प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् सर्वव्यवहाराभावः स्यात्। अत प्रत्यक्षमेव यथोक्तप्रकारेण सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धग्राहकमनुमानवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा प्रतिज्ञानुमानव्यवहाराभावः स्यात्। अथैवमपि व्याघातान् नाम कर्तुमसमर्थम् तस्य सर्वविषयकत्वात् तत्प्रतिबन्धग्राहकत्वाद्, तदिदं प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणाभावेऽनुमानेन तद्ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् अनुमानाप्रवृत्तिप्रसङ्गो भवेत्। तदुक्तं सर्वपरपक्षमनुमानप्रवृत्तिनिबन्धनाद्वि अभावविशिष्टसर्वग्राहकत्वप्रतिबन्धग्राहकत्वं प्रमाणान्तरस्याभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा 'सर्वमुभयात्मकं वस्तु' इति कुतोऽनुमानप्रवृत्तिरीदृशस्य? तथाऽऽ सर्वज्ञस्य रागादिमत्त्वाभावे वक्तृत्वादयो हेतवः प्रतिबन्धस्य तद्ग्राहकप्रमाणस्य च अभावप्रसङ्गात् एवाभावाय प्रवृत्ता अनुमानप्रवृत्तिः सर्वज्ञाभावप्रतिज्ञा। विपर्ययेण च सर्वज्ञसिद्धिः स्यात्, विपर्ययसिद्धिरेव सतां युक्ता।

यच्च 'सर्वज्ञत्वे किं चक्षुरादिजनितम्' इत्यादि पक्षचतुष्टयमुत्थाप्य 'चक्षुरादिजन्यत्वेन चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन धर्मादिग्राहकत्वायोगात्' दूषणमभ्यधायि, तदप्यसङ्गतम्, धर्मादिग्राहकत्वविरोधस्य चक्षुरादिजाने प्राक् प्रतिपादितत्वात्। अभ्यासजत्वे तु यत् दूषणमभ्यधायि 'न ह्यभ्यासजं ज्ञानं सकलपदार्थविषयं तदवसेयं संभवति, नापि तत्परसविषयोऽभ्यासः' इति, तदपि न सङ्गतम्, "ज्ञानदृगनन्तवीर्यसुखः सन्" [त० अ० ५, सू० २९] इति सकलपदार्थविषयकोऽभ्यासजज्ञानस्य संभवात्। न चाभ्यासाऽभावात्वम्, अनुमानादिप्रमाणसंभवात् प्रमाणसिद्धेः। अभ्यासजज्ञानसंवेदकज्ञानेन धर्मादिग्राहके कथं न सकलविषयाभ्यासः? यदपि 'न च स्मरणरूपं सर्वविषयकं ज्ञानं संभवति' इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, 'सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यनुमानप्रमाणसिद्धस्य सकलपदार्थविषयस्य संभवात्। अन्यथाऽनुमानवादिनां प्रतिज्ञाव्याघातप्रसङ्गात्। न च तस्य सकल एव सर्वज्ञत्वात् सर्वोऽभ्यास, सामान्यविषयत्वेऽप्यनुमानस्य कथं साधनम्, अस्पष्ट च एकदेशविषयत्वेऽपि तद्धर्मत्वाद् निश्चय। यदपि 'तदभ्यासवशात् अनुमान-

---

१-तुलना सन्मतिटीका पृ०। २ पृ० ५१ पं० २१। ३ पृ० ५१ पं० ११। ४ पृ० ५
५ पृ० ५१ पं० १०। ६ प्र० पृ० पं० १५।

दिजनितं यदतीन्द्रियविषयम्' इत्याद्यवादि, तदपि प्रतिक्षिप्तम्; अतीन्द्रियार्थग्राहकत्वस्यान्येन्द्रिय-विषयग्राहकत्वस्य च प्राक् प्रतिपादनात् व्यवहारोच्छेदाभावस्य च दर्शितत्वात्। अतीन्द्रियेऽपि [illegible] कालादौ विशेषणभूते चक्षुरादेः प्रवृत्तिप्रतिपादनाच्च इतरेतराश्रयत्वदोषस्याप्यनवकाशः पूर्वप्रति-पादितस्य। शब्दज्ञानजनितज्ञानपक्षे तु इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गापादनमप्ययुक्तम्, [illegible]

५ संभवात्; अन्यसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वेन ज्ञानस्य कथमितरेतराश्रयत्वम्? तदागमप्रणेतुरप्यन्य-सर्वज्ञप्रणीतागमपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात् सा चेष्यत एव; अनादित्वादागम-सर्वज्ञपरम्परायाः। यदप्यवादि 'शब्दजनितं ज्ञानमस्पष्टाभम्, तज्जनितत्वतः कथं सकलज्ञत्वम्' इति, तदप्यसङ्गतम्; न[illegible] शब्दजनितेन ज्ञानेनाभ्यासासादितवैशद्येन सकलज्ञोऽभ्युपगम्यते—येनायं दोषः स्यात्—किन्तु [illegible] अत एव 'प्रेरणाजनितं ज्ञानमसर्वज्ञानाम्

१० [illegible] ' इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्; अभ्यास[illegible]

[illegible] । 'लिङ्गजनितत्वेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रि-यधर्मादिपदार्थसंबन्धानवगमाद् लिङ्गस्यानवगतसाध्यसंबन्धस्य च तस्य धर्मादिसाध्यानुमापकत्वा-संभवात्' इत्यादि यत्, तदप्यसङ्गतम्; अवगतधर्माद्यतीन्द्रियसाध्यसंबन्धस्य हेतोः प्रसिद्धत्वात्। तथाहि—स्वविषयग्रहणक्षमस्य ज्ञानस्य तद्ग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसंबन्धपूर्वकं पीतहृत्पूरपुरुषज्ञानस्येव

१५ [illegible] कैत्वं सुप्रसिद्धमिति

[illegible] सकलज्ञत्वाभ्युप-

मेऽसदादीनामपि तत् स्यात्, भावनाबलात् तद्दर्शने तु कामाद्यवस्थानावस्थायाम् [illegible] इत्यसर्वज्ञत्वम्। तज्ज्ञानस्य तद्वद् उपप्लुतत्वप्राप्तेः' इति, तदप्यचारु, यतो भावनाबलाज्ज्ञानं वैशद्यमनुभवतीत्येतावन्मा-[illegible] न सकलदृष्टान्तधर्माणां साध्यधर्मिण्यापादनं युक्तम्; तथाऽभ्युपगमे सकल-

[illegible]

'रजो-नीहाराद्यावरणापाये वृक्षादिदर्शनवद् रागाद्यावरणाभावे सर्वज्ञज्ञानं [illegible] च रागादीनामावारकत्वं सिद्धम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; कुड्यादीनामप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यामावार-कत्वासिद्धेः। तथाहि—सत्यस्वप्नप्रतिभासस्यार्थग्रहणे न कुड्यादीनामावारकत्वम्, निश्छिद्रापवरक-

२५ व्यवस्थितेनापि भाव्यतीन्द्रियार्थस्यान्तरावरणाभावे प्रमाणान्तरसंवादिन उपलम्भात्; कुड्यादीनां त्वावरणत्वे तद्दर्शनमसंभव्येव स्यात्, तथाप्रतिभासेनाहृष्टार्थेऽपि कुड्यादीना नावारकत्वम्। यथा प्रातिभं ज्ञानं जाग्रदवस्थायां शब्द-लिङ्गाऽक्षव्यापाराभावेऽपि 'श्वो भ्राता मे आगन्ता' इत्याद्याकार-मुत्पद्यमानमुपलभ्यते तत्र कुड्यादीनां कथमावारकत्वम्? कथं वा विज्ञानस्य नातीन्द्रियविशेषणभूत-[illegible] अनिन्द्रियजन्यं च ज्ञानस्य [illegible] न नियम-

२० येन 'सर्वज्ञज्ञानस्यानक्षजत्वे [illegible] इत्यादि प्रेर्येत? अत एव सकलपदार्थग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्य इन्द्रियादिजन्यत्वकृत एव प्रतिनियतरूपादि-[illegible] नियमोऽवसीयते, प्रातिभादौ तदजन्ये तस्याभावात्। सकलज्ञान [illegible] कथं "प्रेऽपि सातिशया दृष्टाः" इत्यादि तथा "यत्राप्यतिशयो दृष्टः" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११४] इत्यादि [illegible] दूषणं तत्र प्रसजेत्? न हि ज्ञानस्यातीन्द्रियज्ञानस्वभावस्य कश्चित् प्रतिनियतो रूपादिः [illegible]

२५ संभवति इत्यसकृदावेदितम्।

अथ रागादीनामावारकत्वेऽपि कथमात्यन्तिकः क्षयः, कथं वाऽस्पष्टमानमस्पष्टविशदं ज्ञानं [illegible] [illegible] वैशद्यं वाऽऽसादयति? नैतत् प्रेर्यम्, यतो यदि रागादीनां [illegible] न ज्ञायेत, नित्यत्वमात्मस्वरूपं वा तेषां स्यात्, [illegible]

[illegible]

नित्यत्वं वा संभाव्येत, तद्विपक्षस्य वा स्वरूपतोऽभावः अनभ्यासश्च स्यात् तदेनत्र स्यादपि, यावता रागादीनां ज्ञानावरणहेतुत्वेनावरणस्वरूपत्वं सिद्धम्। न च तेषां नित्यत्वम्, तत्सद्भावे सर्वज्ञज्ञानस्य प्रतिपादयिष्यमाणप्रमाणनिश्चितस्याभावप्रसङ्गात्। नाप्याकस्मिकत्वम्, अत एव। न चैषामुत्पादको हेतुर्नावगतः, मिथ्याज्ञानस्य तज्जनकत्वेन सिद्धत्वात्। न च तस्यापि नित्यत्वम्, अन्यथाऽविकलकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य भावे प्रबन्धप्रवृत्तरागादिदोषसद्भावात् तदावृतत्वेन सर्वविद्विज्ञानस्याभावः स्यादिति स एव दोषः। आकस्मिकत्वेऽपि मिथ्याज्ञानस्य हेतुव्यतिरेकेणापि प्रवृत्तेस्तत्कार्यभूतरागादीनामपि प्रवृत्तिरिति पुनरपि सर्वज्ञज्ञानाभावः अहेतुकस्य च मिथ्याज्ञानस्य देश-काल-पुरुषप्रतिनियमाभावोऽपि स्यादिति न चेतनाऽचेतनविभागः। न च तत्प्रतिपक्षभूतस्योपायस्यापरिज्ञानम्, मिथ्यात्वविपक्षत्वेन सम्यग्ज्ञानस्य निश्चितत्वात्। तदुत्कर्षे मिथ्याज्ञानस्यात्यन्तिकः क्षयः। तथाहि—यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य विपक्षप्रकर्षपर्यन्तगमने भवत्यात्यन्तिकः क्षयः, यथोष्णस्पर्शस्य तथाभूतस्य प्रकर्षगमने शीतस्पर्शस्य तथाविधस्यैव, सम्यग्ज्ञानोपचयतारतम्यानुविधायी च मिथ्याज्ञानापचयतारतमादिभाव इति तदुत्कर्षेऽस्याऽऽत्यन्तिकक्षयसद्भावात् तत्कार्यभूतरागाद्यनुत्पत्तेरावरणाभावः सिद्धः। रागादिविपक्षभूतवैराग्याभ्यासाद् वा रागादीनां निर्मूलतः क्षय इति कथं नावरणाभावः?

न च लङ्घनो-दकतापादिवदभ्यस्यमानस्यापि सम्यग्ज्ञान-वैराग्यादेर्न परप्रकर्षप्राप्तिरिति कुतस्तद्विपये मिथ्याज्ञानाभावाद् रागादेरात्यन्तिकोऽनुत्पत्तिलक्षणः क्षयलक्षणो वाऽभाव इति वक्तुं युक्तम्, यतो लङ्घनं हि पूर्वप्रयत्नसाध्यं यदि व्यवस्थितमेव स्यात् तदोत्तरप्रयत्नस्यापरापरलङ्घनातिशयोत्पत्तौ व्यापारात् भवेल्लङ्घनस्याप्यनपेक्षितपूर्वातिशयसद्भावप्रयत्नान्तरस्य प्रकर्षप्राप्तिः; न चैवम्, अपरापरप्रयत्नस्य पूर्वपूर्वातिशयोत्पादने पर्योपक्षीणशक्तित्वात्। अथैतत् स्यात्—यदि तत्रापि पूर्वप्रयत्नोत्पादितोऽतिशयो न व्यवस्थितः स्यात्, तत्किमिति प्रथममेव यावल्लङ्घयितव्यं तावन्न लङ्घयति? तल्लङ्घनाभ्यासापेक्षणात् पूर्वप्रयत्नाहितातिशयसद्भावेऽपि न लङ्घनप्रकर्षप्राप्तिरिति यथा तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता तथा ज्ञानस्यापि भविष्यति, न; यतः श्लेष्मादिना प्राक् शरीरस्य जाड्याद् यावल्लङ्घयितव्यं न तावद् व्यायामानपनीतश्लेष्माऽनासादितपटुभावः कायो लङ्घयति। अभ्यासासादितश्लेष्मक्षय-पटुभावस्तु यावल्लङ्घयितव्यं तावल्लङ्घयतीत्यभ्यासस्तत्र सप्रयोजनः। ज्ञानस्य तु योऽभ्याससमासादितोऽतिशयः सोऽतिशयान्तरोत्पत्ती

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

नाभ्यासान्तरापेक्षो येन व्यवस्थितोत्कर्षता तस्यापि न स्यादिति वक्तुं युक्तम्, तत्र पूर्वाभ्यासजनितसंस्कारस्योत्तरत्रानुवृत्तेः, अन्यथा शास्त्रपरावर्तनादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि 'यदुपचयतारतम्यानुविधायी यदपचयतारतम्यभावस्तस्य तद्विपक्षप्रकर्षगमनादात्यन्तिकः क्षयः' इत्यत्र प्रयोगे श्लेष्मणा व्यभिचार उद्भावयितुं शक्यः किल—निम्बाद्यौषधोपयोगात् प्रकर्षतारतम्यानुभवपयनतारतम्यभावापद्यमानस्यापि श्लेष्मणो नात्यन्तिकः क्षय इति—यतस्तत्र निम्बाद्यौषधोपयोगस्यैव प्रोत्कर्षनिष्ठा आपादयितुं शक्या, तदुपयोगेऽपि श्लेष्मपुष्टिकारणानामपि तदैवाऽऽसेवनात्, अन्यथौषधोपयोगावधारणस्यैव विनाशः स्यात्। चिकित्साशास्त्रस्य च धातुदोषसाम्यापादनाभिप्रायेणैव प्रवृत्तेस्तत्प्रतिपादितौषधोपयोगस्योद्रिक्तधातुदोषसाम्यविधाने एव व्यापारो न पुनस्तस्य निर्मूलने, अन्यथा दोषान्तरस्यात्यन्तक्षये मरणावाप्तेरिति न श्लेष्मणा तथाभूतेनानैकान्तिको हेतुः। न च सम्यग्ज्ञानसात्मीभावेऽपि पुनर्मिथ्याज्ञानस्यापि संभवो भविष्यति तदुत्कर्षे इव सम्यग्ज्ञानस्येति वक्तुं युक्तम्, यतो मिथ्याज्ञाने रागादौ वा दोषदर्शनात्, तद्विपरीते च सम्यग्ज्ञान-वैराग्यलक्षणे गुणदर्शनात् तत्र

---

१ तदेतन्न वा०, पु०, ब०। २-स्यादहेतु-भां०। ३-त्वस्य बि०। ४-तदर्थं तत्र लङ्घयति बा०, बा०; पू०। ५-पर्योपक्षाययो-भ०, पु०, ६-बः क्षयः भां०। ७-व्यवहा बा० व्यवहारी-भां०।

पुनरभ्यासप्रवृत्तिर्भवात् प्रकृष्टेऽपि मिथ्याज्ञान-रागाद्युपचये एव तत्त्वज्ञान-वैराग्ये [illegible] तयोः प्रकर्षावस्थायां दोषदर्शनं तत्र तद्विपर्यये वा गुणदर्शनं येन पुनस्तत्प्राप्त्यभावेऽपि मिथ्याज्ञान-रागादेरुत्पत्तिः संसारे न । न चानभ्यासजन्य ज्ञानस्य सर्वविषयत्वनिवृत्तिः कथं प्रत्यक्षशब्द [illegible] [illegible] निमित्तत्वेन न पुनः शब्दप्रवृत्तिनिमि [illegible] [illegible] व्युत्पत्तौ निमित्तम् अन्य प्रवृत्तौ, यथा गोशब्दस्य गमनं व्युत्पत्तौ, [illegible] .त्वम्—अन्यथा यदि यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावपि तदा गच्छन्त्यामेव गवि गोशब्दप्रवृत्तिः स्यात् न स्थितायाम्, महिष्यादौ च गमनपरिणामवति गोशब्दः प्रवर्तेत—तथाऽत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात् प्रत्यक्ष व्यपदेशः संभवत्येव । यद्वा यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावप्यस्तु तथापि तच्छब्दवाच्यता

१० यास्तत्र माभावः । तथाहि—'अश्नुते' सर्वपदार्थान् ज्ञानात्मना व्याप्नोतीति व्युत्पत्तिशब्दसमाश्रयणा अक्षः आत्मा, तमाश्रितम् उपादानत्वेन तं प्रति गतमिति प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः । अभ्युपगमवादेन चाभ्यासवशात् प्राप्तप्रकर्षेण ज्ञानेन सर्वज्ञ इति प्रतिपादितम् । न त्वस्माकमयमभ्युपगमः किन्तु ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्टयक्षयोद्भूतादोषशेषपदार्थान्यनिन्द्रियशब्दलिङ्गसाक्षात्कारिज्ञानवतः सर्वज्ञत्वमभ्युपगम्यते ।

१५ यच्चोक्तम् 'यद्यतीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानेन सर्वज्ञस्तदा क्रमेणातीतानागतपदार्थवेदने पदार्थानामानन्त्याद् न ज्ञानपरिसमाप्तिः' इति, तदयुक्तम्; तथाऽनभ्युपगमात्; शास्त्रार्थे क्रमेणानुभूतेऽप्यत्यन्ताभ्यासाद क्रमेण संवेदनमनुभूयते तद्वदत्रापि स्यात् । यदप्यभ्यधायि 'अथ युगपत्सर्वपदार्थवेदकं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासासंभवात्; संभवेऽपि' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; यतः परस्परविरुद्धानां किमेकदाऽसंभवः, किंवा संभवेऽप्येकज्ञानेऽप्रतिभासनं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् ? तत्र यद्याद्यः

२० पक्षः, स न युक्तः; जलाऽनलादीनां छायाऽऽतपादीनां चैकदा विरुद्धानामपि संभवात् । अथैक [illegible] विरुद्धानामपि

स्यात्' इत्याद्यपि निरस्तम्, [illegible]

२५ संवेदनात् । यच्चोक्तम् 'यदि युगपत्सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं तदैकक्षण एव सर्वपदार्थ[illegible] द्वितीयादिक्षणे किञ्चिज्ज्ञ एव स स्यात्' इत्यादि, तदप्यत्यन्तासंबद्धम्, यतो यदि द्वितीयक्षणे पदार्थानाम् तज्ज्ञानस्य चाभावः स्यात् तदा स्यादप्येतत्, न चैतत्संभवति, तथाऽभ्युपगमे द्वितीयक्षणे सर्वपदार्थाभावात् सकलसंसारोच्छेदः स्यात् । यदप्यभ्यधायि 'अनाद्यनन्तपदार्थसंवेदने तत्संवेदनस्यापरिसमाप्तिः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; अत्यन्ताभ्यस्तशास्त्रार्थज्ञानस्येव युगपदनाद्यनन्तार्थग्राहि

३० णस्तज्ज्ञानस्यापि परिसमाप्तिसंभवात्; *अन्यथा भूत-भविष्यत्-सूक्ष्मादिपदार्थग्राहिणः* प्रेरणाजनितज्ञानस्यापि कथं परिसमाप्तिः? तत्राप्यपरिसमाप्त्यभ्युपगमे "चोदना भूतं भवन्तं भविष्यन्तम्" इत्यादिवचनस्य नैरर्थक्यं स्यादिति । यदपि 'परस्थरागादिसंवेदने सरागः स्यात्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; नहि परस्थरागादिसंवेदनाद् रागादिमान् भवति, अन्यथा श्रोत्रियद्विजस्यापि स्वप्नज्ञानेन मद्यपानादिसंवेदनाद् मद्यपानदोषः स्यात् । अथाप्यरसनेन्द्रियजं तज्ज्ञानमिति

३५ नायं दोषस्तर्हि सर्वज्ञज्ञानमपि नेन्द्रियजमिति कथमशुचिरसास्वाददोषस्तत्रासज्येत? न च रागादिसंवेदनाद् 'रागी' इति लोके व्यवहारः किन्त्वङ्गनाकामनाद्यभिलाषस्वसंविदितस्यापि व्यवहारकारिणः स्वात्मस्वभावस्योत्पत्तेः; न चासौ तत्रेति कथं स रागादिमान्? यदपि 'अथ शक्तियुक्तत्वेन सर्वपदार्थवेदनम्' इत्यादि, तदप्यचारु; यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्ते सन्निहितदेशादावनुपलब्धेः 'अपरमत्र नास्ति' इति इदानींतनानामियत्तानिश्चयस्तथा सर्वज्ञस्यापि स्वशक्तिपरिच्छे

४० दात्; अन्यथा घटादीनामपि क्वचित् प्रदेशेऽभावनिश्चयेऽपरप्रकारासंभवात् सकलव्यवहारविलोप

---

१ ततोऽत्रा-वा०, पू०, भा०, मां० । २ पृ० ५२ पं० ३ । ३ पृ० ५२ पं० ४ । ४ पृ० ५२ पं० ६ । ५ पृ० ५२ पं० ७ । ६ पृ० ५२ पं० ९ । ७-द्यनाद्यनन्तार्थ-मां० । ८ पृ० ४१ पं० ४२ । ९ पृ० ५२ पं० १० । १०-शापत्यं स्व-वा० । ११ स्वात्मकं स्वभा-पु० । १२ पृ० ५२ पं० ११ ।

त्वात् । 'अथ याबदुपयोगिप्रधानपदार्थजातम्' इत्यादि अपि अयुक्तम्, सकलपदार्थज्ञत्वप्रतिपाद-नात् । अत एव—

"को हेये कथमज्ञः स्याद् अमति प्रतिबन्धरि ।
मावेच दाह्ये न दाग्निः कचिद् दृष्टो न दाहकः ॥" [ ]

इत्यत्र यदुक्तम् "किं सर्वज्ञत्वात्, अथ किञ्चिज्ज्ञत्वाद् इति, नोभयथापि हेतुः । यदि तावत् ५
सर्वज्ञत्वादिति हेत्वर्थः परिकल्प्यते तदा प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरसिद्ध एव, कथं हि तदेव साध्यम्
तदेव हेतुः । अथ किञ्चिज्ज्ञत्वादिति हेतुस्तदा विरुद्धता स्यात्, कथं हि किञ्चिज्ज्ञत्वं सर्वज्ञत्वेन विरुद्धं
सर्वज्ञत्वं साधयेत् ? अथ सत्त्वमात्रं हेतुस्तदाऽनैकान्तिकः, सत्त्वमात्रस्य किञ्चिज्ज्ञत्वेनाप्यविरोधात्'
इति, तदपि निरस्तम्, सामान्येन 'सर्वज्ञत्वात्' इत्यस्य हेतुत्वात् विशेषेण तज्ज्ञत्वस्य साध्यत्वात्
सामान्य—विशेषयोश्च भेदस्य कथञ्चित् प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् सामान्येन सर्वज्ञत्वस्य चानुमान-१०
व्यवहारिणं प्रति साधितत्वात् । एतेन 'सूक्ष्माऽन्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्'
इत्यत्र प्रयोगे प्रमेयत्वहेतोर्यद् दूषणमुपन्यस्तं पूर्वपक्षवादिना तदपि निरस्तम्, सर्वसूक्ष्माऽन्तरित-
पदार्थानां व्याप्तिप्रसाधकेनानुमानप्रमाणेन वा पक्षेन सामान्यतः प्रमेयत्वस्य प्रसाधितत्वात् ।

यच्च 'प्रधानपदार्थपरिज्ञानं न सकलपदार्थज्ञानमन्तरेण संभवति' इति, तत् सर्वज्ञवचनामृ-
तरसास्वादसंभवो भवतोऽपि कथञ्चित् संपन्न इति लक्ष्यते । तथाहि तद्वचः— १५

"जे एगं जाणइ" [आचा० प्र० श्रु० अध्य० ३, उ० ४ सू० १२२] इत्यादि ।

तन्मतानुसारिभिः पूर्वाचार्यैरप्ययमर्थो न्यगादि—

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः" ॥ [ ]

अस्यायमर्थः—न ह्यसर्वविदा कश्चिदेकोऽपि पदार्थस्तत्त्वतो द्रष्टुं शक्यः, एकस्यापि पदार्थस्यानुगत-२०
व्यावृत्तधर्मद्वारेण साक्षात् पारंपर्येण वा सर्वपदार्थसंबन्धिस्वभावत्वात्; तत्स्वभावाऽवेदने च
तस्याऽवेदनमेव परमार्थतः ततस्तज्ज्ञानं स्वप्रतिभासमेव वेत्तीति नार्थो विदितः स्यात्, केवलं
तत्राभिमानमात्रमेव लोकस्य । अथ संबन्धिस्वभावता पदार्थस्य स्वरूपमेव न भवति, यत् केवलं
प्रत्यक्षप्रतीतं सन्निहितमात्रं स एव वस्तुस्वभावः, संबन्धिता तु तत्र परिकल्पितैव पदार्थान्तरद-
र्शनसंभवतया । तथा चोक्तम्— २५

"निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना ।
संबध्यते कल्पनया, किमकार्यं कथञ्चन !" ॥ [ ] इति,

तदेतदयुक्तम्, एवं हि परिकल्प्यमाने स्वरूपमात्रसंवेदनाद् अद्वैतमेव प्राप्तम्, ततः सर्वपदार्थाभावे
व्यवहाराभावः । अथ व्यवहारोच्छेदभयात् पदार्थसद्भावोऽभ्युपगम्यते तर्हि सर्वपदार्थसंबन्धि-
ताऽपि साक्षात् पारंपर्येण च पदार्थस्वभावोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा साक्षात् पारंपर्येण वाऽन्यप-३०
दार्थजन्यजनकतालक्षणसंबन्धिताऽनभ्युपगमे तद्व्यावृत्त्यनुगतिसंबन्धिताऽनभ्युपगमे च पदार्थस्व-
रूपस्याप्यभावः । तत्पदार्थपरिज्ञाने च तद्विशेषणभूता तत्संबन्धिताऽपि ज्ञातैव, अन्यथा तस्य
तत्परिज्ञानमेव न स्यात्; तत्परिज्ञाने च सकलपदार्थपरिज्ञानमस्मदादीनामनुमानतः, सर्वज्ञस्य च
साक्षात् तज्ज्ञानेन सकलपदार्थज्ञानम् । लोकस्तु प्रत्यक्षेण कथञ्चित् कस्यचित् प्रतिपत्ता । तथाहि—
धूमस्याप्यग्निजन्यतया प्रतिपत्तौ वाष्पादिव्यावृत्तधूमस्वरूपप्रतिपत्तिः, अन्यथा व्यवहाराभावः ।३५
तथा नीलादिप्रतिभासस्य बाह्यार्थसंबन्धितयाऽप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाप्रतिपत्तिरेव स्यात् । तस्मात्
संबन्धितयैव पदार्थस्वरूपप्रतिपत्तिः, तच्च संबन्धित्वं प्रमेयमनुमानेन प्रतीयतेऽभ्यासदशायामस्म-
दादिभिः, यत्रैं क्षयोपशमलक्षणोऽभ्यासस्तत्र तस्य प्रत्यक्षतोऽपि प्रतिपत्तिरिति कथं न प्रधानभूत-
पदार्थवेदने सकलपदार्थवेदनम् एकवेदनेऽपि सकलवेदनस्य प्रतिपादितत्वात् ?

---

१ पृ० ५२ पं० १७ । २—क्तम् "ज्ञत्वात् सर्वज्ञ इति किं सर्व—भां० । ३ पृ० ४४ पं० १८ । ४—यत्वस्य
हे—मा० । ५ पृ० ५५ पं० १६ । ६ पृ० ५२ पं० १८ । ७ नयचक्रस्य प्रान्तभागे तु एवमुपलभ्यते "एको भा
सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः । एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः" इति—(इ
लि० पृ० ४७३) ८—सस्तज्ज्ञानं कां०, गु० । ९—त्र वाऽ—मां० । १०—स्य बाह्यबाह्य—मां० ।
प्रामाण्यबाह्य—बा० ।—स्य प्राप्यबाह्य—भां० । ११ यत्र तु स—मां० । १२ प्र० पृ० पं० [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible], कथं वा तत्कालस्य विपरीतख्यातिरिति? यथा वा [illegible]
[illegible] अपि [illegible] न [illegible], नापि [illegible]
[illegible], तदा सर्वविज्ञानसन्निहितकालं [illegible]
[illegible] तदा को विरोधः, कथं वा [illegible]कालस्थमिति? ५
[illegible] समानमेव [illegible] न [illegible] सर्वज्ञान-
[illegible] युक्तमिति [illegible] युक्तम्, अविसंवादकत्वेऽपि ज्ञानस्य [illegible]
[illegible] [illegible] तस्यापि [illegible]
[illegible] । अतो न युक्तमुक्तम्
[illegible] 'न [illegible] सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्तः' इति [illegible] । यदप्यु-
क्तं 'न तु वा सर्वज्ञत्व[illegible] न शक्यते' इत्यादि, तदप्यसंगतम्; यतो १०
यदा [illegible] इति कश्चित् पुरुषो निर्णीयते तथा
[illegible] कश्चित् [illegible] निर्णीयते तदा को विरोधः? [illegible]
[illegible] वा [illegible] निर्णीयते?
[illegible] प्रवृत्तिः? इति [illegible]
[illegible] इत्यादि । [illegible] १५
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ।

[illegible] २०
[illegible]

[illegible]

[illegible] २५
[illegible]

[illegible] ३०
[illegible]

[illegible]

[illegible]

समप्रमाणसामग्रीप्रभवस्यान्यथात्वं स्यात्। अथानिकल्पसामग्रीप्रभवं प्रत्यक्षं विकलसामग्रीप्रभवात् तस्मात् विलक्षणमिति नायं दोषः, तदत्रापि समानम्। तथाहि—सम्यगज्ञाततदर्थात् वचनात् यद् नष्ट-मुष्टादिविषयं विसंवादिज्ञानमुत्पद्यते तत् सम्यगवगततदर्थवचनोद्भवात् विलक्षणमेव। यथा च विशिष्टसामग्रीप्रभवस्य प्रत्यक्षस्य न कश्चिद् व्यभिचार इति तस्याविसंवादित्वं तथाऽव-
५ गततत्स्वरूपवचनोद्भवस्यापि नष्ट-मुष्टादिविषयविज्ञानस्येति निरुक्ताविसंवादित्वलक्षणं विशेषणं प्रकृतहेतोः।

नाप्यलिङ्गपूर्वकत्वं विशेषणमसिद्धम्, नष्ट-मुष्टादीनामस्मदादीन्द्रियाविषयत्वेन तल्लिङ्गत्वेनाभिमतस्याप्यर्थस्यास्मदाद्यक्षाविषयत्वान्न तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तौ वाऽस्मदादीनामपि तल्लिङ्गदर्शनात् वचनविशेषमन्तरेणापि ग्रहो-परागादिप्रतिपत्तिः स्यात्। न हि साध्यव्याप्तलिङ्गनिश्च-
१० येऽग्न्यादिप्रतिपत्तौ वचनविशेषापेक्षा दृष्टा, न भवति चास्मदादीनां वचनविशेषमन्तरेण कदा-

पूर्वकत्वविशेषणासिद्धिरिति यदुक्तं युक्तम्, उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे नष्ट-मुष्टादिप्रतिपादकवचन-
१५ विशेषस्य वक्तृज्ञान-दुष्टाभिप्राय-वचनाकौशलदोषैः श्रोतृणां मन्दबुद्धित्व-विपर्यस्तबुद्धित्व-गृहीतविस्मरणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यानाद्यौ काले मूलतश्छेदोच्छेद एव स्यात्। तथाहि—इदानीमपि केचिद् ज्योतिःशास्त्रादिकमज्ञानदोषादन्यथोपदिशन्त उपलभ्यन्ते, अन्ये सम्यगवगच्छन्तोऽपि दुष्टाभिप्रायतया, अन्ये वचनदोषादव्यक्तमन्यथा चेति; तथा श्रोतारोऽपि केचिद् मन्दबुद्धित्वदोषादुक्तमपि यथावन्नावधारयन्ति, अन्ये विपर्यस्तबुद्धयः सम्यगुपदिष्टमप्यन्यथाऽवधारयन्ति, केचित् पुनः
२० सम्यक्परिज्ञातमपि विस्मरन्तीत्येवमादिभिः कारणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यैतावन्तं कालं यावदागमनमेव न स्यान्मूलोच्छिन्नत्वेन, आगच्छति च; तस्मादन्तराऽन्तरा विच्छिन्नः सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता केनचिदभिव्यक्त इयन्तं कालं यावदागच्छतीत्यभ्युपगमनीयमिति नानुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिः।

नाप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां नष्ट-मुष्टादिकं ज्ञात्वा तद्विषयवचनविशेषप्रवर्तनं कस्यचित्
२५ संभवति येनानन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिः स्यात्, यतो नान्वय-व्यतिरेकाभ्यां ग्रहो-परागौ-षधशक्त्यादयो ज्ञातुं शक्यन्ते, प्रावृट्समये शिलीन्ध्रोद्भेदवत् ग्रहो-परागादीनां दिक्-प्रमाण-फल-कालादिषु नियमाभावात्। द्रव्यशक्तिपरिज्ञानाभ्युपगमेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यावन्ति जगति द्रव्याणि तान्येकत्र मीलयित्वैकस्य रस-कल्कादिभेदेन, कर्षादिमात्राभेदेन, बाल-मध्यमावस्थाभेदेन, मूल-पत्राद्यवयवभेदेन प्रक्षेपो-द्धाराभ्यामेकोऽपि योगो युगसहस्रेणापि न
३० ज्ञातुं पार्यते किमुतानेक इति कुतस्ताभ्यामौषधशक्त्यवगमः? तेन नानन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणस्यासिद्धिः। नापि नष्ट-मुष्टादिविषयवचनविशेषस्यापौरुषेयत्वात् विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वस्यासिद्धेरसिद्धः प्रकृतो हेतुः, अपौरुषेयस्य वचनस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्।

नाप्यसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेऽपि प्रकृतवचनविशेषस्य संभवादनैकान्तिकः, सविशेषणस्य हेतोर्विपक्षे सत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्। अत एव न विरुद्धः, विपक्ष एव वर्तमानो विरुद्धः, न चास्य पूर्वोक्त-
३५ प्रकारेणावगततत्त्वसाध्यप्रतिबन्धस्य विपक्षे वृत्तिसंभवः। अथ भवतु ग्रहो-परागाभिधायकवचनस्य तत्पूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोः, तत्र तस्य संवादात्। धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिस्तु कथं तत्र तस्य संवादाभावात्? न, तत्रापि तस्य संवादात्। तथाहि—ज्योतिःशास्त्रादिर्ग्रहो-परागादिकं विशिष्टवर्ण-प्रमाण-दिग्विभागादिविशिष्टं प्रतिपद्यमानः प्रतिनियतानां प्रतिनियतदेशवर्तिनां प्राणिनां प्रतिनियतकाले प्रतिनियतकर्मफलसंसूचकत्वेन प्रतिपद्यते। उक्तं च तत्र—

४० "नक्षत्र-ग्रहपञ्जरमहर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम्।
भ्रमति शुभाशुभमखिलं प्रकाशयत् पूर्वजन्मकृतम्॥" [ ]

अतो ज्योतिःशास्त्रं ग्रहो-परागादिकमिव धर्माऽधर्मावपि प्रमाणान्तरसंवादतोऽवगमयति तेन ग्रहो-परागादिवचनविशेषस्य धर्माऽधर्मसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धम्। तत्सिद्धौ सकलपदार्थसा-

---

१-विरोधस्त्र-भां० मु०।

क्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धिमासादयति । नहि धर्माऽधर्मयोः सुख-दुःखकारणत्वसाक्षात्करणं सहकारिकारणादोषपदार्थ-तदाधारभूतसमस्तप्राणिगणसाक्षात्करणमन्तरेण संभवति, सर्वपदार्थानां परस्परप्रतिबन्धादेकपदार्थतत्त्वधर्मप्रतिपत्तिश्च सकलपदार्थप्रतिपत्तिनान्तरीयका प्राक् प्रतिपादिता । अतो भवति सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोर्वचनविशेषत्वात्, तत्सिद्धौ च तत्प्रणेतुः सूक्ष्मान्तरितदूरानन्तार्थसाक्षात्कार्यतीन्द्रियज्ञानसम्पत्समन्वितस्य कथं न सिद्धिः? ५

नाप्येतद् वक्तव्यम्-साध्योक्ति-तदावृत्तिवचनयोरनभिधानाद् न्यूनता नामाऽत्र साधनदोषः, प्रतिज्ञावचनेन प्रयोजनाभावात् । { अथ विषयनिर्देशार्थं प्रतिज्ञावचनम्, ननु स एव किमर्थः? साधर्म्यवत्प्रयोगादिप्रतिपत्त्यर्थः । तथाहि-असति साध्यनिर्देशे 'यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः' इत्युक्ते किमयं साधर्म्यवान् प्रयोगः, उत वैधर्म्यवानिति न ज्ञायेत, उभयं ह्यत्राहृत-वचनविशेषत्वेन साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वे साध्ये साधर्म्यवान्, असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेन १० वचनाविशेषत्वे साध्ये वैधर्म्यवानिति । हेतु-विरुद्धाऽनैकान्तिकप्रतीतिश्च न स्यात् । प्रतिज्ञापूर्वके तु प्रयोगे शब्दविशेषः साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः, शब्दविशेषत्वाद् इति हेतुभावः प्रतीयते; असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वाद् इति विरुद्धता; चक्षुरादिकरणजनितज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वाद् इत्यनैकान्तिकत्वम् । हेतोश्च त्रैरूप्यं न गम्येत, तस्य साध्यापेक्षया व्यवस्थितेः । सति प्रतिज्ञानिर्देशेऽवयवे समुदायोपचारात् साध्यधर्मी इति पक्ष इति तत्र प्रवृत्तस्य वचनविशेषत्वस्य पक्षधर्म- १५ त्वम्, साध्यधर्मसामान्येन च समानोऽर्थः सपक्ष इति तत्र वर्तमानस्य सपक्षे सत्त्वम्, न सपक्षोऽसपक्ष इत्यसपक्षेऽप्यसत्त्वं प्रतीयते } तदिदमनालोचिताभिधानम्, तथाहि—यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्येतावन्मात्रमभिधाय नैव कश्चिदास्ते किन्तु हेतोर्धर्मिण्युपसंहारं करोति । तत्र यदि वचनविशेषश्चायं नर-मुख्यादिविषयो वचनसंदर्भ इति ब्रूयात् तदा साधर्म्यवत्प्रयोगप्रतीतिः, अथासाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकश्चेत्यभिदध्यात् तदा वैधर्म्यवत इति संबन्धवचनपूर्वकात् २० पक्षधर्मत्ववचनात् प्रयोगद्वयावगतेः विवक्षितसाध्यावगतिश्च । हेतु-विरुद्धाऽनैकान्तिका अपि पक्षधर्मवचनमात्रेण न प्रतीयन्ते, यदा तु संबन्धवचनमपि क्रियते तदा कथमप्रतीतिः? तथाहि—यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते हेतुरवगम्यते, विधीयमानेनानूद्यमानस्य व्याप्तेः । यो वचनविशेषः सोऽसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते विरुद्धः, विपर्ययव्याप्तेः । यो वचनविशेषः स चक्षुरादिजनितज्ञानपूर्वक इति अनैकान्तिकाध्यवसायः, व्यभिचारात् । तथा, त्रैरूप्यमपि हेतोर्गम्यत २५ एव, यतो व्याप्तिदर्शनकाले व्यापको धर्मः साध्यतया अवगम्यते, यत्र तु व्याप्यो धर्मो विवादास्पदीभूते धर्मिण्युपसंह्रियते स समुदायैकदेशतया पक्ष इति तत्रोपसंहृतस्य व्याप्यधर्मस्य पक्षधर्मत्वावगतिः । सा च व्याप्तिर्यत्र धर्मिण्युपदर्श्यते स साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः प्रतीयत इति सपक्षे सत्त्वमप्यवगम्यते । सामर्थ्याच्च व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तिर्यत्रावसीयते सोऽसपक्ष इति असपक्षेऽप्यसत्त्वमपि निश्चीयते इति नार्थः प्रतिज्ञावचनेन । तदाह धर्मकीर्तिः—"यदि प्रती- ३० तिरन्यथा न स्यात् सर्वं शोभेत, यदा च पक्षधर्मसंबन्धवचनमात्रात् प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि प्रतीतिरिति कस्तस्योपयोगः"? [ ] यदा च प्रतिज्ञावचनं नैरर्थक्यमनुभवति तदा तदावृत्तिवचनस्य निगमनलक्षणस्य सुतरामनुपयोग इति न प्रतिज्ञावचनमपि प्रकृतसाधनस्य न्यूनतादोषः; केवलं तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारसामर्थ्यादेव सिद्धत्वात् अर्थापन्नस्य स्वशब्देन पुनरभिधानं निग्रहस्थानमिति प्रतिज्ञादिवचनं वादकथायां क्रियमाणं ३५ तत्कर्तुर्निग्रहमापादयति । उपनयवचनं तु हेतोः पक्षधर्मत्वप्रतिपादनादेव लब्धमिति तस्यापि ततः पृथक् प्रतिपादने पुनरुक्तताळक्षण एव दोष इति न तदनभिधानेऽपि न्यूनं साधनवाक्यम्, ततः सर्वदोषरहितत्वात् साधनवाक्यस्य भवत्यतः प्रकृतसाध्यसिद्धिः ।

स्वसाध्याविनाभूतश्च हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्शितव्यो वादकथायामित्यभिप्रायवता आचार्येण गाथासूत्रावयवेन तथाभूतहेतुप्रदर्शनं कृतमिति । तथाहि—'कुसमयविसासणं' इत्यनेन गाथा- ४० सूत्रावयववचनेन स्वसाध्यव्याप्तस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारः सूचितः । हेतोश्च स्वसाध्यव्याप्तिः

१ पृ० ६१ पं० १८ । २-धर्मी पक्ष इति तत्र प्रवृत्त इति प्रतृ-क० । ३ सामर्थ्यादि वां० । ४-वचनमेव वृ-भां० ।

हेतोः स्वसाध्यव्याप्तिं प्रसाधयति । यत्र तु प्रकृतप्रयोगाद् दृष्टान्तधर्मिणोऽपि सत्त्वं तत्र दृष्टान्तध-
५ र्मिण्यपि प्रवृत्तं तत् प्रमाणं सर्वोपसंहारेणैव तस्याः प्रसाधकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा दृष्टान्तधर्मिणि
हेतोः स्वसाध्यव्याप्तावपि साध्यधर्मिणि तस्य तद्व्याप्तौ न ततस्तत्र तत्प्रतिपत्तिः स्यात्, दृष्टान्तध-
र्मिण्येव तेन तस्य व्याप्तत्वात्, बहिर्व्याप्तेर्विद्यमानाया अपि साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तावनुपयो-
गात् सादृश्यमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात्; अन्यथा 'शुक्लं सुवर्णम्, सत्त्वात्, रजतवत्' इत्यत्रापि शुक्ल-
त्वप्रतिपत्तिः स्यात् । अथात्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनम्, प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन हेतोः
१० कालात्ययापदिष्टत्वं वा दोषः, तदयुक्तम्, बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् । तथाहि—सत्येव साध्यध-
र्मिणि साध्ये हेतुर्वर्तत इति तस्य तदविनाभावः, तत्प्रतिपादितसाध्यधर्माभावश्च प्रमाणतो बाधा,
साध्यधर्मभावाऽभावयोश्चैकत्र धर्मिण्येकदा विरोध इति नैतद्दोषादस्य साधनस्य दुष्टत्वं किन्तु
साध्यधर्मिणि साध्यधर्माविनाभूतत्वेनाऽनिश्चयः । स च बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतोः साध्यसाधकत्वाभ्यु-
पगमेऽन्यत्रापि समान इति नानुमानात् क्वचिदपि साध्यनिश्चयः स्यात् । अतो दृष्टान्तधर्मिणि
१५ प्रवृत्तेन प्रमाणेन व्याप्त्या हेतोः स्वसाध्याविनाभावो निश्चेयः । स च निश्चिताविनाभावो यत्र
धर्मिण्युपलभ्यते तत्र स्वसाध्यमविद्यमानप्रमाणान्तरबाधनं निश्चाययति, यथाऽत्रैव सर्वज्ञप्र-
णतत्वे साध्ये वचनविशेषलक्षणे साध्यधर्मिणि तद्विशेषत्वलक्षणो हेतुः । प्रतिबन्धप्रसाधकं चास्य
हेतोः प्रागेव दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाणं प्रदर्शितमित्यभिप्रायवतैव आचार्येणापि 'कुसमयविसासणं'
इति सूत्रे 'कु:' इत्यनेन दृष्टान्तसूचनं विहितम्, न च पक्षवचनानुपक्षेपः सूचितः ।

२० ननु भवत्वस्माद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेण सर्वज्ञमात्रसिद्धिर्न पुनस्तद्विशेषसिद्धिः । तथाहि—यथा
अर्हत्-बुद्धादिविषयवचनविशेषस्य अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतत्वं वचनविशेषत्वात् सिध्यति तथा बुद्धादिसर्व-
ज्ञपूर्वकत्वमपि तत एव सेत्स्यतीति कुतस्तद्विशेषसिद्धिः? न च अर्हत्-बुद्धादिप्रतिपादको वचनवि-
शेषोऽर्हच्छासन एवेति वक्तुं युक्तम्, बुद्धशासनादिष्वपि तस्योपलम्भात् इत्याशङ्क्याह सूरिः
'सिद्धत्थाणं' इति । अस्यायमभिप्रायः—प्रत्यक्षाऽनुमानादिप्रमाणविषयत्वेन प्रतिपादिता शास-
२५ नेन ये ते तद्विषयत्वेनैव तैर्निश्चिता इति सिद्धाः, ते च 'अर्यन्ते' इति अर्था उच्यन्ते, तेषां शासनं
प्रतिपादकम् अर्हत्सर्वज्ञशासनमेव न बुद्धादिशासनम् । अतो वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोस्तत्प्रति-
बद्धत्वात् कुतस्तेषामपि सर्वज्ञत्वं येन विशेषसर्वज्ञत्वसिद्धिर्न स्यात्? यथा च [illegible] प्रत्यक्षादि-
विषयत्वेन प्रतिपादितानामर्थानां तद्विषयत्वं न संभवति तथाऽत्रैव यथास्थानं प्रतिपादयिष्यते ।

अथवा 'सिद्धार्थानाम्' इत्यनेन हेतुर्विशेषणं विहितमाचार्येण—सिद्धाः प्रमाणान्तरसंवादतो
३० विनिश्चिताः, [illegible] अर्हत्-बुद्धादयः, तेषां शासनं प्रतिपादकं यतो द्वादशाङ्गं प्रवचनमतो [illegible]
[illegible] सर्वज्ञप्रणीतम्, एतदर्थं प्रयोगार्थः सूचितः—प्रयोगश्च—प्रमाणान्तरसंवादिविषयोऽर्हत्-बुद्धादि-
[illegible] शासनम् । अत्र च सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपाद-
[illegible] हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिः साध्यधर्मिण्येव निश्चि-
तेति [illegible] दृष्टान्तस्य प्रदर्शनमाचार्येण न विहितम्, तदर्थेन [illegible]
३५ सिद्धत्वात् । यथा [illegible] साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयात् दृष्टान्तव्यतिरेकेणापि [illegible]
[illegible] प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथा [illegible]
[illegible] प्रतिपादितं [illegible]
[illegible] हेतोः प्रकृतसाध्यसिद्धिः । अत एव पूर्वाचार्यैः [illegible] हेतु

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible]
[illegible]

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?" ॥ [ ]

इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रतिपादित इति मन्वानेन आचार्येणापि न दृष्टान्तमुक्तं विहितमत्र प्रयोगे । 'कुसमयविशासनम्' इति च अत्र व्याख्याने बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वप्रतिपादकत्वेन व्याख्येयम् । तथाहि—कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन, समयाः कपिलादिप्रणीतसिद्धान्तास्तेषाम् "सन्ति पञ्च महब्भूया" [सूत्रकृ० प्र० श्रु०, प्र० अ०; प्र० उ०, गा० ७] इत्यादिवचनसंदर्भेण दृष्टेष्टविषये विरोधोद्भावकत्वेन 'विशासनम्' विध्वंसकं यतः अतो द्वादशाङ्गमेव जिनानां शासनमिति भवत्यतो विशेषणात् सर्वज्ञविशेषसिद्धिरिति स्थितमेतज्जिनशासनं द्वादशाङ्गं तत्त्वादेव सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमिति ॥

[ईश्वरस्वरूपवादः]

अत्र ईश्वरकृतजगद्वादिनः प्राहुः—युक्तमुक्तम् 'सर्वज्ञप्रणीतं शासनम्, तत्प्रणीतत्वाच्च तत् प्रमाणम्' इति । इदं त्वयुक्तम् 'राग-द्वेषादिकान् शत्रून् जितवन्त इति जिनाः' । सामान्ययोगिन एवेश्वरव्यतिरिक्ता एतल्लक्षणयोगिनः न पुनः शासनादिप्रणेता जगत्स्रष्टा ईश्वरः । तथा च पतञ्जलिः—

"क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [योगद० पा० १, सू० २४] इति ।

अनेन सूत्रेण रागादिलक्षणक्लेशशत्रुरहितत्वं सहजमीश्वरस्य प्रतिपादितम् न पुनर्विपक्षभावनाऽभ्यासव्यापाराद् क्लेशादिक्षयलक्षणम्, येन 'रागादीन् स्वव्यापारेण जितवन्तः' इति वचः सार्थकं तद्विषयत्वेन स्यात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—

"ज्ञानमप्रतिघं यस्य ऐश्वर्यं च जगत्पतेः ।
वैराग्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्" ॥ [ ]

इत्याशङ्क्याह— 'भवजिणाणं' इति, भवन्ति नारक-तिर्यग्-नराऽमरपर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः संसारः तद्धेतुत्वाद् रागादयोऽत्र 'भव'शब्देनोपचाराद् विवक्षिताः, तं जितवन्त इति जिनाः । उपचाराश्रयणे च प्रयोजनम्—न ह्यविकलकारणे रागादौ अप्रध्वस्ते तत्कार्यस्य संसारस्य जयः शक्यो विधातुमिति प्रतिपादनम् । भवकारणभूतरागादिजये चोपायः प्रतिपादितः प्राक्; तदुपायेन च विपक्षरागादिजयद्वारेण तत्कार्यभूतस्य भवस्य जयः संभवति नान्यथेति । न चोपायव्यतिरेकेणापीश्वरसिद्धिः अन्यथोपेयस्य निर्हेतुकत्वेन देश-काल-स्वभावप्रतिनियमो न स्यादिति सर्वप्राणिनामीश्वरत्वम्, न वा कस्यचित् स्यात् । प्रतिपादितश्चायमर्थः—

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः" ॥ [ ]

इत्यादिना ग्रन्थेन धर्मकीर्तिना । तन्न रागादिक्लेशविगमः स्वभावत एवेश्वरस्येति युक्तम् ।

[प्रासङ्गिकी परलोकचर्चा]

[पूर्वपक्षः—परलोके प्रत्यवस्थानम्]

अत्र बृहस्पतिमतानुसारिणः स्वभावसंसिद्धज्ञानादिधर्मकलापाध्यासितस्य स्रष्टुरभावप्रतिपादनं जैनेन दुर्घटताऽस्माकं साहाय्यमनुष्ठितमिति मन्यमानाः प्राहुः—युक्तमुक्तं यत् 'स्वभावसंसिद्धज्ञानादिसंपत्समन्वितस्येश्वरस्याभावः' 'नारक-तिर्यग्-नराऽमरपर्यायत्वेन उत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति' एतदयुक्तमभिहितम्, परलोकसद्भावे प्रमाणाभावात् । तथाहि—परलोकसद्भावावेदकं प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानम् आगमो वा जैनैरभ्युपगम्येत, अन्यस्य प्रमाणत्वेन तैरनिष्टेः । न चैतद् वक्तव्यम्—भवतोऽपि किं तन्निषेधकं प्रमाणम्? यतो नास्माकमिह प्रतिषेधकप्रमाणात् तदभावः प्रतिपाद्यते किन्तु परोक्तप्रमाणपर्यनुयोगमात्रमेव क्रियते । अत एव

"सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः" [ ] इति चार्वाकैरभिहितम् ।

---

१ प्र० पृ० पं० ८। २ पृ० ३३ पं० २०। ३ पृ० ६१ पं० १०। ४ प्र० पृ० पं० २२। ५ प्र० पृ० पं० २०।

स च परोपन्यस्तप्रमाणपर्यनुयोगः तदभ्युपगमस्य प्रश्नादिद्वारेण विचारणा न पुनः स्वसिद्धप्रमाणोपन्यासः, येन 'अतीन्द्रियार्थप्रतिक्षेपकत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रमाणमाश्रयासिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वेन कथं प्रवर्त्तते' इत्यस्मान् प्रति भवताऽपि पर्यनुयोगः क्रियेत । अत एव परलोकप्रसाधकप्रमाणाभ्युपगमं परेण ग्राहयित्वा तदभ्युपगमस्थानेन प्रकारेण विचारः क्रियते-

५　तत्र न तावत् परलोकप्रतिपादकत्वेन चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभं सन्निहितप्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते । नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षं तत्र प्रवर्तत इति वक्तुं शक्यम्, परलोकादिवत् तस्याप्यसिद्धेः ।

नाप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं तत्र प्रवृत्तिमासादयति, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्यानुमानस्यापि तत्राप्रवृत्तेः । अथ यद्यपि प्रत्यक्षावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवमनुमानं न तत्र प्रवर्त्तते तथापि सामान्यतोदृष्टं
१० तत्र प्रवर्त्तिष्यते, तदपि न युक्तम्; यतस्तदपि सामान्यतोदृष्टमवगतप्रतिबन्धलिङ्गोद्भवम्, आहोस्वित् अनवगतप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थम्? यद्यनवगतप्रतिबन्धलिङ्गोद्भवमिति पक्षः, स न युक्तः; तथाभूतलिङ्गप्रभवस्य स्वविषयव्यभिचारेण अभ्रदर्शनानन्तरोद्भूतराज्याद्यतिविकल्पस्येवाप्रमाणत्वात् । अथ प्रतिपन्नसंबन्धलिङ्गप्रभवं तत् तत्र प्रवर्त्तत इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; प्रतिबन्धावगमस्यैव तत्र लिङ्गस्यासंभवात् । तथाहि-प्रत्यक्षस्य तत्र लिङ्गसंबन्धावगमनिमित्तस्याभावेऽनुमानं लिङ्गसंबन्ध-
१५ ग्राहकमभ्युपगन्तव्यम् । तत्र यदि तदेव परलोकसद्भावावेदकमनुमानं स्वविषयाभिमतेनार्थेनात्मोत्पादकलिङ्गसंबन्धग्राहकं तदेतरेतराश्रयत्वदोषः । अथानुमानान्तराद् गृहीतप्रतिबन्धाल्लिङ्गादुपजायमानं तद्विषयं तदभ्युपगम्यते तदाऽनवस्था । तथा, सर्वमप्यनुमानमस्मान् प्रत्यसिद्धम् । तथाहि—बृहस्पतिसूत्रम्-

"अनुमानमप्रमाणम्" [　　　　] इति ।

२० अनेन प्रतिज्ञाप्रतिपादनं कृतम्, अनिश्चितार्थप्रतिपादकत्वो(त्वात्)सिद्धप्रमाणाभासवदिति हेतु-दृष्टान्तावभ्यूह्यौ ।

विषयविचारेण याऽनुमानप्रामाण्यमयुक्तम्—धर्म-धर्मिसमुदायस्वतन्त्रसाधने सिद्धसाध्यता यतः, अतो विशेषणविशेष्यभावः साध्यः । प्रमेयविशेषविषयां प्रमां कुर्वत् प्रमाणं प्रमाणतामश्नुते । इतरेतरायत्तिरूपश्च समुदायोऽत्र प्रमेयः, तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वादीनामन्यतमस्यापि कस्याप्य-
२५ सिद्धिः । नहि समुदायधर्मता हेतोः, नापि समुदायेनान्वयो व्यतिरेको वा, धर्मिमात्रापेक्षया पक्षधर्मत्वे साध्यधर्मापेक्षया च व्याप्तौ गौणतेति । उक्तं च-

"प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" [　　　　] इति ।

धर्मिधर्मताग्रहणेऽपि न गौणतापरिहारः, प्रतीयमानापेक्षया गौण-मुख्यव्यवहारस्य विनयत्वात् । समुदायश्च प्रतीयते । एकदेशाश्रयणेनापि वैकल्प्यमयुक्तम्, व्याप्त्यसिद्धेः । नहि सत्तामात्रेणाविनाभावो
३० गमकः अपि त्ववगतः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । स च सकलसपक्ष-विपक्षाप्रत्यक्षीकरणे दुर्विज्ञातोऽसर्वविदा । न चात्र भूयोदर्शनं कारणम्, सहस्रशोऽपि दृष्टस्याहदर्शने व्यभिचारात् । अत एव न दर्शनादर्शनमपि । तदुक्तम्—

"गोमानिर्घेत्र मत्वेन साध्यमव्यवनाऽपि किम्?" [　　　　] इति ।

देश-काला(ऽ)वस्थाभेदेन च भावानां भावान्यथागमादनाश्वासः । तदुक्तम्—

३५　"अवस्था-देश-कालानाम्" [वाक्यप० प्र० का० श्लो० ३२] इत्यादि । आह च-

"अविनाभावसंबन्धस्य सर्वानुमतत्वान्नात्" [　　　　]

तत्र 'सामान्यस्य लिङ्गस्य नस्ताभावात्, स्वार्थ-परार्थभेदासंभवात्, विरुद्धाऽनुमान-विरोधयोः सर्वत्र

१-त्वाद्सिद्ध—का०, ख०, मा०, भां० । २-अत्र गौण-भां०, मां० । तत्त्वोपप्लवसिंहे "प्रमाणस्य गौणत्वा(द)" इत्यादि दुर्लभम्, इत्य पौरन्दरं सूत्रम् इति उद्धृतम् तत्त्वो पृ० १११ पं० १-४ । ३-धर्मित्वप्र-गु० । ४ एव दुर्लभा-वा०, गु० । ५ वा०, भां०, ख०, म०, पु० बिना सर्वत्र पूर्ण श्लोक—

अवस्था-देश-कालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु । भावानामनुमानेन प्रतीतिरतिदुर्लभा ॥ इत्येतस्मिन् दुर्लभा म० । "प्रतीतिरतिदुर्लभा" भा० वि० ।

न्, कश्चित् विरुद्धाव्यभिचारिणः' इत्यादि दूषणजालं तद् अनुद्घोषणीयमेव, यतोऽनिश्चिता-
पादकत्वाद् "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यनुमानाऽप्रमाणताप्रतिपादने कृते दोषदूषणजालस्य मूल-
कत्वात् । ततोऽनुमानस्याप्रमाणत्वादतीन्द्रियपरलोकस्याप्रतिपादने कुतस्तस्य प्रवृत्तिः ?

अथेदमेव जन्म पूर्वजन्मान्तरमन्तरेण न युक्तमिति जन्मान्तरलक्षणस्य परलोकस्य सिद्धिरिष्यते,
केमियमर्थापत्तिः, अथानुमानं वा ? न तावदर्थापत्तिः, तल्लक्षणाभावात्, ५

"दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते" [मीमांसाद० अ०१, पा०१, सू०५ शाबरभा०]

हि तस्या लक्षणं विमर्शयिष्यते । न तु जन्मान्तरमन्तरेण नोपपत्तिमदिदं जन्मेति सिद्धम्,
पितृभ्यामपीमावकेन तस्योपपत्तेः, तन्मात्रहेतुकत्वे चान्यपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् ।

अथ प्रज्ञा-मेधादयो जन्मादावभ्यासपूर्वका दृष्टाः कथमतत्पूर्वका भवेयुः, न वह्निपूर्वको धूमस्तत्पू-
ामन्तरेण कदाचिदपि प्रत्यनुपलब्धः, तदप्यसत् । अविनाभावसंबन्धस्य देश-कालव्याप्ति- १०
य प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः—सन्निहितमात्रप्रतिपत्तिनिमित्तं हि प्रत्यक्षमुपलभ्यते 'सर्वत्र सर्वदे-
तत्ययोर्विना वह्निमन्तरेण एव धूमस्य' इति प्रत्यक्षतः प्रतीतिर्युक्ता। अतो न धूमोऽपि वह्निपूर्वकः
प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां सिद्ध इति कुतस्तेन दृष्टान्तेन जन्मान्तरपरलोकसाधनम् ? तस्मात्
नृ प्रज्ञा-मेधादयस्तथाभूताभ्यासपूर्वकाः, केचिद् मातापितृशरीरपूर्वका इति । न च प्रज्ञादयः
तो व्यतिरिच्यमानस्वभावाः संवेदनविषयतामुपयान्ति, शरीरं च तद्गुण-व्यतिरेकानु- १५
मदेव दृष्टमिति कथमन्यथा व्यवस्थामर्हन्ति ?

अथ पूर्वोपादानमन्तरेण कथं मातापितृविलक्षणं शरीरम् ? तदेवैतद् व्यभिचारो दृश्यते,
कार्यं हि कारणानुरूपमेव कार्यम्, तेन विलक्षणादपि मातापितृशरीराद् यदि प्रज्ञा-[illegible]
पं तद्रूपस्य शरीरमुपजायेत, कदाचित् तदाकारानुकारि तत् च यथाऽत्र विरोधः ? यथा कश्चित्
[illegible]देव शालूकः, कश्चिद् गोमयात् तथा कश्चित्पुनर्कन्दाद् वृश्चिकः, कश्चित् तदाकारतदर्थवद्‌ २०
। अथ दर्शनादपि विकलः पूर्वविकलपरिणामान्तरेण कथं भवेत् ? तर्हि गोमयादपि शालूक
शालूकमन्तरेणेति मतदपि प्रत्यक्षम् । तस्मात् कार्यकारणभावमात्रमेवैतत् । तत्र च विकलाप्यन्या
ज्ञानादपि मातापितृशरीराद् विज्ञानमुपजायताम् । अथवा यथा विकलाद् [illegible] विकल
तायते तथा व्यवहितादपि मातापितृशरीरात् भवेतीति न भेदं पश्याम । यथा [illegible]
[illegible]कालादेव प्रज्ञाः प्रजोत्पत्तिरिति न आयतनपरिग्रहं [illegible] न [illegible] २५
[illegible]ः । यदि मातापितृसंबन्धमात्रमेव परलोकः, तथैवाभ्युपगमविरोधात् ।

अथानादनन्त आत्माऽस्ति तमाश्रित्य परलोकः साध्यते, न हेतावनुपलब्धिदूषणं [illegible]
[illegible]पत्ति, विज्ञानुभवितर्यनुपलम्भाभावादेः, तदयुक्तम् ।

"परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः" [ ] इति वचनात् ।

[illegible] आत्मा प्रत्यक्षप्रमाणाप्रसिद्धः । अनुमानेन चेत्तत्सिद्धिस्तद् [illegible] ३०
[illegible]अविनाभूतत्वे आत्मसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चानुमानावतारः [illegible]
[illegible] सिद्धिः । न चाप्रसिद्धधर्मिक साध्यते । किञ्च, [illegible]
[illegible] कार्यकारणभावः प्रत्यक्षसिद्धः, तत् कुतोऽनुमानस्य [illegible] ? अपि च,
[illegible] कथं जन्मान्तरानुसन्धानाभावे [illegible]
[illegible], तदपि परलोकस्य विशिष्यते । [illegible] न दृष्टो जीवन इह [illegible] ३५
[illegible]प्रसङ्गेन न परलोकसिद्धिः । अथवा सिद्धेऽपि परलोके, [illegible]
[illegible]नुमानेन परलोकास्तित्वसाधनम् । [illegible]
[illegible] सिद्धमिति किमनुमानप्रयासेन ?

न आगमादपि परलोकसिद्धिः, तस्य प्रामाण्यासिद्धेः । न [illegible] परलोक[illegible]
[illegible] युक्तम्, तदभावकत्वादपि तदाऽभ्युपगमप्रसङ्गात् । तत्र परलोक[illegible] ४०

१-[illegible] दृ० । २ [illegible] पृ० ।

'भव' शब्दव्युत्पत्तिरर्थसंस्पर्शिन्यभिधातुं युक्ता। डित्थादिशब्दव्युत्पत्तितुल्या तु यदि क्रियेत तदा नास्माभिरपि तत्प्रतिपादकप्रमाणपर्यनुयोगे मनः प्रणिधीयत इति पूर्वपक्षः ॥

[उत्तरपक्षः–परलोकस्य व्यवस्थापनम्]

अत्रोच्यते–यदुक्तम् 'पर्यनुयोगमात्रमस्माभिः क्रियते' इति, तत्र वक्तव्यम्–पर्यनुयोगोऽपि क्रिय-
५ माणः किं प्रमाणतः क्रियते, उताप्रमाणतः? यदि प्रमाणतस्तदयुक्तम्, यतस्तत्कार्यपि प्रमाणं किं प्रत्यक्षम्,
उतानुमानादि? यदि प्रत्यक्षम् तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्याविचारकत्वेन पर्यनुयोगस्वरूपविचाररचनाऽ-
चतुरत्वात्।

न च प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणत्वं युक्तम्, भवदभ्युपगमेन तल्लक्षणासंभवात्। तदसंभवश्च स्वरूप-
व्यवस्थापकधर्मस्य लक्षणत्वात्। तत्र प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यस्वरूपव्यवस्थापको धर्मोऽविसंवादित्वल-
१० क्षणोऽभ्युपगन्तव्यः। तच्चाविसंवादित्वं प्रत्यक्षप्रामाण्येनाविनाभूतमभ्युपगम्यम्, अन्यथाभूतात् ततः
प्रत्यक्षप्रामाण्यासिद्धेः; सिद्धौ वा यतः कुतश्चिद् यत् किञ्चिदनभिमतमपि सिध्येदित्यतिप्रसङ्गः। स
चाविनाभावस्तस्य कुतश्चित् प्रमाणादवगन्तव्यः, अनवगतप्रतिबन्धाद्धर्मान्तरप्रतिपत्तौ नालिकेरद्वीपवा-
सिनोऽप्यनवगतप्रतिबन्धाद् धूमाद् धूमध्वजप्रतिपत्तिः स्यात्। अविनाभावावगमश्चाखिलदेश-काल-
व्याप्त्या प्रमाणतोऽभ्युपगमनीयः; अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्तौ संवादित्व-प्रामाण्ययोरन्वयावगतस्त-
१५ स्यामेवाविसंवादित्वात् तत् सिध्येत् न व्यक्त्यन्तरे, तत्र तस्यानवगमात्। न चावगतलक्ष्यलक्षणसंबन्धा
व्यक्तिर्देश-कालान्तरमनुवर्त्तते, तस्याः प्रत्यक्षव्यक्तेस्तदैव ध्वंसाद् व्यक्त्यन्तराननुगमात्। अनुगमे वा
व्यक्तिरूपताविरहात् अनुगतस्य सामान्यरूपत्वात् तस्य च भवताऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा न सामा-
न्यलक्षणानुमानविषयाभावप्रतिपादनेन तत्प्रतिक्षेपो युक्तः। स च प्रमाणतः प्रत्यक्षे लक्ष्य-लक्षणयो-
र्व्याप्त्याऽविनाभावावगमो यदि प्रत्यक्षादभ्युपगम्यते तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्य सन्निहितस्वविषयप्रतिभा-
२० समात्र एव भवता व्यापाराभ्युपगमात्। अथैकत्र व्यक्तौ प्रत्यक्षेण तयोरविसंवादित्व-प्रामाण्ययोरवि-
नाभावावगमादन्यत्रापि 'एवंभूतं प्रत्यक्षम् प्रमाणम्' इति प्रत्यक्षेणापि लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्या प्रतिब-
न्धावगमस्तर्ह्यन्यत्रापि 'एवंभूतं ज्ञानलक्षणं कार्यम् एवंभूतज्ञानकार्यप्रभवम्' इति तेनैव कथं न
सर्वोपसंहारेण कार्यलक्षणहेतोः स्वसाध्याविनाभावावगमः। येन 'अनुमानमप्रमाणम्, अविनाभाव-
संबन्धस्य व्याप्त्या ग्रहीतुमशक्यत्वात्' इति दूषणमनुमानवादिनं प्रति भवताऽऽसज्यमानं शोभते।
२५ किंच, अविसंवादित्वलक्षणो धर्मः प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्यव्यवस्थापकः प्रत्यक्षप्रतिबद्धत्वेन निश्चेयः;
अन्यथा तत्रैव ततः प्रामाण्यलक्षणलक्ष्यव्यवस्था न स्यात्, असंबद्धस्य केनचित् सह प्रत्यासत्ति-वि-
प्रकर्षाभावात् तद्वदन्यत्रापि ततस्तद्व्यवस्थाप्रसङ्गः। तथाऽभ्युपगमे च यथा संवादित्वलक्षणो धर्मो
लक्ष्यानवगमेऽपि प्रत्यक्षधर्मिसंबन्धित्वेनावगम्यते तथा धूमोऽपि पर्वतैकदेशे अनलानवगमेऽपि
प्रदेशासंबन्धितयाऽवगम्यत इति कथम् 'समुदायः साध्यः, तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वं हेतोरवगन्त-
३० व्यम्, न च पक्षधर्मत्वाप्रतिपत्तौ साध्यधर्मानलविशिष्टतत्प्रदेशप्रतिपत्तिः प्रतिपत्तौ वा पक्षधर्म-
त्वाद्यनुसरणं व्यर्थम्, तत्प्रतिपत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तेः। समुदायस्य साध्यत्वेनोपचारात् तदेकदेशधर्मि-
धर्मत्वावगमेऽपि पक्षधर्मत्वावगमाददोषे उपचरितं पक्षधर्मत्वं हेतोः स्यादित्यनुमानस्य गौणतापत्तेः
प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभः' इति चोद्यावसरः? प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणेऽपि क्रियमाणे-
ऽस्य सर्वस्य समानत्वेन प्रतिपादितत्वात्। यदा चाविसंवादित्वलक्षण-प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्ययोः सर्वो-
३५ पसंहारेण व्याप्तिरभ्युपगम्यते, अविसंवादित्वलक्षणश्च प्रामाण्यव्यवस्थापको धर्मस्तत्राङ्गीक्रियते पूर्वो-
क्तन्यायेन तदा कथमनुमानं नाभ्युपगम्यते प्रमाणतया? तथाहि–'यत् किञ्चिद् दृष्टं तस्य यत्राविनाभाव-
स्तद्विदस्तस्य तद् गमकं तत्र' इत्येतावन्मात्रमेवानुमानस्यापि लक्षणम्। तच्च प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणम-
भ्युपगच्छताऽभ्युपगम्यते देवानांप्रियेण। तथा, प्रामाण्यमप्यनुमानस्याभ्युपगतमेव, यतो यदेवाविसं-
वादित्वलक्षणं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम् अनुमानस्यापि तदेव। तदुक्तम्—

---

१ पृ० ६९ पं० १८। २–लक्षणानुगमस्य वा०, बा०, भा० विना सर्वत्र। ३–भावमवगत्याऽन्य–भा०, मां०, बा०। ४ पृ० ७० पं० १९–३५। ५–याम् तदन्यत्रा–मां० विना। ६ "कथं नोद्यावसरः? इति इत्थः संबन्धः" मां० मां० टि०। ७ पृ० ७० पं० ३१। ८ प्र० पृ० पं० ८। ९–गतमेव देवा–मां०।

"अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ [ ] इति।

अर्थासंभवेऽभावः प्रत्यक्षस्य संवादस्वभावः प्रामाण्ये निमित्तम्, स च साध्यार्थाभावेऽभाविनो लिङ्गादुपजायमानस्यानुमानस्यापि समान इति कथं न तस्यापि प्रामाण्याभ्युपगमः?

किंच, अयं चार्वाकः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी यदि परेभ्यः प्रत्यक्षलक्षणमनवबुध्यमानेभ्यस्तत् ५ प्रतिपादयति तदा तेषां ज्ञानसंबन्धित्वं कुतः प्रमाणादवगच्छति? न तावत् प्रत्यक्षात्-परचेतोवृत्तीनां प्रत्यक्षतो ज्ञातुमशक्यत्वात्-किं तर्हि स्वात्मनि ज्ञानपूर्वकौ व्यापार-व्याहारौ प्रमाणतो निश्चित्य परेष्वपि तथाभूततद्दर्शनात् तत्संबन्धित्वमवबुध्यते ततस्तेभ्यस्तत् प्रतिपादयति। तथाऽभ्युपगमे च व्यापार-व्याहारादेर्लिङ्गस्य ज्ञानसंबन्धित्वलक्षणस्वसाध्याव्यभिचारित्वं पक्षधर्मत्वं चाभ्युपगतं भवतीति कथमनुमानोत्थापकस्यार्थस्य त्रैरूप्यमसिद्धम्-येन 'नास्माभिरनुमानप्रतिक्षेपः १० क्रियते किंतु त्रिलक्षणं यदनुमानवादिभिर्लिङ्गमभ्युपगतं तन्न लक्षणभाग् भवतीति प्रतिपाद्यते' इति वचः शोभामनुभवति-प्रत्यक्षलक्षणप्रतिपादनार्थं परचेतोवृत्तिपरिज्ञानाभ्युपगमे त्रिलक्षणहेत्वभ्युपगमस्यावश्यंभावित्वप्रतिपादनात्? अथ नास्माभिः प्रत्यक्षमपि प्रमाणत्वेनाभ्युपगम्यते-येन 'तल्लक्षणप्रणयनेऽवश्यंभावी अनुमानप्रामाण्याभ्युपगमः' इत्यस्मान् प्रति भवद्भिः प्रतिपाद्येत-यत्तु "प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्" [ ] इति वचनं तत् तात्त्विकलक्षणालक्षितलोकसंव्यवहारिप्रत्यक्षापेक्षया, अत एव १५ लक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकानुमानस्य "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यादिग्रन्थसन्दर्भेणाप्रामाण्यप्रतिपादनं विधीयते न पुनर्गोपालावनलोकव्यवहारवचनाचतुरस्य धूमदर्शनमात्राविर्भूतानलप्रतिपत्तिरूपस्य, नैतवाग्मिः तस्यापि महानसादिदृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धनिश्चितसाध्यधर्मिधर्मधूमबलोद्भूतत्वेन तात्त्विकलक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकत्वस्य वस्तुतः प्रदर्शितत्वात्। 'एतत् पक्षधर्मत्वम्' 'इयं चास्य धूमस्य व्याप्तिः' इति साङ्केतिकव्यवहारस्य गोपालादिमूर्खलोकासंभविनोऽकिञ्चि २० त्करत्वात्। प्रत्यक्षस्य चाविसंवादित्वं प्रामाण्यलक्षणम्, तद् यथा संभवति तथा परतःप्रामाण्यं व्यवस्थापयद्भिः 'सिद्धं' इत्येतत्पदव्याख्यायां दर्शितं न पुनरुच्यते। तत् स्थितमेतत्-न प्रत्यक्षस्य भवदभिप्रायेण प्रामाण्यव्यवस्थापकलक्षणसंभवः तद्भावे वाऽनुमानस्यापि प्रामाण्यप्रसिद्धिरिति न प्रत्यक्षं पर्यनुयोगविधायि।

नाऽप्यनुमानादिकं पर्यनुयोगकारि, अनुमानादेः प्रमाणत्वेनानभ्युपगमात्। अथास्माभिर्यद्यप्य २५ नुमानादिकं न प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते तथापि परेण तत् प्रमाणतयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रसिद्धेन तेन परस्य पर्यनुयोगो विधीयते; ननु परस्य तत् प्रमाणतः प्रामाण्याभ्युपगमविषयः, अथाप्रमाणतः? यदि प्रमाणतः तदा भवतोऽपि प्रमाणविषयस्तत् स्यात्; नहि प्रमाणतोऽभ्युपगमः कस्यचिद् भवति कस्यचिन्नेति युक्तम्। अथाप्रमाणतोऽनुमानादिकं प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते परेण तदाऽप्रमाणेन न तेन पर्यनुयोगो युक्तः, अप्रमाणस्य परलोकसाधनवत् तत्साधकप्रमाणपर्यनुयोगेऽप्यसामर्थ्यात्। अथ तेन ३० प्रमाणलक्षणापरिज्ञानात् तत्प्रामाण्यमभ्युपगतमिति तत्सिद्धेनैव तेन परलोकादिसाधनाभिमतप्रमाणपर्यनुयोगः क्रियते; नन्वज्ञानात् तत् परस्य प्रमाणत्वेनाभिमतम्, न चाज्ञानादन्यथात्वेनाभिमन्यमानं वस्तु तत्साध्यामर्थक्रियां निर्वर्तयति। अन्यथा विषत्वेनाभिमन्यमानं महौषधादिकमपि तान् मारयितुकामेन दीयमानं स्वकार्यकरणक्षमं स्यात्। अथ नास्माभिः परलोकप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगोऽनुमानादिना स्वतन्त्रप्रसिद्धप्रामाण्येन, पराभ्युपगमावगतप्रामाण्येन वा क्रियते किं तर्हि 'यदि पर- ३५ लोकादिकोऽतीन्द्रियोऽर्थः परेणाभ्युपगम्यते तदा तत्प्रतिपादकं प्रमाणं वक्तव्यम्, प्रमाणनिबन्धना हि प्रमेयव्यवस्थितिः, तस्य च प्रमाणस्य तल्लक्षणासंभवेन तद्विषयाभिमतस्याप्यभावः' इत्येवंविचारणालक्षणः पर्यनुयोगः क्रियत इति न स्वतन्त्रानुमानोपन्यासपक्षधर्मत्वासिद्ध्यादिलक्षणदोषावकाशो बृहस्पतिमतानुसारिणाम्। नन्वेवमप्यनया भङ्ग्या भवता परलोकाद्यतीन्द्रियार्थप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगे प्रसङ्गसाधनाख्यमनुमानम् तद्विपर्ययस्वरूपं च स्ववाचैव प्रतिपादितं भवति। तथाहि-'प्रमा ४०

१-निश्चित्वलक्षणन-वि०। २-त्वाद्यपलब्धि-वा०। ३ पृ० ७० पं० १९-पृ० ७१ पं० ३। ४ पृ० १९ पं० १०। ५ वाऽ-भां०, वां०, मां०।
स० त० १०

'भव' शब्दव्युत्पत्तिरर्थसंस्पर्शिन्यभिधातुं युक्ता । दिव्यादिजन्मव्युत्पत्तितया तु यदि क्रियेत तदा नास्माभिरपि तत्प्रतिपादकप्रमाणपर्यनुयोगे मनः प्रणिधीयत इति पूर्वपक्षः ॥

[उत्तरपक्षः–परलोकस्य व्यवस्थापनम्]

अत्रोच्यते–यदुक्तम् 'पर्यनुयोगमात्रमस्माभिः क्रियते' इति, तत्र वक्तव्यम्–पर्यनुयोगोऽपि क्रियमाणः किं प्रमाणतः क्रियते, उताप्रमाणतः? यदि प्रमाणतस्तदयुक्तम्, यतस्तत्कार्यपि प्रमाणं किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानादि? यदि प्रत्यक्षम् तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्याविचारकत्वेन पर्यनुयोगस्वरूपविचारचनाऽचतुरत्वात्।

न च प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं युक्तम्, भवदभ्युपगमेन तल्लक्षणासंभवात्। तदसंभवश्च स्वरूपव्यवस्थापकधर्मस्य लक्षणत्वात्। तत्र प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यस्वरूपव्यवस्थापको धर्मोऽविसंवादित्वलक्षणोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाविसंवादित्वं प्रत्यक्षप्रामाण्येनाविनाभूतमभ्युपगम्यम्, अन्यथाभूतात् ततः प्रत्यक्षप्रामाण्यासिद्धेः; सिद्धौ वा यतः कुतश्चिद् यत् किञ्चिदनभिमतमपि सिध्येदित्यतिप्रसङ्गः। न चाविनाभावस्तस्य कुतश्चित् प्रमाणादवगन्तव्यः, अनवगतप्रतिबन्धादर्थान्तरप्रतिपत्तौ नालिकेरद्वीपवासिनोऽप्यनवगतप्रतिबन्धाद् धूमाद् धूमध्वजप्रतिपत्तिः स्यात्। अविनाभावावगमश्चाखिलदेश-कालव्याप्त्या प्रमाणतोऽभ्युपगमनीयः; अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्तौ संवादित्व-प्रामाण्ययोस्तदवगतस्तस्यामेवाविसंवादित्वात् तत् सिध्येत् न व्यक्त्यन्तरे, तत्र तस्यानवगमात्। न चावगतलक्ष्यलक्षणसंबन्धा व्यक्तिर्देश-कालान्तरमनुवर्तते, तस्याः प्रत्यक्षव्यक्तेस्तद्देश धर्माद् व्यक्त्यन्तराननुगमात्। अनुगमे वा व्यक्तिरूपताविरहात् अनुगतस्य सामान्यरूपत्वात् तस्य च भवताऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा न सामान्यलक्षणानुमानविषयाभावप्रतिपादनेन तत्प्रतिक्षेपो युक्तः। न च प्रमाणतः प्रत्यक्षे लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्याऽविनाभावावगमो यदि प्रत्यक्षादभ्युपगम्यते तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्य सन्निहितस्वविषयप्रतिभासमात्र एव भवता व्यापाराभ्युपगमात्। अथैकत्र व्यक्तौ प्रत्यक्षेण तयोरविसंवादित्व-प्रामाण्ययोरविनाभावावगमादन्यत्रापि 'एवंभूतं प्रत्यक्षम् प्रमाणम्' इति प्रत्यक्षेणापि लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्या प्रतिबन्धावगमस्तर्ह्यन्यत्रापि 'एवंभूतं ज्ञानलक्षणं कार्यम् एवंभूतज्ञानकार्यप्रभवम्' इति तेनैव कथं न सर्वोपसंहारेण कार्यलक्षणहेतोः स्वसाध्याविनाभावावगमः। येन 'अनुमानमप्रमाणम्, अविनाभावसंबन्धस्य व्याप्त्या ग्रहीतुमशक्यत्वात्' इति दूषणमनुमानवादिनं प्रति भवताऽऽमन्यमानं शोभते। किंच, अविसंवादित्वलक्षणो धर्मः प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्यव्यवस्थापकः प्रत्यक्षप्रतिबद्धत्वेन निश्चेयः; अन्यथा तत्रैव ततः प्रामाण्यलक्षणलक्ष्यव्यवस्था न स्यात्, असंबद्धस्य येनचित् सह प्रत्यासत्ति-विप्रकर्षाभावात् तद्वदन्यत्रापि ततस्तद्व्यवस्थाप्रसङ्गः। तथाऽभ्युपगमे च यथा संवादित्वलक्षणो धर्मो लक्ष्यानवगमेऽपि प्रत्यक्षधर्मिसंबन्धित्वेनावगम्यते तथा धूमोऽपि पर्वतैकदेशे अनलानवगतावपि प्रदेशसंबन्धितयाऽवगम्यत इति कथम् 'समुदायः साध्यः, तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वं हेतोरवगन्तव्यम्, न च पक्षधर्मस्याप्रतिपत्तौ साध्यधर्मानलविशिष्टतत्प्रदेशाप्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तौ वा पक्षधर्म-

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ऽस्य सर्वस्य समानत्वेन प्रतिपादितत्वात्। यदा चाविसंवादित्वलक्षण-प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्ययोः सर्वोपसंहारेण व्याप्तिरभ्युपगम्यते, अविसंवादित्वलक्षणश्च प्रामाण्यव्यवस्थापको धर्मस्तत्राङ्गीक्रियते पूर्वोक्तन्यायेन तदा कथमनुमानं नाभ्युपगम्यते प्रमाणतया? तथाहि–'यत् किञ्चिद् दृष्टं तस्य यत्राविनाभावस्तद्विदस्तस्य तद् गमकं तत्र' इत्येतावन्मात्रमेवानुमानस्यापि लक्षणम्। तच्च प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणमभ्युपगच्छताऽभ्युपगम्यते देवानांप्रियेण। तथा, प्रामाण्यमप्यनुमानस्याभ्युपगतमेव, यतो यदेवाविसंवादित्वलक्षणं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम् अनुमानस्यापि तदेव। तदुक्तम्—

---

१ पृ० ६९ पं० २८। २–स्तदानुगतस्य भा०, वा०, मां० विना सर्वत्र। ३–भावमवगत्याऽन्य–वा०, मां०, बा०। ४ पृ० ७० पं० १६–१९। ५–यात् तदन्यत्रा–मां० विना। ६ "कथं नोपालम्भः? इति शब्दः संबन्धः" मां० टि०। ७ पृ० ७० पं० ३१। ८ प्र० पृ० पं० ८। ९–गतमेव देवा–मां०।

तस्मादिप्रत्ययस्य, अत्राभ्युपगमे परलोकस्यादिनः स्वपक्षमनायासमसिद्धमेव मन्यन्ते; "नहि दृष्टेऽनुपपन्नम्" इति न्यायात् । यथैव हि निश्चयस्था मातापितृ-जन्मप्रतिपत्त्यसिद्धिस्तथैवेहजन्मार्थ-
[illegible]
त्यानव्यात्मदशायामुपलब्धेः, अव्यापदशायां च पक्षधर्मत्वाद्यनुसरणस्यान्यथाप्यसंवेदनात् सिद्धमनुमानप्रतीतत्वं परलोकस्य ।

अथेतरेतराश्रयदोषादनुमानं नास्त्येवंविधे विषये इत्युच्येत, नन्वेवं सति सर्वमेवाभावतो व्यवहारोच्छेद इति तदुच्छेदमनभ्युपगच्छता व्यवहारार्थिनाऽवश्यमनुमानमभ्युपगन्तव्यम् । एतेन प्रत्यक्षपूर्वकत्वाभावेऽप्यनुमानस्य प्रामाण्यं प्रतिपादितम् । न चानुमानपूर्वकत्वेऽपीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः, तस्यैवेतरेतराश्रयदोषस्य व्यवहारप्रवृत्तितो निराकरणात् ।

यदप्युक्तम् 'अनुमानपूर्वकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्नानुमानप्रवृत्तिः' इति, तदप्ययुक्तम्; एवं हि सति प्रत्यक्षगृहीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषये नानुमानप्रवृत्तिमन्तरेण सिद्धिरस्ति इति सोऽप्यर्थो प्रत्यक्षव्यापारात् पुनरप्यर्थान्तरापेक्षः शून्यतापत्तेर्वा व्यवहारोच्छेद इति व्यवहारकलाप एवानवस्था परिहियत इति । अभ्युपगमवादेन चैतदुक्तम्, अन्यथा चार्वाकव्यवस्थापनाय प्रत्यक्षे प्रवर्तते । तथा, प्रदर्शितहेतोर्व्याप्तिप्रसाधनार्थं केषांचिद् मतेन निर्विकल्पकम्, अन्येषां तु सविकल्पकं चक्षुरादिकरणव्यापारजन्यम्, अपरेषां मानसम्, केषांचिद् व्याप्तिग्रहणोपयोगि ज्ञानम्, अन्येषां प्रत्यक्षानुपलम्भलक्षणोऽनुमानलिङ्गजोहाख्यं परोक्षं प्रमाणं तत्र व्याप्रियत इति कथमनुमानेन प्रतिबन्धग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः परलोकवादिनः प्रति भवता प्रेर्येत ?

यदप्युक्तम् 'सर्वमप्यनुमानमस्मान् प्रति प्रमाणत्वेनासिद्धम्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; यतः किमनुमानमात्रस्याप्रामाण्यं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यादिग्रन्थेन, अथ नास्तिकलक्षणलेपः, अतीन्द्रियार्थानुमानप्रतिषेधो वा ? न तावदनुमानमात्रप्रतिषेधो युक्तः, लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । यतः प्रतिपत्तिकोविदाः कस्यचिदर्थस्य दर्शने नियमतः किञ्चिद्दर्शयन्ते न तु सर्वस्मात् सर्वस्यागमः । उक्तं चान्येन—

"व्यवहारविसंवादी भूयो न तदाऽऽगमनुमर्हति" । [ ]

अतः किञ्चिद् दृष्ट्वा कस्यचिदर्थस्य निश्चितं कल्पनीयम् । तच्च नियमसाहचर्यग्रहनिमित्तकत्वात् सामान्यविशेषयोः परिकल्पितम् । तदयमत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसहायप्रमाणप्रतिपत्तिः प्रतीयते । सामान्यद्वारेण प्रतिबन्धावगमाद् देशादिव्यभिचारो न बाधकः, नापि कालव्यवधानम्, तदपि सामान्यस्य व्यक्त्यात् । सामान्यद्वारेणोपपत्तिप्रतिभासं च मानसे प्रत्यक्षे यथा दानसङ्कल्पव्यपदेशेन 'दानम्' इति प्रत्यये विशेषणद्वारेण पूर्वगृहीतानां दानसङ्कल्पादिपदार्थानाम् । तथाहि— 'इदं दानम्' इति प्रत्ययो भवत्येव । सामान्यस्य च सर्वमनुगताऽव्यभिचारदर्शनेन कल्पितम् । तदेवं नियतसाहचर्यमर्थान्तरं प्रतिपादयदुपलभ्यं सत् प्रतिपादयति । इदमस्यावश्यं क्वचित् लिङ्गम्, सैव पक्षधर्मता, ततः साध्यस्यानुगतिः ततः साध्यावगमः । यत्तु प्रतिबन्धं गोऽयेति तथापि कर्तुं न शक्यत्वात् सर्वप्रतिपत्तिः अभ्युपगमे चाऽप्रतिपत्तेऽपि स्वरूपे प्रतिपत्ति-प्रसङ्गः ? । प्रमाणान्तरव्यापाराणां पूर्वदर्शनानामभावात् इत्यनुक्तम्, संबन्धोऽनिरस्तो प्रत्यक्षस्वरूपानुपपत्तेः । दर्शनजः संस्कारोऽप्यनभिव्यक्तः सत्तामात्रेण न प्रतिपत्त्युपयोगी, न च स्मृतिमन्तरेण तत्सद्भावोऽपि । न चानुभवध्वंसनिबन्धना स्मृतिः कल्पयितुं शक्या, सोऽनन्तरक्षणेऽनुपपत्तेः प्रवर्तमानस्य च विवेकिनोऽव्यवस्थानात् । एतावत्यस्मिन् विषये सम्बन्धदर्शनादनन्तरमेव सामर्थ्यप्रतिपत्तिरपि प्रामाण्याभ्युपगमेन सम्बन्धस्मरणात् । इयांस्तु विशेषः—एकत्र कालान्तरे स्मृतिसंवेदनम्, अन्यत्रान्यासाद् विद्यमानस्य सान्तरं निश्चितिः । केचित्तु "दर्शनादनुमा-

१ मातापितृ-मो०, पु० । २-प्रसाधितं पा०, पु० । ३ पृ० ७० पं० २४ । ४ पृ० ७१ पं० ११ । ५ प्रमाणित-मो० पं० । ६ पृ० ७० पं० १० । ७ पृ० ७० पं० ११-पृ० ७१ पं० ३ । ८-कोऽपि, पु० । ९ 'अनिक' मो० टि० । वैदिकाः पु० । १०-नादेति (गम इति) लिखितं मो०, पु० । ११-सर्वप्रतिपत्तिकं मो०, पं०, पु०, पा० वि० । १२-केषु-चित्तु मूर्तेषु-मूर्ते प्रतिपत्तिः । १३-सम्बन्धस्मरणात् मो०, पा०, पं० ।

संबन्धग्राहकमाहुः व्याप्तेः सकलाक्षेपेणावगमात्" तथा च यत्र यत्रेति देशकालविभिन्नानां व्य-
नामनवभासाऽनुपपत्तिः, अत एकत्र क्षणे योगित्वं प्रतिबन्धग्राहिणः। एवम् पूर्वेलाद्विशिष्ट
तद् लोके अर्थान्तरदर्शनात् अर्थान्तरसुदृढप्रतीतौ तार्किकाणां निमित्तचिन्तायां पक्षधर्मत्वाद्य-
धानम्। अतो न तान्त्रिकलक्षणप्रतिक्षेपोऽपि।

५ उत्पन्नप्रतीतीनामस्तु प्रामाण्यम्, उत्पाद्यप्रतीतीनां तु अतीन्द्रियाऽदृष्ट-परलोक–सर्वज्ञा-
नुमानानां प्रतिक्षेप इति चेत्, तदसत्; यदनवगतसंबन्धात् प्रतिपत्तृनपेक्ष्यैतदुच्यते त
धूमादिष्वपि तुल्यम्। अथ गृहीताविनाभावानामप्यतीन्द्रियपरलोकादिप्रतिभासानुत्पत्तेरेव
च्यते, तदसत्; ये हि कार्यविशेषस्य तद्विशेषेण गृहीताविनाभावास्ते तस्मात् परलोकाद्य-
गच्छन्त्येव, अतो न ज्ञायते केन विशेषेणातीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपः? साहचर्यविशेषे-
१० व्याप्यगता नियतता प्रयोजिका न व्यापकगता, अतः समव्याप्तिकानामपि व्याप्यमुखेनैव प्रति-
पत्तिः। नियतताऽवगमे चार्थान्तरप्रतिपत्तौ न बाधा, न प्रतिबन्धः, एकस्य रूपभेदानुपपत्तेः
ततो न विशेषविरुद्धसंभवः नापि विरुद्धाव्यभिचारिण इति यदुक्तम् 'विरुद्धाऽनुमान–विरोधयं
सर्वत्र संभवात् क्वचिच्च विरुद्धाव्यभिचारिणः' इति, एतदप्यपास्तम्। 'अविनाभावसंबन्धस्य
ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अवस्था–देश–कालादिभेदात्' इत्यादेश्च पूर्वनीत्याऽनुमानप्रमाणत्वेऽनुपपत्तिः

१५ परोक्षस्यार्थस्य सामान्याकारेणान्यतः प्रतिपत्तौ लोकप्रतीतायां बौद्धैस्तु कार्यकारणभावादि-
लक्षणः प्रतिबन्धस्तन्निमित्तत्वेन कल्पितः। तदुक्तम्—

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्" ॥ [ ] इत्यादि।

तथा—

२० "अवश्यंभावनियमः कः परस्यान्यथा परैः।
अर्थान्तरनिमित्ते वा धर्मे वाससि रागवत्" ॥ [ ] इति च।

तथाहि—क्वचित् पर्वतादिदेशे धूम उपलभ्यमानो यद्यग्निमन्तरेणैव स्यात् तदा पावकधर्मानुवृत्ति-
तस्तस्य तत्कार्यत्वं यन्निश्चितं विशिष्टप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां तदेव न स्यादित्यहेतोस्तस्यासत्त्वात्
क्वचिदप्युपलम्भो न स्यात्, सर्वदा सर्वत्र सर्वाकारेण वोपलम्भः स्यात्, अहेतोः सर्वदा सत्त्वात्।
२५ स्वभावश्च यदि भावव्यतिरेकेण स्यात् ततो भावस्य निःस्वभावत्वापत्तेः स्वभावस्याप्यभावापत्तिः।
तत्प्रतिबन्धसाधकं च प्रमाणं कार्यहेतोर्विशिष्टप्रत्यक्षाऽनुपलम्भशब्दवाच्यं प्रत्यक्षमेव सर्वज्ञसाधक-
हेतुप्रतिबन्धनिश्चयप्रस्तावे प्रदर्शितम्। स्वभावहेतोस्तु कस्यचिद् विपर्यये बाधकं प्रमाणं व्यापकानु-
पलब्धिस्वरूपम्, कस्यचित् तु विशिष्टं प्रत्यक्षमभ्युपगतम्। सर्वथा सामान्यद्वारेण व्यक्तीनाम् अतद्-
व्यावृत्तव्यक्तिरूपेण वा तासां प्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः; अन्यथाऽप्रतिबद्धादन्यतोऽन्यप्रतिपत्त्याव-
३० तिप्रसङ्गात्। प्रतिबन्धप्रसाधकं च प्रमाणमवश्यमभ्युपगमनीयम्; अन्यथाऽगृहीतप्रतिबन्धादर्था-
न्तरोऽन्यप्रतिपत्तावपि प्रसङ्गस्तदवस्थ एव। यत्र गृहीतप्रतिबन्धोऽसावर्थ उपलभ्यमानः साध्य-
सिद्धिं विदधाति तद्धर्मता तस्य पक्षधर्मत्वस्वरूपा, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानं वा। तदुक्तं
धर्मकीर्तिना—

"पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा" [ ]

३५ अतो लोकप्रसिद्ध-तान्त्रिकलक्षणलक्षितानुमानयोर्भेदाभावादतीन्द्रियपरलोकाद्यर्थसाधकत्वमपि
तत्त्वेनेति तत्प्रामाण्यानभ्युपगमे इहलोकस्यापि अभ्युपगमाभावप्रसङ्गः। न च 'किमत्र निर्णायक-
कम्, मानसम्, योगिप्रत्यक्षम्, ऊहो वा प्रतिबन्धनिश्चायकम्; प्रतिबन्धोऽपि नियतसाहचर्यलक्षणः
कार्यकारणभावादिर्वा' इति चिन्ताऽत्रोपयोगिनी, धूमादग्निप्रतिपत्तिवत् प्रज्ञा-मेधादिविज्ञानका-
र्यविशेषाविनाभाव्यन्तरविज्ञानस्वभावपरलोकप्रतिपत्तिसिद्धेः। अतोऽनुमानाप्रामाण्यप्रतिपादनाय

१ पृ० ७५ पं० १७। २ पृ० ७० पं० ३६। ३ पृ० ७० पं० ३३-३५। ४ पत्रे नं०।
५–तन्निमित्तेऽपा–भा०। ६ पृ० ५० पं० १८।

पूर्वपक्षवादिना यद् युक्तिजालमुपन्यस्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्; प्रतिपदमुत्तार्थं न दूष्यते ग्रन्थगौरवभयात्।

यदप्युक्तम् 'परलोके प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेरर्थापत्तिरेवेयम् इहजन्मान्यथाऽनुपपत्त्या परलोकसद्भावः' इति, तदपि न सम्यक्; पूर्वानुसारेण सर्वत्र निपतत्प्रत्ययस्य प्रवृत्तेरनुमानत्वप्रतिपादनात्। अविनाभावसंबन्धस्य प्रतीतुमशक्यत्वात्तत्रानुमानमिति चेत्; नन्वेवं तदेवार्थापत्तावन्यत्र वा कस्य केन दोषाभिधानम्। तस्मात् संव्यवहारकारिणा प्रत्यक्षेण ऊहेन वा प्रतिबन्धसिद्धिरिति कथं नानु- ५
मानात् परलोकसिद्धिः?

यदप्युक्तम् 'मातापितृसामग्रीमात्रेणेहजन्मसंभवात् तज्जन्मव्यतिरिक्तभूतपरलोकसाधनं युक्तम्' इति, तदपि प्रतिविहितमेव; समनन्तरप्रत्ययमात्रेण प्रत्ययप्रत्यक्षस्य भावात् समादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षाद् बाह्यार्थसिद्धिरपि इति बौद्धाभिमतपक्षसिद्धिप्रसङ्गोऽनन्तत्वात्। यदपि प्रत्यपादि 'न सन्निहितमात्रविषयत्वात् प्रत्यक्षस्य देश-कालव्याप्त्या प्रतिबन्धग्रहणसामर्थ्यम्' इति, तदपि न किञ्चित्; १०
एवं सति अतिसन्निहितविषयत्वेन प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्र एव प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति तदेव बौद्धाद्यभिमतं स्वसंवेदनमात्रं सर्वव्यवहारोच्छेदकारि प्रसक्तमिति प्रतिपादितप्रायम्। तस्माल्लोकव्यवहारप्रवर्त्तनक्षमसविकल्पकप्रत्यक्षबलाद् ऊहाख्यप्रमाणाद् वा देश-कालव्याप्त्या यथोक्तलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धग्रहणे प्रवृत्तिरनुमानस्येति न व्याहतिः प्रकृतस्येति एतदपि निरस्तम् 'केचित् प्रज्ञादयः' इत्यादि। न च 'प्रज्ञा-मेधादयः शरीरस्वभावान्तर्गताः' इत्यादि चोद्यं युक्तम्, तदन्तर्गतत्वेऽपि परिहारसंभवादन्व- १५
य-व्यतिरेकाभ्यां तेषां मातापित्रोः पितृशरीरजन्यत्वस्य पितृशरीरं (?) तर्हि हेतुभेदाच्च भेदो मातापितृशरीरादपत्यप्रज्ञादीनाम्। अयमपरो वृहस्पतिमतानुसारिण एव दोषोऽस्तु यः कार्यभेदेऽपि कारणभेदं नेच्छति। अस्माकं तु हर्ष-विषादाद्यनेकविरुद्धधर्माक्रान्तस्य विज्ञानस्यान्तर्मुखाकारतया वेद्यस्य रूपरसगन्धस्पर्शादियुगपद्भावि—बालकुमारयौवनवृद्धावस्थाद्यनेकक्रमभाविविरुद्धधर्माध्यासिततच्छरीरादेर्बहिरिन्द्रियप्रभवविज्ञानसमधिगम्याद् भेदः सिद्ध एव। विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च २०
पदार्थानां भेदकः; स च जलाऽनलयोरिव शरीर-विज्ञानयोर्विद्यत एवेति कथं न तयोर्भेदः? तद्भेदाऽभ्युपगमेऽपि तद्भेदे प्रज्ञाद्वैतवादापत्तेस्तदवस्थ एव पृथिव्यादितत्त्वचतुष्टयाभावापत्त्या व्यवहारोच्छेदः। अथवा मातापितृ-पूर्वजन्मैकसामग्रीजन्यमेतत् कार्यम्, एवंच (तच) दोषोऽव्यतिरिक्तपक्षेऽपि विज्ञान-शरीरयोः। पूर्वमप्युक्तम् 'विलक्षणादप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मातापितृशरीराद् विज्ञानमुपजायताम्; नहि कारणाकारमेव सकलं कार्यम्' इति, तदप्यसत्; यतो नहि कारणविलक्षणं कार्यं न भवती- २५
त्युच्यते, अपि तु तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानात् तत्कार्यत्वम्। तथाहि—यद् यद्विकारान्वय-व्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कार्यमिति व्यवस्थाप्यते, यथा अगुरु-कर्पूरोर्णादिदाह्यदाहकपावकगतसुरभिगन्धाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी धूमस्तत्कार्यतया व्यवस्थितः, एकसन्तत्युपतितशास्त्रसंस्कारादिसंस्कृतभावनाविज्ञानधर्मान्वयव्यतिरेकानुविधायि च प्रज्ञा-मेधाद्युत्तरविज्ञानमिति कथं न तत्कार्यमभ्युपगम्यते? तदनभ्युपगमे धूमादेरपि प्रसिद्धवह्न्यादिकार्यस्य तत्कार्यत्वाप्रसिद्धिरिति ३०
पुनरपि सकलव्यवहारोच्छेदः।

> "तस्मादयस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते।
> तद्नान्तरीयकं चित्तमतश्चित्तसमाश्रितम्" ॥ [ ]

प्रतिपादितश्च प्रमाणतः प्रतिनियतः कार्यकारणभावः सर्वज्ञसाधने 'कुसमयविसासणं' इतिपदव्याख्यां कुर्वद्भिर्न पुनरिहोच्यते। ३५

योऽपि शालूकदृष्टान्तेन व्यभिचारः 'यथा गोमयादपि शालूकः, कश्चित् समानजातीयादपि शालूकादेव तथा केचित् प्रज्ञा-मेधादयस्तदभ्यासात्, केचित् तु रसायनोपयोगात्,

---

१ पृ० ७० पं० २१। २ पृ० ७१ पं० ४। ३ पृ० ७१ पं० २४। ४ पृ० ७१ पं० ८। ५ पृ० ७४ पं० ३२। ६ पृ० ७१ पं० ११। ७ पृ० ७४ पं० २४। ८ प्रज्ञादय इति इत्यादि भां०, वा०, पु०, मां०। ९ पृ० ७१ पं० १४। १० पृ० ७१ पं० १४। ११–न्यतेस्स ब०। –न्यस्यस्यापि–मां०। १२–णाभेदं वा०। १३–तस्य दोषो–पु०। १४ एव न दोषो–भां०, बा०। १५–ऽव्यतिरेकपक्षेऽपि वा०, बा०। १६ पृ० ७१ पं० १८। १७–नान्देत मां०। १८ पृ० ५७ पं० ३१।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कथं तस्याऽदृष्टिः? न ह्यस्य प्रत्ययस्य बाधारहितस्यापूर्वार्थविषयस्याक्षजविषयावभासस्येवासन्दि-
ग्धरूपस्य निश्चितरूपत्वेन प्रतिभासमानस्य स्मृतिरूपता अप्रामाण्यं वा प्रतिपादयितुं युक्तम्।
अतोऽस्यामपि प्रतीतावयभासमानस्यापरोक्षतैव युक्ता न प्रमाणान्तरगम्यता।

यदप्यवादुः-[अस्त्वयमवभासमानः किन्त्वस्य प्रत्यक्षता चिन्त्या। प्रत्यक्षं हीन्द्रियव्यापारजं ज्ञानम्।
तथा चोक्तं भवद्भिः—"इन्द्रियाणां सत्संप्रयोगे बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्" [जैमि० अ० १-१-४] प्रत्य- ५
क्षविषयत्वात् तद्धर्मस्य प्रत्यक्षता न तु साक्षात्, अनिन्द्रियजत्वेन। तत्र घटादेर्बाह्येन्द्रियज्ञानविषय-
त्वेन सर्वलोकप्रतीताऽप्यक्षता नत्वेवमात्मनः।

अथैवमुच्येत—आत्मनो घटादितुल्या प्रत्यक्षता, घटादेर्हि इन्द्रियजज्ञानविषयत्वेन सा
व्यवस्थाप्यते, न त्वात्मा कस्यचित् प्रमाणस्य विषयः। कथं तर्हि प्रत्यक्षः? न ज्ञानविषयत्वात्
प्रत्यक्षः अपि त्वपरोक्षत्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्ष उच्यते। तच्च केवलस्य घटादिप्रतीत्यन्तर्गतस्य १०
चाऽपरत्वसाधनं प्राक् प्रतिपादितम्, एतदप्यसत्, यतः अपरोक्षत्वमिति कोऽर्थः—किं चिद्रूपस्य
सत्ता, आहोस्वित् स्वप्रतीतौ व्यापारः? यदि चिद्रूपस्य सर्वदाऽप्रकाशनमुच्यते तदा दृष्टान्तो
वक्तव्यः। न चात्राऽऽशङ्कनीयम्—अपरोक्षे दृष्टान्तान्वेषणं न कर्तव्यम्, यतस्तथाविधे विवादविषये
सुप्रसिद्धं दृष्टान्तान्वेषणं दृश्यते। न च दीपादि दृष्टान्तः, तत्र हि सजातीयालोकान्तरसापेक्षत्वेन
स्वप्रतीतौ स्वप्रकाशकत्वं व्यवस्थापितं कैश्चित् न त्विन्द्रियाद्यपेक्ष्यम्, तदभावे 'स्वप्रकाशाः १५
प्रदीपादयः' इति चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसङ्गः। तस्मान्न स्वप्रकाशाः प्रदीपादयः।
यत्तु आलोकान्तरनिरपेक्षत्वं तत् कस्यचिद्विषयस्य काचित् सामग्री प्रकाशिका इति नैतत्र
दृष्टेनान्यथापि प्रतिक्षिप्यते। अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, अदर्शनादेव—नहि कश्चित्
पदार्थः कर्तृरूपः करणरूपो वा स्वात्मनि कर्मणीव व्यापारो दृष्टः। कथं तर्ह्यनुमेयत्वेऽप्यात्मप्र-
तीतिः प्रमाणान्तराभावात्? एकस्यैव लिङ्गादिकरणस्वरूपस्य(स्या)प्यवस्थाभेदेन भेदे सति अदोषः। २०

किंच, प्रमाणाविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः? ज्ञातृतया स्वरूपेणावभास-
नमिति चेत्, घटादयोऽपि किं पररूपतया प्रतीतिविषयाः? अतो यद् यस्य रूपं तत् प्रमाणवि-
षयत्वेऽप्यवगम्यते इति न ज्ञानाविषयता प्रमातुः। तथाहि—तस्य ज्ञातृता प्रमातृताऽऽत्मस्वरूपता,
घटादेः प्रमेयता ज्ञेयता घटादिरूपता, अतो यथा तस्य स्वरूपेणावभासमानस्याऽप्रत्यक्षता तद्वदात्म-
नोऽपि। अभ्युपगमनीयं चैतत्, अन्यथाऽऽत्मादिस्वसंवेदनस्य प्रत्यक्षस्यापि प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतीति- २५
रिक्तं लक्षणान्तरं वक्तव्यम्, तथा च प्रमाणेयत्ताव्याघातः, केनचित् प्रत्यक्षादिलक्षणेनाऽऽत्मादिविषयस्य
स्वसंवेदनस्याऽसंग्रहात्। इतोऽप्ययुक्तं प्रमातृत्वकालेऽपि संवेदनाभ्युपगमप्रसङ्गात्। तथाऽभ्युपगमा-
द्दोष इति चेत्, तथा चोक्तम्-

"संवित्तिः संविदितैव संवेद्या न संवेद्यतया" [ ] इति।

एतत् प्राक् प्रतिक्षिप्तम्, न स्वरूपावभासे प्रमाणाविषयता। किंच, एवं वाक्यभावे बोधद्वन्द्वान्तरम् ३०
स्वसंविद्रूपं च कल्पितं स्यात्, तथा चायुक्तम्, एकस्यैव विषयावभासनसिद्धेः किं द्वयकल्पनया?
अथोच्येत-कल्पना ज्ञानधारामात्रस्य, बोधद्वये तु घटादिस्वरूपमात्रोऽवभाति न कल्प्यते। यदीदृशः
प्रतिभासाः प्रमाणत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते तदा 'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इति चक्षुःप्रतीतिरपि प्रमातृ-
फलप्रतीतिवत् कल्पनीया।

याऽपि कैश्चित् करणप्रतीतिः प्रत्यक्षत्वेनोक्ता साऽपि नास्तीति लक्ष्यते। तथाहि- ३५
'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इत्यस्यामवगतौ किं गोलकस्य चक्षुष्ट्वम्, आहोस्विद् तदुपर्यव-
स्थितस्य? गोलकस्य चक्षुष्ट्वे न कश्चिदन्धः स्यात्। तदतिरिक्तस्य च रश्मेरनभ्युपगमः। अभ्युपगमे
वा न प्रतीतिविषयः, केवलं शब्दमात्रमुच्चारयति घटप्रतीतिकाले। एवं च प्रमातृ-फलादिवद्
शब्दोच्चारणमात्रमवगम्यते, न च तयोः प्रतीतिलोकस्य करणस्येव तथाहि-इन्द्रियव्यापारे
सति शरीरात् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्यावभासनमिति व्यापारविद्भिः प्रतिपन्नम्। किं तत्र ४०

१-यविषय-भां०। २ पृ० ७८ पं० २४। ३ तस्य हि भां०। ४-न प्रतीतौ प्रकाशा-भां०, पु०। ५ स्वप्रकाशाः भां०, पु० लिखित दृष्टम्। ६-शब्दस्य भां० लिख दृष्टम्। ७-त्व घटादेर्वेद्यता घटा-पु०। ८ इतोऽप्ययुक्तम् भां० मं० प०। ९-ताऽभ्युपगमादोष इति चेत् तथा चोक्तम् भ०, प०, पु०। १०-[illegible] भ०। ११-किंचैवं भ०, प०। १२ तदनुमाने-भ०, प०। १३ बोधद्वयेऽप्युक्त-भ०, प०।

भासनम्' इति पर्यनुयोगे' मूकत्वं परिहारमाहुः, व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्।

ननु 'अहम्' इति प्रत्ययः सर्वलोकसाक्षिको नैवापह्नोतुं शक्यः। अनपह्नवे सविषयः [illegible] वा? निर्विषयता प्रत्ययानामबाधितरूपाणां कथम्? सविषयत्वेऽपि प्रमात्रप्रतिभासे किंविषयो प्रत्ययः? न प्रत्ययापह्नवः न चास्य निर्विषयता किन्तु देहादिव्यतिरिक्तो विषयत्वेनावभासमान [illegible]
५ रमाऽस्य न विषयः न च ज्ञातृत्वेनावभासमान इत्युच्यते। कस्तर्हि विषयः? शरीरमिति ब्रूमः। तथाहि 'कृशोऽहम् स्थूलोऽहम् गौरोऽहम्' इति शरीराद्यालम्बनैः प्रत्ययैरस्य समानाधिकरणताऽवसीयते [illegible]

नन्वेवं सुख्यादिप्रत्ययैरप्यहङ्कारस्य समानाधिकरणता—सुख्यहं दुःख्यहमिति वा, अतो न [illegible] विषयता। यच्चोच्यते 'गौरोऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यदर्शनाच्छरीरालम्बनत्वम्' इति, तत्रान्येणापि चायम्—गौरादीनां शरीरादिव्यतिरि[illegible] एवं तद्वच्छरीरादिगतानामपि युक्तं [illegible]
१०　　　　[यदेतद् मम गौरं रूपं सोऽहमिति [illegible]
[illegible]० ३५१ पं० २३]

अयमर्थः—शरीरेऽहङ्कार औपचारिको न तात्त्विकः, यथाऽन्यस्मिंस्तत्कार्यकारिण्यत्यन्तोपकारिके देऽहङ्कारो गौणः 'योऽयं सोऽहम्' इति, एवं शरीरेऽपि। यतो निमित्ताद् अयमेतस्मिन्नुपचर्यते [illegible] येऽन्यस्मिन्नो इदंताप्रत्ययविषयेऽहङ्कारस्तत एव शरीरेऽपि। आत्मविषयस्त्वहङ्कारो नौपचारिकः,
१५ इदंप्रत्ययासंमिश्राहंप्रत्ययप्रतिभासित्वात् प्रमाता शरीरादिव्यतिरिक्तः।

मन्देव कथम्? 'ममेदं शरीरम्' इति प्रत्ययोपादानात् 'ममायमात्मा' इति प्रत्ययाभावाच्च। ननु 'ममायमात्मा' इति किं न भवति प्रत्ययः? न भवतीति ब्रूमः। कथं तर्ह्येवमुच्यते? केवलं शब्द उच्चार्यते न तु प्रत्ययस्य संभवः। अत्रापि ममप्रत्ययप्रतिभासस्यादर्शनात् शब्दोच्चारणमात्रं केन वार्यते। किमिदानीं सुखादियोगः शरीरस्येष्यते? नैवम्, सुखादियोगाभावात् मिथ्याप्रत्ययोऽयं 'सुख्यहम्' इति
२० न [illegible]रालम्बनः। अतो व्यवस्थितम्—ज्ञातृप्रतिभासादर्शनात् प्रतिभासे वा शरीरस्य ज्ञातृत्वेनावभासमानाप देहादिव्यतिरिक्तस्याहंप्रत्ययविषयता। शरीरस्य च ज्ञातृत्वेनावभासमानस्यापि प्रमा[illegible] [illegible] सुखादियोगनिषेधात् मिथ्याप्रत्ययालम्बनता। न तु तस्माच्चैतन्येऽन्यः कश्चिद् ज्ञाता प्रत्यक्ष[illegible] विषयः सिध्यतीत्यादि। तदप्यसङ्गतम्, यतो भवतु जैमिनीयानां "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्" [जैमि० अ० १-१-४] इतिलक्षणलक्षितेन्द्रियप्रत्यक्षवादिनाम् 'अहम्' इत्यप्रत्यक्ष[illegible]
२५ [illegible]निन्द्रियजत्वेनाऽप्रत्यक्षत्वदोषो नास्माकं जिनमतानुसारिणाम्, न ह्यस्माकमिन्द्रियजमेव प्रत्यक्षं किन्तु यद् यत्र विशदं ज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तद् तत्र प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्, "तद् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" [तत्त्वार्थ० अ० १, सू० १४] इति वाचकमुख्यवचनात्। तेन यथा [illegible] [illegible] प्रत्यक्षता तथाऽऽत्मनोऽपि स्वसंवेदनाध्यक्षतायां को विरोधः? अत एव [illegible] [illegible]
३० [illegible]
[illegible]

अथ [illegible]
[illegible]
३५ [illegible]
[illegible]
[illegible]
४० [illegible]

[illegible]

[illegible]

तामिन्द्रियादीनि यत्र स्वप्रकाशकत्वं नास्ति तत्रार्थप्रकाशकत्वमपि नास्ति, यथा घटादाविति व्यति-रेकदृष्टान्तसद्भावादर्थप्रकाशकत्वलक्षणाद्धेतोः स्वप्रकाशकत्वं विज्ञानस्य किमिति न सिद्धिमा-साद्यति ? यदुक्तम् 'कस्यचिदर्थस्य काचित् सामग्री, तेन प्रकाशः प्रकाशान्तरनिरपेक्ष एव स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभाति' तद् युक्तमेव, यथा हि स्वसामग्रीत उपजायमानाः प्रदीपालोकादयो न समानजातीयमालोकान्तरं स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाना अपेक्षन्ते तथा स्वसामग्रीत ५ उपजायमानं विज्ञानं स्वार्थप्रकाशस्वभावं स्वप्रतिपत्तौ न ज्ञानान्तरमपेक्षते, प्रतिनियतत्वात् स्वकारणायत्तजन्मनां भावशक्तीनाम् । यत्तु प्रदीपालोकादिकं सजातीयालोकान्तरनिरपेक्षमपि स्वप्रतिपत्तौ ज्ञानमपेक्षते तत् तस्याज्ञानरूपत्वात् ज्ञानस्य च तद्विपर्ययस्वभावत्वाद् युक्तियुक्तमिति 'नैकत्र दृष्टः स्वभावोऽन्यत्रासञ्जयितुं युक्तः' इति पूर्वपक्षवचो निःसारतया व्यवस्थितम् ।

अथालोकस्य तदन्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिरुपलब्धेति न तद्दृष्टान्तबलाद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तर- १० निरपेक्षा प्रतिपत्तिः, अदृष्टत्वात् स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्च, नन्वेवमुपलभ्यमानेऽपि वस्तुनि यद्यदृष्ट-त्वम् विरोधश्चोच्येत तदा स्वात्मवद् घटादेरपि ग्राह्यस्य न ग्राहकं ज्ञानम्, अदृष्टत्वात् जडस्य प्रकाशायोगाद्वेत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्त्रवक्रता समुपजायते । तथाशक्यमेवेयं वक्तुं समर्थः-जडं वस्तु न स्वतः प्रकाशते, विज्ञानवत्, जडत्वहानिप्रसङ्गात् । नापि परतः प्रकाशमानम्, नील-सुखादिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंवेदनेनासत्त्वात् । १५

अथ 'नीलस्य प्रकाशः' इति प्रकाशमाननीलादिव्यतिरिक्तस्तत्प्रकाशः, अन्यथा भेदेनास्याः प्रतिपत्तौ संवेदनस्य तत्प्रतिभासो न स्यात्; ननु न नील-तद्वेदनयोः पृथगवभासः प्रत्यक्षसंभवी, प्रकाशविविक्तस्य नीलादेरननुभवात् तद्विवेकेन च बोधस्याप्रतिभासनात् । न चाध्यक्षतो विवेकेनाप्रतीयमानयोर्नील-तत्संविदोर्भेदो युक्तः, विवेकादर्शनस्य भेदविपर्ययाश्रयत्वात्, नील-तत्स्वरूपवत् । यद्यपि कल्पना नील-तत्संविदोर्भेदमुल्लिखति—'नीलस्यानुभवः' इति; नन्वभेदेऽपि २० भेदोल्लेखो दृष्टो यथा-'शिलापुत्रकस्य वपुः' 'नीलस्य वा स्वरूपम्' इति । अथ तत्र प्रत्यक्षारू-ढोऽभेदो बाधक इति न भेदोल्लेखः सत्यः स तर्हि नील-संविदोरपि प्रत्यक्षारूढोऽभेदोऽस्तीति न भेदकल्पना सत्या । तदेवं नीलादिकं सुखादिकं च स्वप्रकाशवपुः प्रतिभातीति स्थितम्, तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकाशस्याप्रतिभासनेनाभावात् ।

भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधस्तथापि न तद्ग्राह्या नीलादयो युक्ताः । तथाहि—तुल्यकालो वा २५ बोधस्तेषां प्रकाशकः, भिन्नकालो वा ? तुल्यकालोऽपि परोक्षः, स्वसंविदितो वा ? न तावत् परोक्षः, यतः "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति" [ ] इत्यादिना स्वसंविदितत्वं ज्ञानस्य प्रसाधयन्त एतत्पक्षं निराकरिष्यामः । नापि ज्ञानान्तरवेद्यः, अनवस्थादिदूषणस्यात्र पक्षे प्रदर्शयि-ष्यमाणत्वात् । स्वसंवेदनपक्षे तु यथाऽन्तर्लीनो बोधः स्वसंविदितः प्रतिभाति तथा तत्काले स्वप्रकाशवपुषो नीलादयो बहिर्देशसंबन्धितया प्रतिभान्ति इति समानकालयोर्नील-तत्संवेदनयोः ३० स्वतन्त्रयोः प्रतिभासनात् सव्येतरगोविषाणयोरिव न वेद्यवेदकभावः । समानकालस्यापि बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वे नीलस्यापि[6] तं प्रति ग्राहकताप्रसङ्गः ।

समानकालप्रतिभासाविशेषेऽपि बुद्धिर्नीलादीनां ग्रहणमुपरचयतीति ग्राहिका, नीलादयस्तु ग्राह्याः, नैतदपि युक्तम्, यतो नील-बोधव्यतिरिक्ता न ग्रहणक्रिया प्रतिभाति । तथाहि—बोधः सुखास्पदीभूतो हृदि, बहिः स्फुटमुद्भासमानतनुश्च नीलादिराभाति तदपरा ग्रहणक्रिया प्रतिभास- ३५ विषयः । तदनवभासे च न तया व्याप्यमानतया नीलादेः कर्मता युक्ता । भवतु वा नील-बोधव्य-तिरिक्ता क्रिया तथापि किं तस्या अपि स्वतः प्रतीतिः, यद्वाऽन्यतः ? तत्र यदि स्वतो ग्रहणक्रिया प्रति-भाति तदा सति बोधः नीलम् ग्रहणक्रिया चेति त्रयं स्वरूपनिमग्नमेककालं प्रतिभातीति न कर्तृ-कर्म-क्रियाव्यवहृतिः । अथान्यतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति, ननु तत्राप्यपरा ग्रहणक्रिया उपेया-अन्यथा तस्या ग्राह्यताऽसिद्धेः-पुनस्तत्राप्यपरा कर्मतानिबन्धनं क्रिया उपेयेत्यनवस्था, तन्न ग्रहणक्रियाऽप- ४० राऽस्ति, तत्स्वरूपाऽनवभासनात् । तत्रान्तःसंवेदनम् बहिर्नीलादिकं च स्वप्रकाशमेवेति ।

---

१ पृ० ७९ पं० १७ । २-स्याद् युक्तमि—भा० । ३ पृ० ८९ पं० १३ । ४-नाऽस्या प्रतिपत्तौ ला० विना सर्वत्र । ५-कं वस्तु प्रकाश—हा०, पृ० । ६-पि संप्रति वा०, बा०, भां० विना सर्वत्र ।

स्वसंवित्तिमात्रवादः साधीयान् यदि तदन्तर्निलीनो बोधो नीलादेर्न बोधकः किन्तु स्वप्रकाश एवासौ; तथा सति 'नीलमहं वेद्मि' इति कर्म-कर्तृभावाभिनिवेशी प्रत्ययो न भवेत्, विषयस्य कर्म-कर्तृभावस्याभावात्। ननु विषयमन्तरेणापि प्रत्ययो दृष्ट एव, यथा शुक्तिकायां रजतावगमः। अथ बाधकोदयात् पुनर्भ्रान्तिरसौ, नीलादौ तु कर्मतादेर्न बाधाऽस्तीति सत्यता। नन्वत्रापि बोध-नीलादेः ५ स्वरूपासंसक्तस्य द्वयस्य स्वातन्त्र्योपलम्भोऽस्ति बाधकः कर्म-कर्तृभावोल्लेखस्य। अथ किमस्या भ्रान्तेर्निबन्धनम्? नहि भ्रान्तिरपि निर्बीजा भवति; ननु पूर्वभ्रान्तिरेवोत्तरकर्म-कर्तृभावावगतेर्निबन्धनम्। पूर्वभ्रान्तिकर्मतादेरपि अपरा पूर्वभ्रान्तिरित्यनादिर्भ्रान्तिपरम्परा, कर्मतादिर्न तत्त्वम्।

अथवा 'नीलम्' इति प्रतीतिस्तावन्मात्राध्यवसायिनी पृथक्, 'अहम्' इत्यपि मतिरन्तरुल्लेखमुद्वहन्ती भिन्ना, 'वेद्मि' इत्यपि प्रतीतिरपरैव; ततश्च परस्परासंसक्तप्रतीतित्रितयं क्रमवत् प्रति-१० भाति न कर्म-कर्तृभावः, तुल्यकालयोस्तस्यायोगात् भिन्नकालयोरप्यनवभासनान्न कर्मतादिगतिः कथञ्चित् संभविनी।

अथापि दर्शनात् प्राक् सन्नपि नीलात्मा न भाति तदुदये च भातीति कर्मता तस्य, नैतदपि साधीयः; यतः प्राग् भावोऽर्थस्य न सिद्धः। दर्शनेन स्वकालावधेरर्थस्य ग्रहणाद् दर्शनकाले हि नीलमाभाति न तु ततः प्राक्, तत् कथं पूर्वभावोऽर्थस्य सिध्येत् तस्य दर्शनस्य पूर्वकाले विरहात्? १५ न च तत्काले दर्शनं प्रागर्थसन्निधिं व्यनक्ति, सर्वदा तत्प्रतिभासप्रसङ्गात्। अथाऽन्येन दर्शनेन प्रागर्थः प्रतीयते, ननु तद्दर्शनादपि प्राक् सद्भावोऽर्थस्यान्येनावसेय इत्यनवस्था। तस्मात् सर्वस्य नीलादेर्दर्शनकाले प्रतिभासनान्न तत्पूर्वं सत्ता सिध्यति।

अथापि 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायात् प्रागर्थः सिध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्टेन एकत्वगतेरयोगात्। केन पुनरेकत्वं तयोर्गम्यते—किमिदानीन्तनदर्शनेन, पूर्वदर्शनेन वा? न तावत् पूर्वदर्शनेन, तत्र तत्कालावधेरेवार्थस्य प्रतिभासनात्। नहि तेन स्वप्रतिभासिनोऽर्थस्य वर्तमानकालदर्शनव्याप्तित्वमीयते, तत्काले साम्प्रतिकदर्शनादेरभावात्। न चासत् प्रतिभाति, दर्शनस्य वितथत्वप्रसङ्गात्। नापीदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनादिव्याप्तिर्नीलादेरवसीयते, तद्दर्शनकाले पूर्वदृक्कालस्यास्तमयात्। न चास्तमितपूर्वदर्शनादिसंस्पर्शमवतरति प्रत्यक्षम्, वितथत्वप्रसङ्गादेव। तस्माद् 'अप्राप्तेर्नतपूर्वदृगादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते, पूर्वदृष्टतां तु स्मृतिरधिगच्छति' तदपास्तम्, दृष्टतोल्लेखाभावात्। न च 'स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'सः' इति स्मृतिरूपम्, 'अयम्' इति तु दृशः स्वरूपम्; तत्परोक्षाऽपरोक्षाकारत्वान्नैकस्वभावौ प्रत्ययौ, तत् कुतस्तत्त्वसिद्धिः?

अथानुमानात् प्राग्भावोऽर्थस्य सिध्यति प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनायोगादिति, तदप्यसत्। यतः पश्चाद्दर्शनस्य प्राक्सत्तायाः संबन्धो न सिद्धः, प्राक्सत्तायाः कथञ्चिदप्यसिद्धेः। न चासिद्धया सत्तया व्याप्तं पश्चाद्दर्शनं सिध्यति येन तदनुमानसिद्धिः। अथ यदि प्रागर्थमन्तरेण दर्शनमुत्पत्तिमासादयति तथा सति नियामकाभावात् सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारं तद् भवेत्, नायमपि दोषः, नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमात्। तथाहि—स्वप्नावस्थायां वासनाबलाद्दर्शनस्य देशकालाऽऽकारनियमो दृष्ट इति जाग्रद्दशायामपि तत एवासौ युक्तः। अर्थस्य तु न सत्ता सिद्धा नापि तद्देशात् संवित्तिनियम इति तत्र ततः संवित्तिवैचित्र्यम्, तस्मान्न कथञ्चिदपि नीलादेः प्राक् सत्तासिद्धिः।

अथ पूर्वसत्ताविरहे किं प्रमाणम्? तदनुपलम्भ एव प्रमाणम्—यदि नीलं पूर्वकालसंस्पर्शिस्वरूपं स्यात् तेनैव रूपेणोपलभ्येत, न च तथा; दर्शनकालभुवः सर्वदा प्रतिभासनात्। यच्च येनैव रूपेण प्रतिभाति तत् तेनैव रूपेणास्ति, यथा नीलं नीलरूपतयाऽवभासमानं तथैव सत्, न पीतादिरूपतया, सर्वं चोपलभ्यमानं रूपं वर्तमानकालतयैव प्रतिभाति न पूर्वादितया, नच पूर्वं सत्ताऽर्थस्य।

१-स्वपूर्व–[illegible] । २ [illegible] । ३-[illegible] ([illegible]) [illegible]

अथ नीलं तद्दर्शनविरहादपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम्। विज्ञानं त्वसाधारणतया प्रकाशकम्, नैतदपि युक्तम्, यतो नीलस्य न साधारणतया सिद्धः प्रतिभासः, प्रत्यक्षेण स्वप्रतिभासिताया एवावगतेः। नहि नीलं परदृशि प्रतिभातीत्यत्र प्रमाणमस्ति, परदृशोऽनधिगमे नीलादेस्तद्ग्रहताऽनधिगतेः।

[illegible]—यथैव हि स्वसन्ताने नीलदर्शनात् तदा- ५
दाना [illegible] तत् तद्विषयं दर्शनमनुमीयते, नैतदप्यस्ति,
अनु[illegible] तद्धि सदृशाव्यवहारदर्शनादुपजायमानं स्वदृष्टसदृशतां परदृष्टस्य प्रतिपादयेत्, यथाऽपरधूमदर्शनात् पूर्वसदृशं दहनमधिगन्तुमीशो न तु तमेव पूर्वदृष्टम्, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात्। तथानुमानतोऽपि ग्राह्याकारस्यैकता।

ननु भेदोऽप्यस्य न सिद्ध एव। प्रतिभासभेदे सति कथमसिद्धः परप्रतिभासपरिहारेण स्वप्र- १०
तिभासान् स्वप्रतिभासपरिहारेण च परप्रतिभासान् विवेकस्वभावान् व्यतिरेचयति अन्यथा तस्यायोगात्? ततः स्व-परदृष्टस्य नीलादेः प्रतिभासभेदाद् व्यवहारे तुल्येऽपि भेद एव; इतरथा रोमाञ्चनिकरसदृशकार्यदर्शनात् सुखादेरपि स्व-परसन्तानभुवस्तत्त्वं भवेत्।

अथापि सन्तानभेदात् सुखादेर्भेदः, ननु सन्तानभेदोऽपि किमन्यभेदात्? तथा चेदनवस्था।
अथ तस्य स्वरूपभेदाद् भेदः सुखादेरपि तर्हि स एवास्तु, अन्यथा भेदासिद्धेः। न ह्यन्यभेदादन्यद् १५
भिन्नम्, अतिप्रसङ्गात्। नीलादेरपि स्व-परप्रतिभासिनः प्रतिभासभेदोऽस्तीति नैकता।

अथ देशैकत्वादेकत्वम्, ननु देशस्यापि स्व-परदृष्टस्यानन्तरोक्तन्यायाद् नैकता युक्ता। तस्माद् ग्राहकाकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमानं नीलादिकमपि भिन्नमेव। तथैककालोपलम्भाद् ग्राहकवत् स्वप्रकाशम्।

अथ ग्राहकाकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदको नीलाकारस्तु जडत्वाद् ग्राह्यः, अत्रोच्यते—किमिदं २०
बोधस्य चिद्रूपत्वम्? यद्यपरोक्षं स्वरूपं नीलादेरपि तर्हि तदस्तीति न जडता। अथ नीलादेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद् भवतीति ग्राह्यम्, ननु बोधस्यापि स्वस्वरूपमिन्द्रियादेर्भवतीति ग्राह्यं स्यात्।
अथ यद् इन्द्रियादिकार्यं न तद् वेद्यम्, नीलादिकमपि तर्हि नयनादिकार्यमस्तु न तु ग्राह्यम्।

अथापि बोधो बोधस्वरूपतया नित्यो नीलादिकस्तु प्रकाश्यरूपतयाऽनित्य इति ग्राह्यः,
तदप्यसत्; स्तम्भादेर्नयनादिबलादुदेति रूपमपरोक्षत्वम्, तद् अनित्यः स्तम्भादिर्भवतु, ग्राह्यस्तु २५
कथम्? न हि यद् यस्मादुत्पद्यते तत् तस्य वेद्यम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादपरोक्षस्वरूपाः स्तम्भादयः स्वप्रकाशाः बोधस्तु नित्योऽनित्यो वा तत्काले केवलमुद्भाति न तु वेदकः, द्वयोरपि परस्परं ग्राह्य-ग्राहकतायोगेः।

अथ नीलोन्मुखत्वाद् बोधो ग्राहकः, किमिदं तदुन्मुखत्वं नाम बोधस्य? यदि नीलकाले सत्ता
सा नीलस्यापि तत्काले समस्तीति नीलमपि बोधस्य वेदकं स्यात्। अथान्यदुन्मुखत्वम् तत् तर्हि ३०
स्वरूपनिमग्नं चकासत् तृतीयं स्वरूपं भवेत्। तथाहि—तस्य तदुन्मुखत्वं तद्व्यापारः, स च व्यापारो यदि नीले व्याप्रियते तदा तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था। अथ न व्याप्रियते न तद्बलाद् बोधस्य ग्राहकत्वं नीलादेस्तु ग्राह्यत्वम्। अथ व्यापारस्यापरव्यापारव्यतिरेकेणापि नीलं प्रति व्यापृतिरूपता, तस्य तद्रूपत्वात्, ननु नीलस्यापि स्वं स्वरूपं विद्यत इति बोधं प्रति ग्रहणव्यापृतिः स्यात्।

[illegible] ३५
[illegible]
[illegible]
बोधस्य ग्राहकत्वे नीलादेस्तु ग्राह्यत्वे सिद्धे शक्तिपरिकल्पना युक्ता, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात्; तदसिद्धौ

१-मानस्यदृष्ट-हा०। २-स्यात् वा०, यु०, वं-ब०। ३-स्यात् वा०, यु०, वं-ब०। ४-यात् वा०, वा०। ५-सभेदाद् भेदो-आ०, मां०। ६-कत्वात् तदेक-आ०, मां०। ७ तथैक-यु०। ८-दं चिद्रूपत्वं बोधस्य य-आ०, मां०। ९ अन्यदुन्मु-आ०, मां०। १० तृतीयस्वरू-वा०, यु०। ११-पि स्वरू-आ०, मां०।

तु तत्परिकल्पनमयुक्तम्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात् । तथाहि—बोधस्य शक्तिविशेषसिद्धेर्नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तच्छक्तिसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । तत्र बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः तस्माद् व्यतिरिक्तेऽपि बोधेऽभ्युपगते सहोपलम्भनियमात् स्वसंवेदनमेव युक्तम् ।

परमार्थतस्तु सुखादयो नीलादयश्चापरोक्षा इत्येतावदेव भाति, निराकारस्तु बोधः स्वप्नेऽपि नोपलभ्यत इति न तस्य सद्भाव इति कथं तस्यार्थग्राहकत्वम्? अत एव ते प्रमाणयन्ति—इह खलु यत् प्रतिभाति तदेव सद्व्यवहृतिपथमवतरति, यथा हृदि प्रकाशमानवपुः सुखम्, न तत्काले पीडाऽनुद्भासमाना समस्ति, विज्ञप्तिरेव च नीलादिरूपतया सकलतनुभृतामाभातीति स्वभावहेतुः । तदेवमर्थग्राहकत्वस्याप्यसिद्धेः जडस्य प्रकाशविरुद्धत्वाच्च नार्थग्राहकत्वमपि बौद्धदृष्ट्या युक्तम्} ।

अथ बहिर्देशसंबद्धस्य जडस्यापि नीलादेरनुभवान्न नीलादिप्रकाशस्य तद्ग्राहकत्वमसिद्धम्, नाप्यनुभूयमाने स्तम्भादिके जडे प्रकाशविषयत्वविरोधोद्भावनं युक्तिसंगतम्, प्रत्यक्षसिद्धस्वभावे वस्तुनि तद्विरुद्धस्वभावावेदकस्यानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तकालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टहेतुप्रभवत्वेनानुमानाभासत्वात् । न च प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे विरोधः सिध्यति, अन्यथा ज्ञानस्यापि ज्ञानत्वविरोधप्राप्तिः । नन्वेवं नीलादिसंवेदनस्यापि हृदि स्वसंवेदनविषयतयाऽनुभवान्न स्वसंविदितत्वमसिद्धम्, नापि स्वात्मनि क्रियाविरोधोद्भावनं युक्तियुक्तम्, अनुभूयमाने विरोधासिद्धेः । अस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्य च हेतोः प्रत्यक्षनिराकृतपक्षविषयत्वेन न साध्यसाधकत्वमित्यपि समानम् ।

किंच, स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे 'प्रतीयतेऽयमर्थो बहिर्देशसंबन्धितया' इत्यत्र प्रतीतेर्व्यवस्थापिकाया अप्रतीतत्वेनाऽव्यवस्थितौ व्यवस्थाप्यस्यार्थस्य न व्यवस्थितिः स्यात्, नहि स्वयमव्यवस्थितं खरविषाणादि कस्यचिद् व्यवस्थापकमुपलब्धम् । अथ प्रतीतेरसंविदितत्वेऽपि एकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतिव्यवस्थापितत्वेन नाऽव्यवस्थितत्वं तर्हि तदेकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतेरपि अपरतथाभूतप्रतीत्यव्यवस्थापितत्वे नाऽर्थव्यवस्थापनप्रतीतिव्यवस्थापकत्वमिति पुनरपि तथाभूताऽपरा प्रतीतिः प्रतीतिव्यवस्थापिकाऽभ्युपगन्तव्येत्यनवस्था । अथ प्रतीतिव्यवस्थापिका प्रतीतिः स्वसंविदितत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितेति नायं दोषस्तर्ह्यर्थव्यवस्थापिकाऽपि प्रतीतिस्तथा किं नाभ्युपगम्यते न्यायस्य समानत्वात्? अथ प्रतीतिरप्रतीताऽपि प्रतीत्यन्तरव्यवस्थापिका तर्हि प्रथमप्रतीतिरप्यव्यवस्थिताऽप्यर्थव्यवस्थापिका भविष्यतीति "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इति वचः कथं न परिप्लवेत? 'प्रतीतोऽर्थः' इति विशेष्यप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणाग्रहणेऽपि विशेष्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात् ।

अपि च, यदि तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्राह्यं ज्ञानमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते तदा पूर्वपूर्वज्ञानोपलम्भनस्वभावानामुत्तरोत्तरज्ञानानामनवरतमुत्पत्तेर्विषयान्तरसंचारो ज्ञानानां न स्यात्, विषयान्तरसंनिधानेऽपि पूर्वज्ञानलक्षणस्य तदेकार्थसमवेतस्यान्तरङ्गत्वेनातिसंनिहितत्वस्य विषयस्य सद्भावात् । यस्त्वाह—'विषयोपलम्भनिमित्तमात्रप्रतिरक्षौ प्रतीतिविशेषणस्यार्थस्य सिद्धाधारमात्रपक्षा' तदेतदेव न संगच्छते, स्वसंवेदनज्ञानानभ्युपगमात्, एतच्च प्रतिपादितम् ।

अपि च, प्रमाणसंप्लववादिना नैयायिकेन प्रत्यक्ष-शाब्दज्ञानयोरेकविषयत्वमभ्युपगतम्, तथा च प्रत्यक्षज्ञानवत् शाब्देऽपि तद्धर्मान्यूनातिरिक्तस्य विषयस्याधिगमे न प्रतिपत्तिभेद इति शाब्दप्रत्ययस्याप्यत्वमपि स्पष्टप्रतिभासं स्यात् । अथैकविषयत्वे सत्यपि इन्द्रियसंबन्धाभावाच्छाब्दविषये प्रतिपत्तिभेदः, ननु तथापि विषयस्वरूपमुद्भावनीयम्, तच्च यदि शाब्देनापि प्रदर्श्यते तदा सति इन्द्रियसंबन्धाभावेऽपि किमिति न स्पष्टावभासः शाब्दस्य? यदि विषयभेदमन्तरेण ज्ञानस्वरूपभेदो युक्तः, अन्यथा ज्ञानत्वनामभेदात् विषयभेदव्यवस्था न स्यात् । यदि बहिरपि तद्धर्माप्रतिबन्धसंवेदनव्यतिरेकत्वात् [illegible]
इन्द्रियसंबन्धेऽपि न स्पष्टत्व [illegible]
शाब्दम्, तदर्थरूपेण यदि शाब्देऽपि [illegible]

१-[illegible] २-[illegible] ३-दि शाब्दे[illegible]

किं नाभ्युपगम्यते ? अथ तत्र स्पष्टप्रतिभासाभावाज्ज्ञानाभावोऽनुमीयते, ननु तदभावस्तदक्षसंगतिविरहात्, तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । तस्माद् विषयभेदनिबन्धन एव ज्ञानप्रतिभासभेदावसायोऽभ्युपगन्तव्यः, स चैकविषयत्वे शाब्दाऽध्यक्षज्ञानयोर्न संगच्छते ।

अथ शाब्दे वस्तुरूपावभासेऽपि न सकलतद्गतविशेषावभास इत्यस्पष्टप्रतिभासं तत् । नन्वेवं प्रत्यक्षावभासिनो विशेषस्यार्थक्रियाक्षमस्य तत्राप्रतिभासनात् तदेव भिन्नविषयत्वं शाब्दाऽध्यक्षयोः ५ प्रसक्तम् । अथोभयत्रापि व्यक्तिस्वरूपमेकमेव नीलादिकं प्रतिभाति विशदाऽविशदौ चाकारौ ज्ञानात्मभूतौ; नन्वेवमक्षसंबद्धे विषये प्रतिभासमाने तत्कालः स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास इति प्राप्तम्, विशिष्टसामग्रीजन्यस्य ज्ञानस्य विशदत्वात्, तदवभासव्यतिरेकेण तु अक्षसंबद्धनीलप्रतिभासकालेऽन्यस्य भवदभ्युपगमेन वैशद्यप्रतिभासनिमित्तस्यासंभवात् ।

अथ च भवतु विशदज्ञानप्रतिभासनिमित्त एव तत्र वैशद्यप्रतिभासव्यवहारस्तथापि न स्वसंवि- १० दिततज्ज्ञानसिद्धिः, तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहारस्य संभवात्, एककालावभासव्यवहारस्तु लघुवृत्तित्वान्मनसः क्रमानुपलक्षणनिमित्तः उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् । नन्वेवं सत्यङ्गुलिपञ्चकस्यैकज्ञानावभासोऽपि क्रमावभासे सत्यपि तत एव क्रमप्रतिभासानुपलक्षणकृत इति 'सदसद्वर्गः सर्वः कस्यचिदेकज्ञानप्रत्यक्षः, प्रमेयत्वात्, पञ्चाङ्गुलिवत्' इति सर्वज्ञसाधकप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलताप्रसक्तिः । तथा, समस्तसदसद्वर्गसंग्राहकेण सर्वविज्ञानेन ज्ञानात्मा १५ गृह्यते, उत नेति ? यदि न गृह्यते तदा तस्य प्रमेयत्वे सति तेनैव प्रमेयत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी, अप्रमेयत्वे तस्य भागासिद्धो हेतुः । अथ सर्वज्ञज्ञानेन सर्वपदार्थग्राहिणा आत्माऽपि गृह्यत इति नानैकान्तिकः; नन्वेवं सति यथेश्वरज्ञानं ज्ञानत्वेऽप्यात्मानं स्वयं गृह्णाति न च तत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधः तथाऽस्मदादिज्ञानमप्येवं भविष्यतीति न कश्चिद् विरोधः किञ्च, एवमभ्युपगमे 'ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम्, प्रमेयत्वात्, घटवत्' इत्यत्र प्रयोगे ईश्वरज्ञानस्य २० प्रमेयत्वे सत्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वाभावात् तेनैवानैकान्तिकः 'प्रमेयत्वात्' इति हेतुः । तस्मात् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽनेकदोषसंभवात् स्वसंविदितं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् ।

ज्ञानस्वरूपश्चात्मा, अन्यथा भिन्नज्ञानसद्भावादाकाशस्येव तस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् । न चाकाशाद्व्यतिरेकेण ज्ञानमात्मन्येव समवेतमिति तस्यैव ज्ञातृत्वं नाकाशादेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषेत्स्यमानत्वात् । ज्ञानस्य च स्वसंविदितत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य तत् सिद्धमिति २५ कथं न स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मनः ? तन्न प्रथमपक्षस्य दुष्टत्वम् ।

द्वितीयपक्षेऽपि यदुक्तम् 'नहि कश्चित् पदार्थः कर्तृरूपः करणरूपो वा स्वात्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्टः' इति, तदप्यसङ्गतम्, भिन्नव्यापारव्यतिरेकेणापि आत्मनः कर्तुः प्रमाणस्य च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वप्रतिपादनात् । एकस्यैव च लिङ्गादिकरणमपेक्ष्यावस्थाभेदेन यथा प्रमातृत्वं प्रमेयत्वं च भवद्भिरविरुद्धत्वेनाभ्युपगम्यते तथैकदाऽप्येकस्यात्मनः अनेकधर्मसद्भावात् ३० प्रमातृत्व-प्रमाणत्व-प्रमेयत्वान्यविरुद्धानि किं नाभ्युपगम्यन्ते तत्तद्धर्मयोगात् तत्तत्स्वभावत्वस्य प्रमाणनिश्चितत्वेनाविरोधात् ? यच्चोक्तम् 'प्रमाणाविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः' इत्यादि, तदप्यसारम्, ज्ञातृतया प्रमाणत्वेन च स्वरूपावभासनस्य प्रतिपादितत्वात् । न च घटादेः

[illegible]

रस्वसंविदितत्वं युक्तम्, अन्यस्वभावत्वानुपपत्तेः । यत्तूक्तम् 'इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छि-

---

१ शाब्दैवेत्तु-सा०, बा० विना । २ शाब्दा-भां०, मु० । ३ अथ भवतु बां०, भां०, मां० । ४-च ज्ञाता-मु० । ५-सद्वर्गः स-भां०, भां०, बा०, बा० विना । ६-सद्वर्गग्रा-भां०, भां०, बा०, बा० विना । ७-सरूपश्चा-भां०, भां०, बा०, बा० । ८ पृ० ७९ पं० ११ एतस्य 'किं विरूपस्य सतः' इति पूर्वपक्षः । ९ पृ० ७९ पं० १८ । १० पृ० ८४ पं० १७-२० पृ० पं० २६ । ११ पृ० ७९ पं० २२ । १२ पृ० ७९ पं० २३ । १३ पृ० ८० पं० २६ । १४ पृ० ७९ पं० ३४ । १५ पृ० ७९ पं० ३६ ।

स्य विषयस्यैव केवलस्यावभासनम्' इति, तदत्यन्तमसङ्गतम्; विषयस्येव तदवभाससंवेदनस्यापि
व्यवस्थापितत्वात्, तदभावे विषयावभास एव न स्यादित्यस्य च। अतः प्रमाणप्रमास उपपन्न एव।

न च 'कृशोऽहं स्थूलोऽहम्' इति शरीरसामानाधिकरण्येनास्य प्रत्ययस्योपपत्तेस्तदालम्बनता,
चक्षुरादिकरणव्यापाराभावे शरीरस्याग्रहणेऽपि 'अहम्' इतिप्रत्ययस्य सुखादिसमानाधिकरणत्वेन
५ परिस्फुटप्रतिभासविषयत्वेनोत्पत्तिदर्शनाद् न शरीरालम्बनत्वमस्य व्यवस्थापयितुं युक्तम्। न च
'कृशोऽहम्' इति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वे 'ज्ञानवानहम्' इति ज्ञानसामानाधिकरण्येनोपजायमानस्यापि
प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं युक्तम्, अन्यथा 'अग्निर्माणवकः' इति माणवकेऽग्निप्रत्ययस्योपचरितविषयस्य
भ्रान्तत्वेऽग्नावपि तत्प्रत्ययस्योपचरितत्वेन भ्रान्तत्वं स्यात्। अथ तत्र पाटव-पिङ्गलत्वादिलक्ष-
णस्योपचारनिमित्तस्य सद्भावाद् भवति तत्रोपचरितः प्रत्ययः न चात्रोपचारनिबन्धनं किञ्चिदस्ति,
१० तदप्यसङ्गतम्; संसार्यात्मनः शरीराद्युपकृतत्वेन तदनुबद्धस्योपभोगाश्रयत्वेनोपभोगकर्तृत्वस्यात्राप्यु-
पचारनिमित्तस्य सद्भावात्। दृष्टश्च शरीराद्व्यतिरिक्तेऽप्यत्यन्तोपकारके स्वभृत्यादावुपचरितस्त-
न्निमित्तः 'योऽयं भृत्यः सोऽहम्' इति प्रत्ययः।

न च सुखादिसामानाधिकरण्येनोपजायमानस्यैवाहंप्रत्ययस्योपचरितविषयतेति वक्तुं शक्यम्,
अग्नावग्निप्रत्ययवदबाधितत्वेनास्खलद्रूपत्वेन चास्याऽत्र मुख्यत्वात्; गौरत्वादेस्तु पुद्गलधर्मत्वेन
१५ बाह्येन्द्रियग्राह्यतया अन्तर्मुखाकारानिन्द्रियाहंप्रत्ययविषयत्वासंभवात्। न च गौरत्वादिरूपाश्रय-
भूतस्य प्रतिक्षणविशरारुत्वेनाभ्युपगमविषयस्य शरीरस्य 'य एवाहं प्राग् मित्रं दृष्टवान् स एवाहं
वर्षपञ्चकादिव्यवधानेन स्पृशामि' इति स्थिरालम्बनत्वेनानुभूयमानप्रत्ययविषयत्वं युक्तम्; अन्यथा
रूपविषयत्वेनानुभूयमानस्य तस्य रसाद्यालम्बनत्वं स्यात्। न च सुखादिविवर्तात्मकात्मालम्बनत्वे
किञ्चिद् बाधकमुत्पश्यामः येन तद्विषयत्वेनास्य भ्रान्तत्वं स्यात्। नापि तत्र तस्य स्खलद्रूपता येन
२० वाहीके गोप्रत्ययस्येवोपचरितत्वकल्पना युक्तिमती स्यात्। तस्मादबाधितास्खलद्रूपाऽहंप्रत्ययग्रा-
ह्यत्वादात्मनो नासिद्धिः। शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थो निःसारतया न प्रतिसमाधानमर्हतीत्युपेक्षितः॥

न चात्र बौद्धमतानुसारिणैतद् वक्तुं युज्यते—अहंप्रत्ययस्य सविकल्पकत्वेनाप्रत्यक्षत्वेन न तद्ग्रा-
ह्यत्वमात्मन इति, सविकल्पकस्यैव प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेन व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्; प्रत्यक्षविषयत्वेऽपि
विप्रतिपत्तिसंभवेऽनुमानस्यावतारः। न च 'सिद्धे आत्मन एकत्वे तत्प्रतिबद्धोऽनुसन्धानप्रत्ययः
२५ सिध्यति, तत्सिद्धौ च ततस्तस्यैकत्वम्' इतीतरेतराश्रयदोषावतारः; 'य एवाहं घटमद्राक्षं स एवेदानीं
तं स्पृशामि' इति प्रत्ययात् प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्वरूपादात्मन एकत्वसिद्धेः।

न चाप्येतत् प्रेर्यम्—द्रष्टृरूपमात्मनः स्प्रष्टृरूपानुप्रवेशेन प्रतिभासते, आहोस्विदननुप्रवेशेन?
यद्यनुप्रवेशेन तदा द्रष्टृरूपस्य स्प्रष्टृरूपेऽनुप्रवेशात् स्प्रष्टृरूपतैवेति न द्रष्टृरूपता, तथा च 'अहं द्रष्टा
स्पृशामि' इति कुत उभयावभासोल्लेख्येकं प्रत्यभिज्ञानं यतस्तदेकत्वसिद्धिः? अथाननुप्रवेशेन तदा
३० दर्शन-स्पर्शनावभासयोर्भेदात् कुत एकं प्रत्यभिज्ञानम्? नहि प्रतिभासभेदे सत्यप्येकत्वम्, अन्यथा
घट-पटप्रतिभासयोरपि तत् स्यात्। अथ प्रतिभासस्यैवात्र भेदो न पुनस्तद्विषयस्यात्मनः, कुतः
पुनस्तस्याभेदः? न तावत् प्रतिभासाभेदात्, तस्य भिन्नत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। नापि स्वतः, स्वतोऽ-
द्यापि विवादविषयत्वात्। अथ दर्शन-स्पर्शनावस्थाभेदेऽपि चिद्रूपस्य तदवस्थातुरभिन्नत्वान्नायं
दोषः, तदप्यसङ्गतम्; यतो दर्शनावस्थाप्रतिभासेन तत्संबद्धमेवावस्थातृरूपं गृहीतं न स्पर्शनज्ञानसं-
३५ बन्धि, तत्र तदवस्थाया अनुत्पन्नत्वेनाप्रतिभासनात्; तदप्रतिभासने च तद्व्याप्तित्वेनावस्थातुरप्यप्रति-
भासनात्। नापि स्पर्शनप्रतिभासेन दर्शनावस्थाव्याप्तिरवस्थातुरवगम्यते, स्पर्शनकाले दर्शनस्य
विनष्टत्वेनाप्रतिभासनात्। प्रतिभासने चाऽनाद्यवस्थापरम्पराप्रतिभासप्रसङ्गः। न च भागद्वयाऽप्र-
तिभासने तदवस्थाद्वयव्याप्तिरवस्थातुरवगन्तुं शक्या। यच्च येन रूपेण प्रतिभाति तत् तेनैव सदित्यभ्युप-
गन्तव्यम्, यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनैव रूपेणाभ्युपगम्यते। दर्शन-स्पर्शनज्ञानाभ्यां
४० च स्वसंबन्धित्वमेवावस्थातुर्गृह्यते इति तद्रूप एवासावभ्युपगन्तव्य इति कुतोऽवस्थातृसिद्धिः?

यतो नीलप्रतिभासेऽप्येवं वक्तुं शक्यम्—किमेकनीलज्ञानपरमाण्ववभासोऽपरनीलज्ञानपरमा-

---

१-म् गौरोऽहम्' इ-भां०, मां०। २-स्वरूपा-भां०, मां०, वा०, बा०। ३-परीक्ष न भां०, मां०, वा०, बा०। ४-भासात् त-भां०, मां०।

स्वमानानुप्रवेशेन प्रतिभाति, उतानुप्रवेशेन ? यद्यनुप्रवेशेन तदैकत्वनीलज्ञानपरमाणुप्रतिभासाना-
मनुप्रवेशात्संवेदनसंवेदनस्यैकपरमाणुरूपत्वम्, तस्य चानुभयात् कुतो नीलज्ञानसंवेदनसिद्धिः ?
अथाननुप्रवेशेन तदा नीलज्ञानपरमाणुप्रतिभासानामन्तःशलाकाकल्पानां प्रतिभासनात् कुतः स्थूलमेक-
नीलज्ञानसंवेदनं प्रतिनीलज्ञानपरमाणुप्रतिभासं भिन्नत्वात् ? अथ स्वसंवेदनाप्रतिभासभेदे सत्यपि न
तत्प्रतिभासस्य नीलज्ञानस्य भेदः। ननु कुतो नीलज्ञानस्याभेदः किं तत्स्वसंवेदनाभेदात्, स्वतो वा ? ५
यदि स्वसंवेदनाभेदात्, तदयुक्तम्। तद्भेदस्य व्यवस्थापितत्वात्। अथ स्वत एव तदभेदः, तदप्ययु-
क्तम्। तस्याद्याप्यसिद्धत्वात्।

तथा, यदि दर्शनावस्थायां स्पर्शनावस्था न प्रतिभातीति तदवस्थाव्याप्तिर्दर्शनमात्रेणावस्थातुर्न
ग्रहीतुं शक्या। तन्न्वेवं तदप्रतिभासने तेन तद्व्याप्तिरपि कथं ग्रहीतुं शक्या ? तदप्रतिभासने 'तत
इदमवस्थात्मकं व्याप्तम्' इत्येतदपि ग्रहीतुमशक्यमेव। न च तद्विविक्तप्रतिभासादेव तद्व्या- १०
प्तिर्गृहीतैवेति वक्तुं युक्तम्, तदप्रतिभासने तद्विविक्तस्यैवाग्रहणात्। न च 'तद्व्याप्तिस्तस्य स्वरूपमेव'
इति दर्शनकालेन तत्स्वरूपग्राहिणा तदभिन्नस्वरूपा तद्व्याप्तिरपि गृहीतैवेति युक्तम्, तदभावस्यस्य
सर्वस्य समानत्वात्। न चाबाधितैकप्रत्ययविषयस्यात्मन एकत्वमसिद्धम्। न चास्यैकत्वाध्यवसायस्य
किञ्चिद्बाधकमस्ति, तद्बाधकत्वेन संभाव्यमानस्य प्रमाणस्य यथास्थानं निषेत्स्यमानत्वात्।

ननु योऽनुसन्धानप्रत्ययलक्षणाद्धेतोरात्मैकत्वसिद्धिरुक्ता सापि नेतरेतराश्रयदोषः, यतो नैक- १५
त्वप्रतिबद्धमनुसन्धानमन्यापेक्षान्तरेण निश्चीयते—येनायं दोषः स्यात्—अपि त्वनेकत्वेऽनुस-
न्धानस्यासंभवात् ततो व्यावृत्तमनुसन्धानं तदेकत्वेन व्याप्यत इत्येकसन्ताने स्मरणाद्यनुसन्धान-
दर्शनादनुमानतोऽपि तत्सिद्धिः। न च भेदे दर्शन-स्मरणादिज्ञानानामनुसन्धानं संभवति, अन्यथा
देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तस्य स्मरणाद्यनुसन्धानं स्यात्।

अथ देवदत्त-यज्ञदत्तयोरेकसन्तानाभावान्नानुसंधानम्, यत्र त्वेकः सन्तानस्तत्र पूर्वाऽप- २०
रज्ञानयोरत्यन्तभेदेऽपि भवत्येवानुसन्धानम्। ननु सन्तानस्य यदि सन्तानिभ्यो भेदः एकत्वं च
तदा तस्यान्तरेण न एवात्माऽभिहितो यस्यानियतमनुसन्धानम्। अथ सन्तानिभ्योऽभिन्नः सन्ता-
नस्तदा पूर्वोत्तरज्ञानक्षणानां सन्तानिशब्दवाच्यानां देवदत्त—यज्ञदत्तज्ञानवदत्यन्तभेदात् तदभिन्नस्य
सन्तानस्यापि भेद इति कुतोऽनुसन्धाननिमित्तत्वम् ? अथैकसन्ततिपतितानां पूर्वोत्तरज्ञानस-
न्तानिनां कार्यकारणभावात् भेदेऽप्येकसन्तानत्वम् तन्निबन्धनश्चानुसन्धानप्रत्ययो युक्तः, न पुनर्देव- २५
दत्त-यज्ञदत्तज्ञानयोः कार्यकारणभावः, अतस्तन्निबन्धनसन्तानाभावनिमित्तस्तत्रानुसन्धानाभावः; ननु
देवदत्तज्ञानं यज्ञदत्तेन यदा व्यापार-व्याहारादिलिङ्गबलादनुमीयते तदा तद् यज्ञदत्तानुमानजनकं भव-
तीति कार्यकारणभावनिमित्तैकसन्ताननिबन्धनाऽनुसन्धानप्रसक्तिः स्यात्।

अथ स्वसन्तत्युपादानोपादेयभावेन ज्ञानानां जन्यजनकभावः भिन्नसन्ततौ तु सहकारिभावेन
तद्भाव इति नाऽयं दोषः, ननु किं पुनरिदमुपादानत्वं यदभावाद् भिन्नसन्तानेऽनुसन्धानाभावः ? यत् ३०
स्वसन्ततिनिवृत्तौ कार्यं जनयति तदुपादानकारणम्, यथा मृत्पिण्डः स्वयं निवर्तमानो घटमुत्पाद-
यतीति स घटस्योपादानकारणम्। अथवाऽपरम्—अनेकस्मादुत्पद्यमाने कार्ये स्वगतविशेषाधायकं
तत्, नत्वेवं निमित्तकारणम्। ननु प्रतिक्षणविनाशस्वैकस्वभावपौर्वापर्यावस्थितज्ञानस्वभावेषु
क्षणेषूपादानोपादेयभाव एव न व्यवस्थापयितुं शक्यः। तथाहि—उत्तरज्ञानं जनयत् पूर्वज्ञानं किं नष्टं
जनयति, उतानष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ? न तावन्नष्टम्, [6]चिरतरनष्टस्येवानन्तरनष्टस्याप्यवि- ३५
द्यमानत्वेनोत्पादकत्वविरोधात्। नाप्यनष्टम्, क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात्। नाप्युभयरूपम्, एकस्वभावस्य
विरुद्धोभयरूपासम्भवात्। नाप्यनुभयरूपम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्य तदपरविधानना-
न्तरीयकत्वेनानुभयरूपताया अयोगात्।

अथ यदि व्यापारयोगात् कारणं कार्योत्पादकमभ्युपगम्येत तदा स्यादयं दोषः—यदुत नष्टस्य
व्यापारासम्भवात् कथं कार्योत्पादकत्वम्, यदा तु प्राग्भावमात्रमेव कारणस्य कार्योत्पादकत्वं तदा ४०
कुत एतद्दोषावसरः ? नन्वेतस्मिन्नभ्युपगमे प्राग्भाविनोऽनेकस्मादुपजायमाने कार्ये कुतोऽयं विभागः—

१ एकनीलज्ञानस्वसंवेदने अन्तर्नीलज्ञानपरमाणुप्रतिभासान्निरर्थं । २-सनेन तद्-मां०, भां० विना ।
-सनेति तद्-वा०, बा० । ३-त्सकर-मां०, भां० । ४-च.संताने पति-गु० । ५-र्थे
बा० विना सर्वत्र । ६ चिरंतर-वा०, गु० ।

इदमत्रोपादानकारणम् [illegible] कार्यानुविहितान्वय-व्यतिरे
[illegible] त्वमवश्यमन्वयंनि; अन्यैर
[illegible] दुरुपसेयम्। अथाभिहितमे
नकारणत्वस्य लक्षणं तदग्रहणात् कथं तत् दुरुपसेयम्। सत्यम्, उक्तम् न तु कस्यचिद् क
५ तुगमे सत् संभवति। नाप्ययमातुं शक्यम्।

तथाहि—यत् स्वगतविशेषाधायकत्वमुपादानत्वमुक्तं तत् किं स्वगतकतिपयविशेषाधाय
आहोस्विद् सकलविशेषाधायकत्वम् इति? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः रूपज्ञानं स्वा
कस्यासदादिविज्ञानस्य तं प्रत्युपादानभावप्रसङ्गात्। तथा, रूपस्यापि रूपज्ञानं प्रत्युपादान
सक्तिः, तस्यापि स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वात्; अन्यथा निराकारस्य बोधस्य सर्वान् प्रत्यवि
१० 'रूपस्यैवायं ग्राहको न रसादेः' इति ततः प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात्। रूपोपादानत्वे च
परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात्। किञ्च, कतिपयविशेषाधायकत्वेनोपादानत्वे एकस्यैव ज्ञान
तत्कार्यानुगत-व्यावृत्तानेकधर्मसम्बन्धित्वाभ्युपगमे विरुद्धधर्माध्यासोऽभ्युपगतो भवति; त
यथा युगपद्भाव्यनेकविरुद्धधर्माध्यासेऽप्येकं विज्ञानं तथा क्रमभाव्यनेकतद्धर्मयोगे किमि
नाभ्युपगम्येत?

१५ अथ सकलविशेषाधायकत्वेन, न तर्हि निर्विकल्पकात् सविकल्पकोत्पत्तिः। न च निर्विक
योरभ्युपादानोपादेयत्वेनाभ्युपगतयोस्तद्भावः स्यात्, तथा च कुतो रूपाकारात् समनन्तरप्रत्य
कदाचिद् रसाद्याकारस्याप्युपादेयत्वेनाभिमतस्योत्पत्तिः?

अथ विज्ञानसन्तानवद्भुत्वाभ्युपगमाद् नाऽयं दोषः—तेन सर्वस्य स्वसदृशस्योत्पत्तिः—नहीं
दर्शने एकस्मिन्नपि सन्ताने प्रमातृनानात्वप्रसङ्गः; तथा च गवाऽश्वदर्शनयोर्भिन्नसन्तानव
२० र्तेकेन दृष्टेऽर्थेऽपरस्यानुसन्धानं न स्यात्, देवदत्त-यज्ञदत्तसन्तानगतयोरिवान्येनानुभूतेऽन्यस
दृश्यते च—

"गामहं ज्ञातवान् पूर्वमश्वं जानाम्यहं पुनः" [श्लो० वा० सू० ५, आत्म० श्लो० १२

किञ्च, सकलस्वगतविशेषाधायकत्वे सर्वात्मनोपादेयज्ञानक्षणे तस्योपयोगाद् अनुपयुक्तस्यापरस्व
धस्याभावाद् योगिविज्ञानम् रूपादिकं चैकसामग्र्यन्तर्गतं प्रति न सहकारित्वं तस्येति सहक
२५ कारणाभावे नोपादेयक्षणव्यतिरिक्तकार्यान्तरोत्पादः।

अथ येषां कारणमेव कार्यतया परिणमति तेषां भवत्वयं दोषो नैत्वस्माकं प्रागभावमात्रं कारण
मभ्युपगच्छताम्। नन्वत्रापि मते येन स्वरूपेण विज्ञानमुपादेयं विज्ञानान्तरं जनयति किं तेन
रूपमेकसामग्र्यन्तर्गतम्, उत स्वभावान्तरेण? तत्र यदि तेनैव तदा रूपमपि ज्ञानमुपादेयभ
स्यात्, तत्स्वभावजन्यत्वात्, तदुत्तरज्ञानक्षणवत्। अथ स्वभावान्तरेण तदोपादानाभिमतं ज्ञा
३० द्विस्वभावमासज्यते। यथा चोपादान-सहकारिस्वभावरूपद्वययोगस्तथा त्रैलोक्यान्तर्गतान्यजन्यकार्य
न्तरापेक्षया तस्याजनकत्वमपि स्वभावः। ततश्चैकत्वं ज्ञानक्षणस्य यथोपादान-सहकार्येऽजनकत्वानेक
विरुद्धधर्माध्यासितस्याभ्युपगम्यते तथा हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्तात्मनस्तत्सन्तानस्याप्यभ्युपगन्तव्य
अथोपादान-सहकार्येऽजनकत्वादयो धर्मास्तत्र कल्पनाशिल्पिकल्पिताः, एकत्वं तु तस्य स्वसंवेदना
ध्यक्षसिद्धमिति न तैस्तद्दूषयितुम् इति मतिस्तर्ह्यात्मनोऽप्येकत्वं सन्तानशब्दाभिधेयतया प्रसिद्धस
३५ स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धस्य क्रमवद्धर्ष-विषादादिकार्यदर्शनाऽनुमीयमानतद्रूपेतरजनकत्वाऽजनकत्वधर्मा
पनेयं न स्यात्। तत्र स्वगतसकलधर्माधायकत्वमुपादानत्वं भवदभ्युपगमेन सङ्गतम्। नापि सन्ता
ननिवृत्त्या कार्योत्पादकत्वस्वभावम्, तथाऽभ्युपगमे ज्ञानसन्ताननिवृत्तेः परलोकाभावप्रसङ्गः।

अथ समनन्तरप्रत्ययत्वमुपादानत्वमुच्यते। तथाहि—समस्तुल्यः, अनन्तरोऽव्यवहितः,

---

१-व्यानुगमे भां०, मां०। २ पृ० ८० पं० ११। ३ पृ० ८० पं० १२। ४ रूपज्ञानं स्वा-भां०, मां०। ५-प च हा-भां०, मां०। ६-धृत्यानि-मां०, भां०। ७ तर्हि निर्विकल्पकोत्पत्तिः। भां०, मां०। ८-स्वक-सविकल्पको—भां०, मां० विना। ९-ज्ञानकणा-भां०, मां०। १० नास्माकं भां० गु०, वा०, बा०, मां०। ११-ऽभ्यन्त्वा-भां०, मां०। ११ दर्शनादिविध-भां०, मां०। १२-नुमीयमानं तद्रूपेत्र-भां०, मां० विना इतेषु।—नुमीयमाने तद्रूपेत्र-मां०।

प्रत्ययोः जनकः। न चैतद् भिन्नसन्तानादिति न तत्रानुसन्धानसंभवः। नन्वत्रापि समत्वं कार्येण यदुपादानत्वं प्रत्ययस्य तदा वक्तव्यम्—किं सर्वथा समत्वम्, उतैकदेशेन? यदि सर्वथा तदसत्, कार्य-कारणयोः सर्वथा तुल्यत्वे यथा कारणस्य प्राग्भावित्वं तथा कार्यस्यापि स्यात्; तथा च कार्य-कारणयोरेककालत्वाद् न कार्यकारणभावः, न ह्येककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणवत्। तथा, कारणाभिमतस्यापि स्वकारणकालता, तस्यापि स्वकारणकालतेति सकलसन्तानशू- ५ न्यमिदानीं समस्तं जगत् स्यात्। अथ कथञ्चित् समानता, तथा सति 'योगिज्ञानस्याप्यस्मदादिज्ञानालम्बनस्य तदाकारत्वेनैकसन्तानत्वं स्यात्' इत्यादि दूषणं पूर्वोक्तमेव। अथानन्तरत्वमुपादानत्वम्, ननु क्षणिकैकान्तपक्षे सर्वजगत्क्षणानन्तरं विवक्षितक्षणे जगद् जायत इति सर्वेषामुपादानत्वमित्येकसन्तानत्वं जगतः। देशानन्तर्यं तत्रानुपयोगि, देशान्तरव्यवहितस्यापीहजन्ममरणचित्तस्य भाविजन्मचित्तोपादानत्वाभ्युपगमात्। प्रत्ययत्वं तु नोपादानत्वम्, सहकारित्वेऽपि प्रत्ययत्वस्य भावात्। तत्र समन- १० न्तरप्रत्ययत्वमप्युपादानत्वम्। 'न च प्रतिक्षणविशरारुषु भावेषु कथञ्चिद् एकान्वयमन्तरेण जनकत्वमपि संगच्छते किमुतोपादानादिविभागः' इति क्षणभङ्गभङ्गप्रतिपादनावसरेऽभिधास्यामः।

अत्र केचित् तुल्येऽपि जनकत्वे स्व-परसन्तानगतयोर्विज्ञानयोरुपादानत्वे कारणमाहुः—"स्वसन्ततौ चेतितं ज्ञानं ज्ञानान्तरजनकम्, न त्वेवं परसन्ततौ; अतो जनकत्वव्यतिरिक्तस्योपादानकारणत्वे निमित्तस्य संभवादित्थंभूताद्धेतुफलभावाद् व्यवस्था"। अत्रापि व्यवस्थानिमित्तत्वमयुक्तम्, नहि १५ ज्ञानमसंवेदितं व्यवस्थां लभते। संवेदनं हि ज्ञानानां स्वत एवेष्यते, तच्च स्वसन्ततिपतिते इव परसन्ततिपतितेऽपि तुल्यम्। ज्ञानान्तरवेद्यत्वं तु न शाक्यैरभ्युपगम्यते ज्ञानस्य नियमेन इति नायमतिप्रसङ्गपरिहारः। न च स्वसन्ततावपि स्वसंविदितज्ञानपूर्वकता ज्ञानस्य सिद्धा, मूर्छावस्थोत्तरकालभाविविज्ञानस्य तथात्वानवगमात्, यतो विज्ञानपूर्वकत्वेऽपि तत्र विप्रतिपन्ना वादिनः पुनः पुनः संविदितज्ञानपूर्वकत्वम्? तत्रैतत् स्यात्—विज्ञानपूर्वकत्वस्यानुमानेन निश्चयात् कथं विप्रतिपत्तिः? २० तच्च दर्शितम् 'तज्जातीयात् तज्जातीयोत्पत्तिः' इति, एतदसत्, अतज्जातीयादपि भावानामुत्पत्तिदर्शनात्, यथा धूमादेः।

येऽप्यन्याहुः—"सदृश-सादृश्यभेदेन भावानां विजातीयोत्पत्त्यसंभवादेतददूषणम्" तेषामपि सदृश-सादृश्यविवेको नार्वाग्दृक्प्रमातृगोचरः, कार्यनिरूपणायामपि तयोर्विवेको दुर्लभस्तस्मादपरिहारः। यैः पुनरुच्यते—"सर्वस्य समानजातीयादुपादानादुत्पत्तिः, आद्यस्यापि धूमक्षणस्योपादा- २५ नत्वेन व्यवस्थापिताः काष्ठान्तर्गता अवयवाः" तत्रापि सजातीयत्वं न विद्मः। रूपादीनां हि रूपादिपूर्वकत्वेन वा सजातीयत्वम्, धूमत्वोपलक्षितावयवपूर्वकत्वेन वा? प्राच्ये विकल्पे नेदानीं विजातीयादुत्पत्तिर्गोरस्याभ्रादुपजायमानस्य। उत्तरविकल्पेऽपि काष्ठान्तर्गतानामवयवानां धूमत्वं लौकिकम्, पारिभाषिकं वा? परिभाषायास्तावदप्रमविषयः। लोकेऽपि तदाकारव्यवच्छिन्नानामवयवानां नैव धूमत्वव्यवहारः। तार्किकेणापि लोकप्रसिद्धव्यवहारानुसरणं युक्तं कर्तुम्। तस्मान्न सजातीयादुत्पत्तिः। ३०

यच्चाप्रोच्यते—'गाढावस्थायां विज्ञानाभावे तदवस्थायाः प्रबुद्धस्योत्तरकालभाविनी संविदिति न भवेत् 'न मया किञ्चिदपि चेतितम्' 'स्मृतिर्हीयमनुभवपूर्विका, अतो येनानुभवेन मया न किञ्चिच्चेत्यते तस्यामवस्थायां तस्यायमर्थं सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः' एतत् सुव्याहृतम्, 'न किञ्चिच्चेतितं मया' इति बुद्ध्या यत्संवेदनं चोद्येत, स्वरूपवेदनं वा? यत्संवेदने सकलप्रतिषेधो न युक्तः। स्वरूपवेदनं तु स्वसंवेदनाभ्युपगमे दूरोत्सारितम्। तस्मादिदानीमिव प्रबोधावस्थायाम् तदवस्थायामपि ३५ सर्वानवगमः संवेद्यते।

अस्तु वा गाढावस्थायां विज्ञानं तथापि जनकत्वातिरिक्तस्योपादानविशेषस्याभावः, समनन्तरप्रत्ययत्वे जनकत्वातिरिक्तेऽभ्युपगम्यमाने तदोत्पत्तिभेदप्रसङ्गः तथा च 'सर्वेषामेकं ज्ञानमनन्तरं समनन्तरप्रत्ययत्वं तदेव परसन्तानापेक्षया जनकत्वम्' इत्येतच्च स्यात्। अथ जनकत्व-समनन्तरत्वादयो धर्माः कारणिकाः, अकारणिकं तु यत् स्वरूपं तत् तात्त्विकम्, तच्च कोऽपरः? ४० किमिदानीं सांवृतात् रूपात् भावानामुत्पत्तिः? येनोच्यते, कथं वा कारणनियमः? अथ जनकत्व-

१ पृ० ८८ पं० ६। २–ज्ञानसंवेदिति–भ०, ब०। ३–स्वात्मादिभिः ब०, मु०। ४ पृ० ४४ पं० १८– पृ० ४८ पं० १। ५–त्वात् ननु–भ०, ब० ,प्रत्य। ६–स्वार्थदेदृवं चोद्यते–भा०, ब०। ७–त्वदेव जनकत्वातिरिक्तमु–भ०, ब०। ८–नायमन्यभेदजनकत्वम्' इत्येतत् स्यात्। भ०, ब०। ९–कारकत्व–भा०। १०–जनकत्वमतेति–भा०।

[illegible] कथं [illegible] तथाहि—[illegible]
[illegible] विशेषेण कुर्वीत [illegible]
[illegible]
[illegible] । [illegible] न [illegible], यतो [illegible],
'१ज्ञानस्य [illegible]' इत्येतत् प्राक् प्रतिपादितम् ।

यच्चोक्तम् 'अत एवानुमानात् [illegible], यथा धूमादेः' इत्यादि न संगतम्, यतो [illegible] — [illegible] — किन्तु [illegible]
[illegible] । [illegible] । न च [illegible]
[illegible] ।
१० कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गः [illegible] । यत्तु '[illegible] कार्यनिश्चयोपायमपि दुर्लभं'
तत्र यः कार्यदर्शनादपि विवेकं [illegible] अनुमानव्यवहारेऽनधिकार एव । तदुक्तम्—

"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति, अन्यथा [illegible] यत्नो विधेयः" [ ]

अत एव 'कपालादीनां हि [illegible] वा' इत्यादि अनभिमतोपालम्भमात्रम्, कथञ्चित् [illegible] कार्य-कारणयोरैकान्त्याभावात्, तच्च प्रकृते प्रमाणसिद्धत्वात् ।

१५ यच्च 'सुप्त-मूर्छिताद्यवस्थासु विज्ञानाभावेन तत्पूर्वकत्वमुत्तरज्ञानस्य न संभवति' इत्यभ्यधायि, तदसत्; तदवस्थायां विज्ञानाभावग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाहि—न तावत् सुप्त एव तदवस्थायां विज्ञानाभावं वेत्ति, तदा विज्ञानानभ्युपगमात्, तदभावे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तदवस्थायां तदभावः । नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभावं वेत्ति, कारण-व्यापक-स्वभावानुपलब्धीनां विधिनिषेधयोरत्र विषयेऽव्यापारात् अन्यस्य तदभावावभासकत्वायोगात् । न चाभावयन्, तज्ज्ञानस्यापि तदवस्था-
२० यामप्रतिपत्तिः, स्वात्मनि स्वसंविदितविज्ञानाविनाभूतत्वेन निश्चितस्य श्वासाऽपानव्यापारगौरवाकारविशेषादेस्तदवस्थायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सद्भावेनानुमानप्रतीत्युत्पत्तेः । जाग्रदवस्थायामपि परसन्तानपतितचेतोवृत्तेस्तदादिभिर्यथोक्तलिङ्गदर्शनोद्भूतानुमानमन्तरेणाप्रतिपत्तेः । 'न किञ्चिच्चेतितं मया इति स्मरणादुत्तरकालभाविनस्तदवस्थायामनुभवानुमाने किं स्वस्यसंवेदनम्, स्वरूपासंवेदनं वा' इत्यादि यद् दूषणमभिहितम्, तदप्यसारम्; जाग्रदवस्थाभाविस्वसंविदितगच्छत्तृणस्पर्शज्ञानाऽव्य-
२५ विकल्पसमयगोदर्शनादिपूत्तरकालभावि 'न मया किञ्चिदुपलक्षितम्' इति स्मरणलिङ्गबलोद्भूतानुमानविषयेष्वप्यस्य समानत्वात् । न च स्वसंविदितविज्ञानवादिनोऽत्रापि समानो दोष इति वक्तुं युक्तम्, "यस्य यावती मात्रा" [ ] इति स्वसंविदितज्ञानस्याभ्युपगमात् ।

यच्च 'समनन्तरसहकारित्वाद्यनेकधर्मयुक्तत्वमेकक्षणे ज्ञानस्यासम्यते' इति प्रतिपादितम् तदभ्युपगम्यमानत्वेनादूषणम् । अतः पौर्वापर्यव्यवस्थितहर्ष-विषादाद्यनेकपर्यायव्याप्येकात्मव्यतिरेकेण
३० ज्ञानयोः स्वसन्तानेऽप्यनुसन्धाननिमित्तोपादानोपादेयभावासंभवाद् न परसन्तानवदनुसंधानप्रत्ययः स्यात्, दृश्यते च; अतोऽनेकत्वव्यावृत्तादनुसन्धानप्रत्ययादपि लिङ्गादात्मसिद्धिः ।

अथापि स्याद् गमकत्वं हि हेतोः स्वसाध्याविनाभावग्रहणपूर्वकम्, तद्ग्रहणं च धर्म्यन्तरे, न चानेककर्तृकत्वेन साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिः येन प्रतिसन्धानादेककर्त्ताऽनुमीयेत । अथ ब्रूषे क्षणिकतासाधकस्य सत्ताख्यस्य हेतोर्यथा धर्म्यन्तरे व्याप्त्यग्रहणेऽपि
३५ गमकता तद्वदस्यापि, एतदचारु; तस्य हि क्षणिकतायां प्राक् प्रत्यक्षेण निश्चयाविश्चयविषयेण च व्याप्तेर्दर्शनाद् विपक्षात् प्रच्यावितस्य बाधकप्रमाणेन साध्यधर्मिणि यदवस्थानं तदेव स्वसाध्येन व्याप्तिग्रहणम् । अत एवास्य हेतोः साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयमिच्छन्ति । ननु व्याप्ति—साध्यनिश्चययोर्नियमेन पौर्वापर्यमभ्युपगन्तव्यम्, व्याप्तिनिश्चयस्य साध्यप्रतिपत्त्यङ्गत्वात्; अत्र तु साध्यधर्मिणि व्याप्तिनिश्चयाभ्युपगमे साध्यप्रतिपत्तिकालोऽन्योऽभ्युपगन्तव्यः, न चासावन्योऽनुभूयते; अस्त्येतद्

१-यत्वे जननं वि-वा०, वा० । २ पृ० ८९ पं० २१ । ३ इत्यादि, तदपि न भां० ब० । ४ पृ० ७७ पं० १८ । ५ ८९ पं० २४ । ६ पृ० ८९ पं० २६ । ७ संभवीत्यभिधायि वि०, मा०, कां०, गु० संभवतीत्यभिधा-भां०, मां० । ८ पृ० ८९ पं० १८ । ९-बोऽपि । मां० । १० पार्श्वे स्थितो-गु० । ११-नि संधि-मां० । १२-रोत्तालाकार-कां० । १३ पृ० ८९ पं० ३४ । १४ पृ० ८८ पं० ३१ । १५-पत्तेः का-कां० ।

कार्यहेतोः, कस्यचित् स्वभावहेतोरपि; अस्य तु बाधकात् प्रमाणाद् विपक्षात् प्रच्युतस्य यदेव साध्य-धर्मिणि स्वसाध्यव्याप्ततया ग्रहणं तदेव साध्यग्रहणम् । न चास्यैवं द्वैरूप्यम्, यतो विपक्षाद् व्यावृत्तिरेवान्वयमाक्षिपति । इयांस्तु विशेषः-कस्यचिद् हेतोर्व्याप्तिविषयप्रदर्शनाय धर्मिविशेषः प्रदर्श्यते, अस्य तु 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति धर्मिविशेषाप्रदर्शनेऽपि धर्मिमात्राक्षेपेण व्याप्तिप्रदर्शनम् । सत्त्वं कचिद् व्यवस्थितमुपलभ्यमानं क्षणिकताप्रतिपत्त्यङ्गम्, अतः पक्षधर्मताऽप्यत्रास्ति, न चाश्रयम् । ५

अत्राप्येतमेव न्यायं केचिदाहुः । कथम् ? तत्र हि व्यापकस्य क्रमयौगपद्यस्य निवृत्त्या विपक्षात् तन्निवृत्तिः, अत्रापि प्रमातृनियततायाः व्यापिकाया अभावाद् विपक्षात् प्रतिसन्धानलक्षणस्य हेतोर्निवृत्तिः । अथ तत्र बाधकप्रमाणस्य व्याप्तिः प्रत्यक्षेण निश्चीयते—क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणस्य प्रत्यक्षेण निश्चयात्—अत्र तु कथम् ? अत्रापि प्रमातृनियमपूर्वकत्वेन स्वसन्तान एव प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिनिश्चयात् कथं न तुल्यता ? १०

अथ ब्रूयात् 'प्रमातृनियतता' इत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः ? यदि परं भवद्भ्यन्तरेणैककर्तृकत्वं साध्यं व्यपदिश्यते तस्य प्रत्यक्षेण निश्चयाभ्युपगमे कथं बाधकप्रमाणावसेयता व्याप्तेः ? नैतत्, प्रमातृनियतताग्रहणं नैककर्तृकत्वग्रहणम्; सर्वे एव हि भावा देशादिनियततयाऽवसीयमाना व्यवहारगोचरतामुपयान्ति, प्रमातुरप्यवसाय एवमेव दृश्यते—'इदानीमत्राहम्' । एवं देशाद्यसंसर्गवत् प्रमात्रन्तरासंसर्गोऽपि निश्चीयते । तथाहि—देश-कालनिबन्धननियमवद् व्यतिरिक्तपदार्थासंसर्गस्वभावनियतप्रति- १५
[illegible]
[illegible]
आहोस्विदन्यथा' इति, अथ च प्रत्यक्षेण बाधकस्य व्याप्त्यवसाये पश्चाद् व्यापकानुपलब्ध्या मूलहेतोर्व्याप्तिसिद्धिः एवमेककर्तृकत्वानवसायेऽपि प्रमातृनियततया प्रतिसन्धानस्य स्वसन्ततौ व्याप्ति- २०
निश्चये सत्युत्तरकालं विपक्षे व्यापकस्य प्रमातृनियतत्वस्याभावादेककर्तृकत्वेन प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिसिद्धिः । एवमनभ्युपगमे 'अहम् अन्यो वा' इति प्रमात्रनिश्चये प्रमेयानिश्चयाद् अन्धमूकं जगत् स्यात् । औपचारिकस्य प्रमातृनियततया प्रतिभासविषयत्वेऽनात्मप्रत्यक्षत्वं दोषः ।

तदेतत् स्यात्—अस्त्ययं प्रमातृनियमनिश्चयः, स तु स्वसन्ततौ किमेककर्तृकत्वकृतः, उतस्वित्रिमित्तान्तरकृतो युक्तः ? तदेकस्यां सन्ततौ हेतु-फलभावलक्षणं प्राक् प्रदर्शितम् । सत्यम्, प्रदर्शितं २५
ननु साधितम् । तथाहि—तत्कृतः प्रमातृनियमो नान्यकृत इति नैतावत्प्रत्यक्षस्य विषयः, न च प्रमाणान्तरस्यापि । तद्धि अस्मिन् विषये उच्यमानम् अनुमानमुच्येत, तदपि प्रत्यक्षनिषेधात्सिद्धम् । न च क्षणिकत्वव्यवस्थापने हेतु-फलभावकृतो नियम इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम्, तस्योपरिष्टात् निषेत्स्यमानत्वात् । न चात एव दोषाद् एककर्तृकत्वकृतोऽपि न नियम इति वक्तुं शक्यम्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वस्य तत्पूर्वकानुमानसिद्धत्वस्य चात्मनि प्राग् व्यवस्थापितत्वात् । अभ्युपगमवादेन तु क्षणिकत्वव्यवस्थापक- ३०
सत्त्वहेतुतुल्यत्वमनुसन्धानप्रत्ययहेतोः प्रदर्शितम्, न तु क्षणिकत्ववद् आत्मैकत्वस्य प्रत्यक्षासिद्धत्वम् येनानुमानात् तत्प्रसिद्ध्यभ्युपगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः प्रेर्येत । अतोऽध्यक्षानुमानप्रमाणसिद्धत्वात् परलोकिनः "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः" इति सूत्रं निःसारतया व्यवस्थितम् ।

यदप्युच्यते 'शरीरान्तर्गतं संवेदनं कथं शरीरान्तरसंचारि, जीवतस्तावत् शरीरान्तरसंचारो दृष्टः, परस्मिन् मरणसमये भविष्यतीति दुरन्वयमेतत्' तदपि न युक्तम्, यतः कुमारशरीरान्तर्गताः पाण्डि- ३५
त्यादिविकल्पा वृद्धावस्थाशरीरसंचारिणो दृश्यन्ते जीवत एव, चपलतादिशरीरावस्थाविशेषाः वाग्विकाराश्च, तत् कथं न जीवतः शरीरान्तरसंचारः ? अथैकमेवेदं शरीरं बाल-कुमारादिभेदभिन्नम्, जन्मान्तरशरीरं तु मातापित्रन्तरशुक्र-शोणितप्रभवम्-शरीरान्तरप्रभवम्, एतदप्ययुक्तम्, बाल-कुमारशरीरस्यापि भेदात्, यथा च बाल-कुमारशरीरचपलताभेदस्तरुणादिशरीरसञ्चारी उपलभ्यते तथा

---

१ क्रमस्य यौगप-वा०, बा०, गु०, वां० । २-मानव्यव-बां०, गु० । ३-कत्वे नि-पू०, आ० । ४-अयभावः वा०, बा० । ५-मातृनि-मां० । ६-मातुर्नियम-मां० ब० ।-मातृनियत-वा०, बा० । ७-इत-स्यदोषः वा०, बा० विना । ८ पृ० ९१ पं ६ । ९. ततास्तिसि-वा०, बा० विना । १० पृ० ७१ पं० २९ । ११ पृ० ७१ पं० १४ ।

निजजन्मान्तरशरीरप्रभवश्चपलतादिभेदः परभवभाविजन्मशरीरसंचारी भविष्यतीति ततो न माता-
पितृशुक्र-शोणितान्वयि जन्मादिशरीरम् अपि तु स्वसन्तानशरीरान्वयमेव, वृद्धादिशरीरवत्; अन्यथा
मातापितृशरीरचपलतादिविलक्षणशरीरचेष्टावश्च स्यात्। अथेहजन्मबाल-कुमाराद्यवस्थाभेदेऽपि प्रत्य-
भिज्ञानाद् एकत्वं सिद्धं शरीरस्य तदवस्थाव्यापकस्य तेन न तद्दृष्टान्तबलादत्राभिमते जन्मान्तर-
५ शरीरादौ ज्ञानसंचारो युक्तः, तदसत्; पूर्वोत्तरजन्मशरीरज्ञानसंचारकारिणः कार्मणशरीरस्यात एव
कथञ्चिदेकत्वसिद्धेः। तथाहि—ज्ञानं तावदिहजन्मादावन्यनिजजन्मज्ञानप्रभवं प्रसाधितम्, तस्य चेह-
जन्मबाल-कुमाराद्यवस्थाभेदेषु 'तदेवेदं शरीरम्' इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञाप्रत्ययावगतैकरूपान्वयिषु संचा-
रदर्शनात् पूर्वोत्तरजन्मावस्थास्वपि तथाभूतानुगामिरूपसमन्वितास्वेव तस्य संचारोऽनुमीयते। न
चास्मदादीन्द्रियसंवेद्यरूपाद्याश्रयस्यौदारिकशरीरस्य जन्मान्तरशरीराद्यवस्थाऽनुगमः संभवति, तत्र
१० तत्रैव च दाहादिना ध्वंसोपलब्धेः। अतो जन्मद्वयावस्थाव्यापकस्योष्मादिधर्मानुगतस्य कार्मणशरीरस्य
विज्ञानसंचारकारिणः सद्भावः सिद्धः। पूर्वोत्तरजन्मावस्थाव्यापकस्यावस्थातुस्तदवस्थाभ्यः कथञ्चिद्-
भेदाद् मातापितृशरीरविलक्षणनिजशरीरावस्थाचपलताद्यनुविधाने उत्तरावस्थायाः कथं नावस्थातृ-
धर्मानुविधानम्?

"तस्माद् यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते।
१५ शरीरं पूर्वदेहस्य तत् तदन्वयि युक्तिमत्" ॥ [ ]

'अथ पूर्वापरयोः प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेर्न कार्यकारणभावः, अनुमानसिद्धावितरेतराश्रयदोषः' इति,
तदपि प्रतिविहितम्, एवं हि सर्वशून्यत्वमायातमिति कस्य दूषणं साधनं वा केन प्रमाणेन? इत्यलो-
कस्याप्यभावप्रसक्तेरिति प्रतिपादितत्वात्।

अथ कार्यविशेषस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वसिद्धौ यथोक्तप्रकारेण भवतु पूर्वजन्मसिद्धिः, भावि-
२० परलोकसिद्धिस्तु कथम् भाविनि प्रमाणाभावात्? तत्रापि कार्यविशेषादेवेति ब्रूमः। तथाहि-कार्य-
विशेषो विशिष्टं सत्त्वमेव, तच्च न सत्तासंबन्धलक्षणम्; तस्य निषेत्स्यमानत्वात्। नाप्यर्थक्रियाकारि-
त्वलक्षणम्, सन्ततिव्यवच्छेदे तस्याभावप्रसङ्गात्। तथाहि—शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिसन्तानानां यद्युच्छे-
दोऽभ्युपगम्यते तदा तत्सन्ततिचरमक्षणस्यापरक्षणाजननादसत्त्वम्, तदसत्त्वे च पूर्वपूर्वक्षणाना-
मर्थक्रियाऽजननादसत्त्वमिति सकलसन्तत्यभावः। अथ सन्तत्यन्त्यक्षणः सजातीयक्षणान्तराजननेऽपि
२५ सर्वज्ञसन्ताने स्वग्राहिज्ञानजनकत्वेन सन्निति नायं दोषः, तदसत्; स्वसन्ततिपतितोपादेयक्षणाजन-
कत्वे परसन्तानवर्तिस्वग्राहिज्ञानजनकत्वस्याप्यसंभवात्। न ह्युपादानकारणत्वाभावे सहकारिकारणत्वं
क्वचिदप्युपलब्धम्; तत्सद्भावे वा एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतत्समानकालभाविनोऽव्यभिचा-
रिणी प्रतिपत्तिर्न स्यात्, रूपक्षणस्य स्वोपादेयक्षणान्तराजननेऽपि रससन्ततौ सहकारिकारणत्वेन रस-
क्षणजनकत्वाभ्युपगमात्; तत्सद्भावेऽपि तत्समानकालभाविनो रूपादेरभावात्। तत्रोपादानकारणत्वा-
३० भावे सहकारित्वस्यापि असंभव इति स्वसन्तत्युच्छेदाभ्युपगमेऽर्थक्रियालक्षणस्य सत्त्वस्यासंभव इति
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणमेव सत्त्वमभ्युपगन्तव्यमिति कार्यविशेषलक्षणाद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेणातीतका-
लवदनागतकालसंबन्धित्वमप्यात्मनः सिद्धम्।

यदप्युक्तम् 'यद्यागमसिद्धत्वमात्मनः, तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धस्तत्सिद्धोऽभ्युपगम्यते
तदाऽनुमानवैयर्थ्यम्' इति, तदपि मूर्खविचेष्टितम्; नहि स्वर्धम् इति निजकारणसामग्रीबलायातं
३५ वस्तु प्रतिक्षेप्तुं युक्तम्; नहि आगमसिद्धाः पदार्थाः इति प्रत्यक्षस्यापि प्रतिक्षेपो युक्तः। यदपि
प्रत्यक्षाऽनुमानाविषये स्वार्थे आगमप्रामाण्यवादिभिस्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते—तदुक्तम्-

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्-" [जैमि० १-२-१] इति,

तदप्ययुक्तम्; यतो यथा प्रत्यक्षप्रतीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषयेऽनुमानमपि प्रवृत्तिमासादयतीति
प्रतिपादितं तथा प्रत्यक्षाऽनुमानप्रतिपन्नेऽप्यागमलक्षणेऽर्थे तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धलक्षणे

१-लक्षणं शरीर वे-गु०। २-बाधितैकत्व-भां०। ३ तत्रैव च दाहा-भा०, मां०। ४ अनु-
मानसिद्धावि-भ०, व० मि०। ५ एवं हि सति सर्व-भां०, मां०। ६ पृ० ७७ पं० ११।
७ पृ० ७१ पं० १७। ८-सामग्र्यनु मां०। ९ पृ० ७५ पं० ११। १०-यतो व-भां०।

किमित्यागमस्य प्रवृत्तिर्नाभ्युपगमस्य विषयः ? न चागमस्य तथाप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तम्, सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धप्रतिपादकश्चागमः—

"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्य" [तत्त्वा० अ० ६, सू० १६]

इत्यादिना वार्त्तिककारेण सूत्रीकृतोऽस्यैवानुमानविषयत्वं प्रतिपादयितुकामेन । यथा च कर्मफलसंबन्धोऽप्यात्मनोऽनुमानादवगम्यते तथा यथास्थानमिहैव प्रतिपादयिष्यामः । आत्मस्वरूपप्रतिपादकः प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धप्रतिपादकश्चागमः—

"एगे आया" [स्थाना० प्रथमस्था० सू० १]

"पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं कडाणं कम्माणं" [ ]

इत्यादिकः सुप्रसिद्ध एव । तदेवं प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमप्रमाणप्रसिद्धत्वाद् नारक-तिर्यग्-नराऽमरपर्यायानुभूतिस्वभावस्यात्मनः, न 'भवशब्दव्युत्पत्तिः अर्थाभावात् डित्थादिशब्दव्युत्पत्तितुल्या' इति स्थितम् ॥

[पूर्वपक्षः–जगतः ईश्वरकृतत्वस्थापनम्]

अत्राहुर्नैयायिकाः—क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयाऽपरामृष्टपुरुषाभ्युपगमे "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा" इति दूषणमभ्यधायि तत्र तन्नित्यसत्त्वप्रतिपादने नास्माकं काचित् क्षतिः, प्रमाणतो नित्यज्ञानादिधर्मकलापान्वितस्य तस्याभ्युपगमात् ।

ननु युक्तमेतद् यदि तथाभूतपुरुषसद्भावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रमाणं स्यात्, तच्च नास्ति । तथाहि–न प्रत्यक्षं तथाविधपुरुषसद्भावावेदकमस्मदादीनाम् । अस्मद्विलक्षणयोगिभिस्तस्यावसाय इत्यत्रापि न किञ्चित् प्रमाणमस्ति । यदा न तत्स्वरूपग्रहणे प्रत्यक्षप्रमाणप्रवृत्तिस्तदा तद्गतधर्माणां नित्यज्ञानादीनां सद्भाववार्त्तैव न संभवति ।

नानुमानमपि युक्तम् एतत्स्वरूपावेदकम्, प्रत्यक्षनिषेधे तत्पूर्वकस्य तस्यापि निषेधात् । सामान्यतोदृष्टस्यापि नात्र विषये प्रवृत्तिः, लिङ्गस्य कस्यचित् तत्प्रतिपादकस्याभावात् । कार्यत्वस्य पृथिव्याद्याश्रितस्य केषाञ्चिन्मतेनासिद्धेः । न च संस्थानवत्त्वस्य तत्साधकत्वम्, प्रासादादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्यात्यन्तवैलक्षण्यात् संस्थानशब्दवाच्यत्वेन चातिप्रसक्तिर्दर्शिता

"वस्तुभेदप्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः" [ ]

इत्यादिना । तस्मान्नानुमानं तत्साधनायालम् ।

नाप्यागमः, नित्यस्यात्र दर्शनेऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा कार्यार्थप्रतिपादकस्य सिद्धे वस्तुन्यव्यापृतेः । नापीश्वरपूर्वकस्य प्रामाण्यम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । अनीश्वरपूर्वकस्यापि संभाव्यमानदोषत्वेन प्रमाणताऽनुपपत्तेः । तस्यान्येश्वरपूर्वकत्वे तस्यापि सिद्धिः कुत इति वक्तव्यम्, तदसिद्धौ न तस्य प्रामाण्यम्, अनेकेश्वरप्रसङ्गदोषश्च । भवतु, को दोषः यत एकस्यापि साधने वयमतीवोत्सुकाः किं पुनर्बहूनामिति चेत्, न कश्चित् प्रमाणाभावं मुक्त्वा । तन्नागमतोऽपि तत्प्रतिपत्तिः । एवं स्वरूपासिद्धौ कथं तस्य कारणता ?

अत्राहुः—यदुक्तम् 'न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्' तदेवमेव । यदपि 'सर्वप्रकारस्यागमस्य न तत्स्वरूपावेदने व्यापृतिः' तत्रोच्यते–आगमाव्यापारेऽपि तत्स्वरूपसाधकमनुमानं विद्यते । आगमस्यापि सिद्धेऽर्थे लिङ्गदर्शनन्यायेन यथा व्यापृतिस्तथा प्रतिपादयिष्यामः । प्रत्यक्षपूर्वकानुमाननिषेधे सिद्धसाधनम्, सामान्यतोदृष्टानुमानस्य तत्र व्यापाराभ्युपगमात् । नन्वनुमानप्रमाणतायामयं विचारो युक्तारम्भः, सैव तु प्रामाण्यं नानुमन्यन्ते चार्वाका इति, एतच्चानुद्घोष्यम्, अनुमानप्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् ।

यदुक्तम् 'पृथिव्यादिगतस्य कार्यत्वस्याप्रतिपत्तेर्न तस्मादीश्वरावगमः' तत्र पृथिव्यादीनां यैर्बौद्धैः कार्यत्वमभ्युपगतं ते कथमेवं वदेयुः ? येऽपि चार्वाकाद्याः पृथिव्यादीनां कार्यत्वं नेच्छन्ति तेषामपि

१ पृ० ६९ पं० ९ । २ प्रतिग्रहत्वं नार–मां० । ३ "पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कडाणं पावाणं कम्माणं" इत्यादि–ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रे पृ० २०४ प्र०, पं० १–विपाकसूत्रे पृ० ३८ द्वि०, पं० १ । ४ पृ० ६९ पं० २७ । ५–ज्ञावे वा–मां०, वा०, बा० । ६ प्र० पृ० पं० १७ । ७ प्र० पृ० पं० २६ । ८ प्र० पृ० पं० ११ ।

विशिष्टसंस्थानयुक्तानां कथमकार्यता ? सर्वं संस्थानवत्, कार्यम्; तच्च पुरुषपूर्वकं दृष्टम् । येऽप्याहुः– "संस्थानशब्दवाच्यत्वं केवलं घटादिभिः समानं पृथिव्यादीनाम् न तत्त्वतोऽर्थः कश्चिद् द्वयोरनुगतः समानो विद्यते" । तेषामपि न केवलमत्रानुगतार्थाभावः किन्तु धूमादावपि पूर्वापरव्यक्तिगतो नैव कश्चिदनुगतोऽर्थः समानोऽस्ति ।

५ अथ तत्र वस्तुदर्शनायातकल्पनानिमित्तमुक्तम्, अत्र तथाभूतस्य प्रतिभासस्याभावादनुगतार्थकल्पना । तथाहि–कस्यचिद् घटादेः क्रियमाणस्य विशिष्टां रचनां कर्तृपूर्विकां दृष्ट्वाऽदृष्टकर्तृकस्यापि घट-प्रासादादेस्तस्य रचनाविशेषस्य कर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिः, पृथिव्यादेस्तु संस्थानं कदाचिदपि कर्तृपूर्वकं नावगतम्; नापि तादृशं धर्म्यन्तरे दृष्टकर्तृक इव घटादौ । ननु पृथिव्यादिगतस्य संस्थानस्य [illegible] अवतमेनन ।

[illegible]

[illegible] । तस्मात् [illegible] पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमः, [illegible] धूमादावपि नास्ति ।

१५ अपि च, भवतु प्रासादादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्य वैलक्षण्यं तथापि कार्यत्वं शाक्यादिभिः पृथिव्यादीनामिष्यते, कार्यं च कर्तृ-करणादिपूर्वकं दृष्टम्, अतः कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वानुमानम् । अथ कर्तृपूर्वकस्य कार्यत्वस्य संस्थानवत्त्वस्य च तद्वैलक्षण्याच्च ततः [illegible] । [illegible] यत् संस्थानं तद्दर्शनात् कर्त्रदर्शिनोऽपि [illegible] कार्यत्वेऽपि समानत्वात् कथं गमकता ? यथैवमनुमानोच्छेदप्रसङ्गः ।

२० धूमादिकमपि यथाविधमग्न्यादिसामग्रीभावाभावानुवृत्तिमत् तथाविधमेव यदि पर्वतोपरि भवेत् [illegible] ततो वह्न्यवगमः । [illegible] तथाविधमेव धूमादि तर्हि कार्यत्वमपि तथाविधं पृथिव्यादिगतं किं नेष्यते ? अथ पृथिव्यादिगतकार्यत्वादिदर्शनात् कर्त्रदर्शिनां तत्प्रतिपत्तिः, एवं [illegible] धूमादिभ्योऽपि तत्प्रतिपत्तिरस्तु । न चात्र शब्दसामान्यं [illegible] युक्तम्, धूमादावपि शब्दसामान्यस्य वक्तुं शक्यत्वात् । तत्र [illegible]

२५ कार्यत्वादेरसिद्धता ।

[illegible]

१० [illegible] " [ ]

[illegible]

"[illegible]" [ ]

१५ [illegible] "[illegible]" [[illegible]] [illegible] ।

[illegible]

२० [illegible]

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] इति [illegible] ।

[illegible] कार्येण [illegible] ।

[illegible] व्यतिरेक [illegible] ।

] [illegible] ।

[[illegible]

अथ [illegible] व्यभिचार [illegible] हेतु [illegible] ।

[illegible] उपलब्धि [illegible] ।

[illegible] गुणः [illegible] अन्वयव्यतिरेकानुविधान [illegible] ।

[illegible] इति [illegible] ।

[illegible] अन्वय-व्यतिरेकानु [illegible] कार्ये [illegible] इति [illegible] ।

[illegible] कारणानि [illegible] ।

[illegible] अथ [illegible] साधारण [illegible] यथा कारणानि [illegible] कर्तारं विना [illegible] ।

[illegible] इति तत् परिकल्पते तथा [illegible] ।

[illegible] कारणसामग्र्युपलब्धिलक्षणप्राप्त [illegible] ।

[illegible] प्र० [illegible]

[illegible] कार्येण [illegible] । [illegible]

५ [illegible]

[illegible] समकः ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

"[illegible]" [ ]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विरुद्धता तर्हि सकृत् कार्यमात्रस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तेर्ग्रहेऽपि दृष्टान्तेऽनीश्वरोऽस्मर्यमाणः कृत्रिमज्ञानसम्बन्धी सशरीरः क्षित्याद्युपचितः कर्ता तथापि पूर्वोक्तविशेषणानां धर्मिविशेषरूपाणां व्यभिचारात् तद्विपर्ययसाधकत्वेऽपि न विरुद्धता । विरुद्धो हि हेतुः साध्यविपर्ययकारित्वाद् भवति । न चैतेषां साध्यता, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्यात्राद्धेतोः साध्यत्वेनेष्टत्वात् । यथा च विशेषविरुद्धादीनामदूषणत्वं तथा

"सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः" [न्यायसू० अ० १, आ० २, सू० ६]

इत्यत्र सूत्रे निर्णीतम् ।

इत्थमसद्दूषणम्—पूर्वस्माद्धेतोः स्वसाध्यसिद्धावुत्तरेण पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य किं विशेषः साध्यते, उत पूर्वहेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धः क्रियते? न तावत् पूर्वो विकल्पः, यदि नाम तत्रापरेण हेतुना विशेषाधानं कृतं किं तावता पूर्वस्य हेतोः साध्यसिद्धिविघातः? यथा कृतकत्वेन शब्दस्यानित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षतिस्तद्वदत्रापि । अथोत्तरो विकल्पस्तथापि स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धो व्याप्यभावप्रदर्शनेन क्रियते, व्याप्यभावश्च हेतुरूपाणामन्यतमाभावेन । न च धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि रूपस्याभावः कथ्यते । न च हेतुरूपाभावासिद्धावगमकत्वम् । तत्र विशेषविरुद्धता ।

विशेषास्तु धर्मिणः [illegible] गम्यन्ते । तत्र प्रमाणान्तर [illegible] किंसंज्ञम् । यथा गन्धाद्युप [illegible] केवलव्यतिरेकिनिमित्ता तथेहापि कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणमात्रप्रसिद्धौ प्रसक्तप्रतिषेधात् कारणविशेषसिद्धिः केवलव्यतिरेकिनिमित्ता । तथाहि—कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणमात्रसिद्धौ प्रसक्तानां कृत्रिमज्ञान-शरीरसंबन्धत्वादीनां धर्माणां प्रमाणान्तरेण बाधोपपत्तौ विशिष्टबुद्धिमत्कारणसिद्धिर्व्यतिरेकिबलात्" इति केचित् ।

अन्ये मन्यन्ते—"यत्रान्वयव्यतिरेकिणो हेतोर्न विशेषसिद्धिस्तत्र तत्पूर्वकात् केवलव्यतिरेकिणो [illegible] व्याक्षेपः अन्यथाऽत्र व्याप्तेरसंभवात्, तथापि व्याप्तिग्रहणवेलायां सामान्यरूपतया तदाक्षेपः न विशेषरूपेणेति विशेषावगमो नान्वय-व्यतिरेकनिमित्तः, अपि तु पक्षधर्मत्वकृतः । अत एव "प्रत्यु- [illegible] पक्षधर्मत्वबलाद् विशेषसिद्धिस्तदा न विशेषविरुद्धादीनामवकाशः ।

"अन्वयसामर्थ्यादपि विशेषसिद्धिम्" अन्ये मन्यन्ते । तथा, धूममात्रस्य वह्निमात्रेण व्याप्तिः एवं धूमविशेषस्य वह्निविशेषेण इति धूमविशेषप्रतिपत्तौ न वह्निमात्रेणान्वयानुस्मृतिः किन्तु वह्निविशेषेण, एवंविशिष्टकार्यस्यदर्शनाच कारणमात्रानुस्मृतिः किन्तु तथाविधकार्यविशेषजनककारणविशेषानुस्मृतिः । तदनुस्मृतावत्रान्वयसामर्थ्यादेव कारणविशेषप्रतिपत्तिरिति न विशेषविरुद्धावकाशः ।

एतेषां पक्षाणां युक्तायुक्तत्वं सूरयो विचारयिष्यन्तीति नास्माकमत्र निर्बन्धः, सर्वथा विशेषविरुद्धस्यादूषणत्वमस्माभिः प्रतिपाद्यते तद्विरुद्धलक्षणपर्यालोचनया । प्रसक्तानां च विशेषाणां प्रमाणान्तरबाधया, अन्वयव्यतिरेकिमूलकेवलव्यतिरेकिबलाद्वा, पक्षधर्मत्वसामर्थ्येन वा, कार्यविशेषस्य कारणविशेषान्वितत्वेन वा नात्र प्रयस्यते, सर्वथा प्रस्तुतहेतौ न व्याप्यसिद्धिः ।

१-त्वाद् । भां० । २ यथा भां० व० । ३ "प्रत्यक्षं पूर्वोक्तम्" वि० वि० । ४-णां विशे-भां०, मु०, क०, वा० ।

कारणेषु कारणत्वमप्रसङ्गात्, कार्येण सर्वोपसंहारात्। सहकारिणां दृष्टत्वाभावं कल्पना, केनाश्रित् सहकारिणो दृष्टत्वेऽप्यदृष्टादेः सहकारिणः कार्येण प्रतिनियमः, एवमीश्वरस्य ज्ञाने ऽपि न समस्तरूपग्रहणं प्रत्यक्षेणेति निश्चयम्। ततोऽनुपलब्धिरूपप्रमाणाभावात् ... जन्मसु स्थावरेषु हेतोर्वृत्तिदर्शनाय स्यादभावः यतो निश्चितविपक्षवृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारी।

५ ननु निश्चितविपक्षवृत्तिर्यथा व्यभिचारी तथा सन्दिग्धव्यतिरेकोऽपि, स्थेषु स्थावरेषु कर्त्रग्रहणे कि कर्त्रभावा[illegible]
व्यतिरेकार्थे [illegible]
वह्निव्यक्त्यो [illegible]
यत्र वह्निर्न दृ [illegible]
१० इति न नियमः। अतो धूमोऽपि सन्दिग्धव्यतिरेकत्वाद गमकः।

अथ धूमः कार्यं हुतभुजः, तस्य तदभावे स्वरूपानुपपत्तेरदृष्टेऽप्यनलस्य सद्भावकल्पना। ननु तत् कार्यमत्रोपलभ्यमानं किमिति कारणमन्तरेण कल्प्यते? अथ दहनादेः कारणस्य कल्पनाऽस्तु मा भूद् बुद्धिमतः, घटादेर्धूमादीन् प्रति कथं दृष्टशक्तिता? प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति चेत्, बुद्धिमतोऽपि ताभ्यां कारणत्वप्रतीतेः घटादिभिस्तुल्यता, यथा घटादिसामग्र्या धूमादिर्जन्यमानो दृष्टः स तामन्त-
१५ रेण कदाचिदपि न भवति-स्वरूपहानिप्रसङ्गात्-तद्वत् सर्वमुत्पत्तिमत् कर्तृ-कर्म-करणपूर्वकं दृष्टम्, तस्य सकृदपि तथादर्शनात् तज्जन्यतास्वभावः, तत्स्वभावनिश्चितावन्यतमाभावेऽपि कथं भावः?

किंच, अनुपलभ्यमानकर्तृकेषु स्थावरेषु कर्तुरनुपलम्भः शरीराद्यभावात् न त्वसत्त्वात्, यत्र शरीरस्य कर्तृता तत्र कुलालादेः प्रत्यक्षेणोपलम्भः, अत्र तु चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानात् कथं प्रत्यक्षव्यापृतिः? नाप्येतद् वक्तव्यम् शरीराद्यभावात् तर्हि कर्तृताऽपि न युक्ता, कार्यस्य शरीरेण
२० सह व्यभिचारदर्शनात्—यथा स्वशरीरस्य प्रवृत्ति-निवृत्ती सचेतनः करोति, ते च कार्यभूते, न च शरीरान्तरेण शरीरप्रवृत्ति—निवृत्तिलक्षणं कार्यं चेतनः करोति तेन तस्य व्यभिचारः। अथ शरीरे एव दृष्टत्वात् करोतु नान्यत्र, तन्न; यतः कार्यं शरीरेण विना करोतीति नः साध्यम्, तत् स्वशरीरगतमन्यशरीरगतं वेति नानेन किञ्चित्। एतेनैतदपि परास्तं यदाहुरेके—

"अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्त्तते" [ ]

२५ अचेतनस्य शरीरादेरात्मेच्छानुवर्त्तित्वदर्शनात्। न चाचेतनस्य तदिच्छाननुवर्त्तिनोऽपि प्रयत्नप्रेर्यत्वं परिहार इति वक्तव्यम्, यत ईश्वरस्यापि प्रयत्नसद्भावे न काचित् क्षतिः। न च शरीराभावात् कथं प्रयत्न इति वक्तुं युक्तम्, शरीरान्तराऽभावेऽपि शरीरस्य प्रयत्नप्रेर्यत्वदर्शनात्। तत् कर्तुः शरीराभावादङ्कुरोत्पत्तिषु स्थावरेष्वग्रहणम्, न तत्रादर्शनेन हेतोर्व्यभिचारः। येऽपि "प्रत्यक्षाऽनुपलम्भसाधनं कार्यकारणभावम्" आहुस्तेषामपि कस्यचित् कार्यकारणभावस्य तत्साधनत्वे यथेन्द्रि-
३० याणाम् अदृष्टस्य च तौ विना कारणत्वसिद्धिस्तथेश्वरस्यापि। अतो न व्याप्त्यभावः।

अत एव न सत्प्रतिपक्षताऽपि, नैकस्मिन् साध्यान्विते हेतौ स्थिते द्वितीयस्य तथाविधस्य तत्रावकाशः, वस्तुनो द्वैरूप्यासंभवात्।

नापि बाधः, अबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य प्रमाणेनाग्रहणात्, साध्याभावे हेतोरभावः स्वसाध्यव्याप्तत्वादेव सिद्धः।

३५ नापि धर्म्यसिद्धता, कार्यकारणसङ्घातस्य पृथिव्यादेर्भूतग्रामस्य च [illegible] तदाश्रयत्वेन हेतोर्यथा प्रमाणेनोपलम्भस्तथा पूर्वं प्रदर्शितम्। अतोऽस्मादी[illegible] प्रमाणाभावः।

नापि हेतोर्विशेषविरुद्धता, तद्विरुद्धत्वे हेतोर्विशेषणेऽभ्युपगम्यमाने न [illegible] भवेत्, प्रसिद्धानुमानेऽपि विशेषविरुद्धादीनां सुलभत्वात्। यथाऽयं धूमो दहनं सा[illegible]
४० देशावच्छिन्नवह्न्यभावमपि साधयति। नहि पूर्वधूमस्यतद्देशावच्छिन्नेन वह्निना व्याप्तकालाद्यवच्छेदेन हेतोर्विरुद्धता वक्तव्या। अथ देश-कालादीन् विहाय वह्निमात्रेण हेतोर्

---

१ सप्रति-मां०, वा०, वा०। २ पृ० ९४ पं० १५।

विरुद्धता तर्हि तद्वत् कार्यमात्रस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तेर्यद्यपि दृष्टान्तेऽनीश्वरोऽसर्वज्ञः कृत्रिमज्ञानसम्बन्धी सशरीरः क्षित्याद्युपयोगिनः कर्ता तथापि पूर्वोक्तविशेषणानां धर्मिविशेषरूपाणां व्यभिचारात् तद्विपर्ययसाधकत्वेऽपि न विरुद्धता । विरुद्धो हि हेतुः साध्यविपर्ययकारित्वाद् भवति । न चैतेषां साध्यता, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्यास्माद्धेतोः साध्यत्वेनेष्टत्वात् । यथा च विशेषविरुद्धादीनामदूषणत्वं तथा

"सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः" [न्यायद० अ० १, आ० २, सू० ६]

इत्यत्र सूत्रे निर्णीतम् ।

इतश्चैतददूषणम्—पूर्वस्माद्धेतोः स्वसाध्यसिद्धावुत्तरेण पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य किं विरोधः साध्यते, उत पूर्वहेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धः क्रियते ? न तावत् पूर्वो विकल्पः, यदि नाम तत्रापरेण हेतुना विरोधाधानं कृतं किं तावता पूर्वस्य हेतोः साध्यसिद्धिर्विघातः ? यथा कृतकत्वेन शब्दस्यानित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षतिरुद्भाव्यापि । अथोत्तरो विकल्पस्तथापि स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धो व्याप्त्यभावप्रदर्शनेन क्रियते; व्याप्त्यभावश्च हेतुरूपाणामन्यतमाभावेन । न च धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि रूपस्याभावः कथ्यते । न च हेतुरूपाणामसिद्धावगमकत्वम् । तन्न विशेषविरुद्धता ।

विशेषास्तु धर्मिणः स्वरूपसिद्धावुत्तरकालं प्रमाणान्[illegible] प्रगम्यन्ते । तत्र प्रमाणान्तरमागमः पूर्वहेतोर्हेत्वन्तरं च । [illegible] किसंज्ञम् । यथा गन्धाद्युपलब्ध्या तत्साधनकरणमात्रप्रसि[illegible] केवलव्यतिरेकिनिमित्ता तथेहापि कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणमात्रप्रसिद्धौ प्रसक्तप्रतिषेधात् कारणविशेषसिद्धिः केवलव्यतिरेकिनिमित्ता । तथाहि—कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणमात्रसिद्धौ प्रसक्तानां कृत्रिमज्ञान-शरीरसंबद्धत्वादीनां धर्माणां प्रमाणान्तरेण बाधोपपत्तौ विशिष्टबुद्धिमत्कारणसिद्धिः केवलव्यतिरेकिबलात्" इति केचित् ।

अन्ये मन्यन्ते—"यत्रान्वयव्यतिरेकिणो हेतोर्न विशेषसिद्धिस्तत्र तत्पूर्वकात् केवलव्यतिरेकिणो विशेषसिद्धिर्भवतु, यथा प्राणादिषु, अत्र तु पूर्वस्माद्धेतोर्विशेषसिद्धौ न हेत्वन्तरापेक्षता । यथा धूमस्य वह्निनाऽन्वय-व्यतिरेकसिद्धौ 'अत्र देशे वह्निः' इति पक्षधर्मत्वबलात् [illegible] व्यतिरेकाद्वा, तयोर्नैकदेशावच्छिन्नवह्निनाऽसंभवात्—यद्यपि व्याप्तिकाले [illegible] व्यापिनः अन्यथाऽत्र व्याप्तेरसंभवात्, तथापि व्याप्तिग्रहणवेलायां सामान्यरूपेण [illegible] विशेषरूपेणेति विशेषावगमो नान्वय-व्यतिरेकनिमित्तः, अपि तु पक्षधर्मत्व[illegible] । [illegible] "[illegible]तत्कारणमन्यां स्मृतिमनुमानम्" आहुः । प्रकृतेऽपि च कारणं पक्षधर्मत्वं—[illegible] बुद्धिमत्कारणमात्रेण व्याप्तिसिद्धावपि कारणविशेषप्रतिपत्तिः पक्षधर्मत्व[illegible] । [illegible] पृथिव्यादेः कर्ता नियमेनासावशरीरिज्ञानसंबन्धी शरीररहितः सर्वज्ञ[illegible]" इति, एवं [illegible] पक्षधर्मत्वबलाद् विशेषसिद्धिरतो न विशेषविरुद्धादीनामवकाशः ।

"अन्वयव्यतिरेकयोरपि विशेषसिद्धिम्" अन्ये मन्यन्ते । [illegible] एवं धूमविशेषस्य वह्निविशेषेण इति धूमविशेषव्याप्तिः न [illegible] विशेषेण, एवंविधविशिष्टकार्यत्वदर्शनात् कारणमात्रानुस्मृतिः किन्तु [illegible] ईश्वरानुस्मृतिः । तदनुस्मृतावन्वयव्यतिरेकाभ्याम् [illegible]

एतेषां पक्षाणां गुणागुणत्वं सूरयो विचारयिष्यन्ति [illegible] विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रतिपक्षं [illegible] । [illegible] अन्वयव्यतिरेकिमूलकेवलव्यतिरेकिबलात्, [illegible] कारणविशेषसिद्धावेव वा तात्पर्यं मन्यते, सर्वथा [illegible]

---

१ न्याय० । [illegible] २ तथा [illegible] ३ "[illegible]" [illegible]
२०, ४० ।
५० ह० ११

प्रसक्तानां विशेषाणां प्रमाणान्तरबाधया विशेषविरुद्धताऽनवकाश इत्युक्तं तत्र कतमस्य प्रस-
क्तस्य विशेषस्य केन प्रमाणेन निराकृतिः ? शरीरसंबन्धस्य तावद्व्याप्त्यभावेन, शरीरान्तररहितस्या-
प्यात्मनः स्वशरीरधारण-प्रेरणक्रियासु यथा। अथात्मनः प्रयत्नवत्त्वाद् धारणादिक्रियासु शरीरा-
धाधारासु कर्तृत्वं युक्तम् नेश्वरस्य तद्रहितत्वात् तथा च भवतां मुख्यं कर्तृलक्षणम्–

५ "ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायः कर्तृता" [ ] इति।

केनेश्वरस्य तद्रहितत्वात् प्रयत्नप्रतिषेधः कृतः ? आत्म-मनःसंयोगजन्यत्वात् प्रयत्नस्य ईश्वरस्य
तदसंभवात् कारणाभावात् तन्निषेधः। बुद्धिस्तर्हीश्वरे कथं तस्या अपि मनःसंयोगजन्यत्वैव ? साऽपि
मा भूत् का नः क्षतिः ? ननु तदसत्त्वेव न स्वन्या काचिन्। माऽपि भवतु, तदभावे कस्य विशेषः
शरीरादिसंयोगलक्षणः साध्यते ? अत एवान्यैरुक्तम्–

१० "नातीन्द्रियार्थप्रतिषेधो विशेषस्य कस्यचित् साधनेन निराकरणेन वा कार्यः–तदभावे विशेषसाध-
नस्य तन्निराकरणहेतोर्वाऽऽश्रयासिद्धत्वात्–किन्त्वतीन्द्रियमर्थमभ्युपगच्छंस्तत्सिद्धौ प्रमाणं प्रष्टव्यः।
स चेत् तत्सिद्धौ प्रयोजकं हेतुं दर्शयति 'ओम्' इति कृत्वाऽसौ प्रतिपत्तव्यः।
प्रमाणाभावादेवासौ नास्ति, न तु विशेषाभावात्" [ ] तस्माद् ज्ञान-
समवायोऽस्तीश्वरे, ते तु ज्ञानादयोऽस्मदादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणाः, वैलक्षण्यं

१५ योगात्। तत्रेश्वरशरीरस्य कर्तृविशेषस्य व्या[illegible]त् सिद्धिः।

नाप्यसर्वज्ञत्वं विशेषः कुलालादिषु [illegible] तत्सद्भावेऽपि
एव, न ह्यसर्वविदा कर्त्रा कुलालादिना [illegible]। ननु
कश्चिदसर्ववित्, एवमेव—यद् यः करोति [illegible]
अन्यथा तत्क्रियाऽयोगात्। सर्वज्ञत्वं च

२० स्वकार्यस्य सर्वं जानात्युपादानादि [illegible] सर्वस्य
एवस्य [illegible]

अन्ये त्वाहुः–"[illegible]

[illegible]

किञ्चित् प्रमाणसिद्धतां श्रुत्वा।

साधकं किञ्चित् प्रमाणमुत्पद्[illegible]

२० आगमोऽप्यस्मिन् [illegible]

"द्वाविमौ [illegible]
क्षरः सर्वाणि [illegible]
उत्तमः [illegible]
यो [illegible]

२५

तथा श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका [illegible]

"विश्वतश्चक्षुरुत [illegible]
सं [illegible]

१–[illegible] तु यथा [illegible] । २ अत्र [illegible] ।३ [illegible] ।४ [illegible]

...प्रतिपादकतानामप्रामाण्यम्, प्रमाजनकत्वस्य सद्भावात् । तथाहि—प्रमाजनकत्वेन
...प्रामाण्ये न प्रवृत्तिजनकत्वेन गौरवात् । प्रवृत्ति-निवृत्ती तु पुरुषस्य सुख-दुःखसाध-
...तत्साधने इत्यर्थज्ञानाय प्रवृत्त इति । अथ विधायकत्वादर्थानां प्रामाण्यं न स्वरूपार्थाना-
...येन, तदसत् । स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विधायकत्वात् । तथाहि—ज्ञाने स्वार्थप्रतिपादकत्वेन
...प्रामाण्यम्, निन्दार्थानु निषेधकत्वमिति । अन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विधि-प्रतिषेधयोर्विधि- १५
...प्रवृत्तिनिवृत्तिर्न स्यात् । तथा विधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं इत्थम्
...स्वरूपपरस्यापि वाक्येषु स्यात्, वाक्यस्वरूपतायाः अविशेषात् विशेषेऽप्रामाण्यादिति । तथा,
...स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये "श्रेया आपः, दर्भाः पवित्रम्, अमेध्यमशुचि" इत्येवंस्वरूपार्थाज्ञाने विध्य-
...प्रामाण्यविशेषेण प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रसङ्गः, न चैतदस्ति, प्रत्येकमेव प्रवर्तते अमेध्येषु च निवर्तत
...प्रवृत्तस्मात् । तदेवं स्वरूपार्थेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थस्वरूपापबोधे सति इष्टे प्रवृत्तिदर्शनात् अनिष्टे च १०
निवृत्तेरिति ज्ञायते—स्वरूपार्थानां प्रमाजनकत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा विधिसहकारित्वमिति, अप-
...नानु प्रवृत्त्यादिप्रसङ्गः । अथ स्वरूपार्थानां प्रामाण्ये "ग्रावाणः प्लवन्ते" इत्येवमादीनामपि
यथार्थता स्यात्, न, मुख्ये बाधकोपपत्तेः । यत्र हि मुख्ये बाधकं प्रमाणमस्ति तत्रोपचारकल्पना,
तदभावे तु प्रामाण्यमेव । न चेश्वरसद्भावप्रतिपादकेषु किञ्चिदस्ति बाधकमिति तस्मात् प्रामाण्य-
मुपगन्तव्यमित्यागमादपि सिद्धप्रामाण्यात् तदवगमः । ईश्वरस्य च सत्तामात्रेण स्वविषयग्रहण-१५
...णानां हेयज्ञानामधिष्ठायकता यथा स्फटिकादीनामुपधानाकारग्रहणप्रवृत्तानां सविषयप्रकाशः ।
यथा तेषां स्वविषयं प्रकाशं विना नोपधानाकारग्रहणसामर्थ्यं तथेश्वरं विना हेयविदां न स्वविषय-
ग्रहणसामर्थ्यमित्यस्ति भगवानीश्वरः सर्ववित्" । [ ]

तद्यथासौ सर्ववित्—ज्ञानस्य सविदितसर्वार्थप्रकाशकत्वं नाम स्वभावः, तस्यान्यथाभावः
कुतश्चिद्दोषसद्भावात् । यतत् तावत् कथं चक्षुरादाश्रयाणां ज्ञानानाम् । यत् पुनश्चक्षुरनाश्रितं २०
न च रागादिमलावृतं तस्य विषयप्रकाशनस्वभावस्य विषयेषु किमिति प्रकाशनसामर्थ्यविघातः
यथा दीपादेरावरकान्तर्गतस्य ? ननु रागादेरावरणस्य कथं तथाभावोऽवगतः तत्प्रतिपादक-
प्रमाणाभावात् ? प्रमाणस्याभावे संशयोऽस्तु रागादीनाम्, न स्वभावः । विपर्यासकारणा
रागादयः, एषां कारणाभावे कथं तत्र भावः ? विपर्यासश्चाधर्मनिमित्तः, न च भगवत्यधर्मः,
त्वे वा इत्थंविधस्यात्मदादिभिश्चिन्तयितुमशक्यस्य कार्यस्य कथं तत्साधुत्वात् अनेकान्ते २५
...गुणसङ्गात् ? किञ्च, रागादय इष्टानिष्टसाधनेषु विषयेषूपजायमाना दृष्टाः । न च भग-
...कश्चिदिष्टानिष्टसाधनो विषयः, समाप्तकामत्वात् ।

या तु प्रवृत्तिः सर्गादिविषया सा कथम् क्रीडार्थमुक्ता; सा चायासप्रयोजनानामेव भवति
...र्थपरम् । अतो यदुक्तं वार्तिककृता— "न च स्वर्गी भगवान्, दुःखाभावात्" [न्यायवा० पृ० ४६२]
क्रीडा हि रतिमविन्दताम् । न हि दुःखिताः क्रीडासु प्रवर्तन्ते, तस्मात् क्रीडायां प्रवृत्तिः ।
...न प्रतिक्षिप्तम् । न हि दुःखितानां क्रीडासु प्रवर्तन्ते... प्रवृत्तिः । नन्वेवं केवलः सुखरूपः प्राणिसर्गोऽस्तु,
अन्ये मन्यन्ते—"कारुण्याद् भगवतः प्रवृत्तिः, सापेक्षत्वं तु कर्मफलकथा स्वर्गः ? यस्य यथाविधः
...नैघृण्यम्, निरपेक्षस्य कर्तृत्वेऽयं दोषः, तथाविधफलोपभोगाय तत्साधनात् चरितादीन्यपि
दुःखः पुण्यकर्मोऽपुण्यकर्मो वा तस्य [ ] इति । "न चेश्वरस्य व्याघातः सापेक्षत्वेऽपि, यथा स...
स्वापेक्षः सृजति" [ ] इति केचित् ।
...कारणस्य स्फटिकादिपरस्य, यथा वा करणाधिष्ठायकस्य क्षेत्रज्ञस्य, सापेक्षत्वेऽपि तेषु तैः...
ईश्वरस्यापि (तद्वदस्यापि) नैश्वर्याभिघ्नं (विघ्नं) भवतः" [ ] नामसुलभोऽथवाऽपि ...
अन्ये मन्यन्ते—"यथा प्रभुः सेवाभेदानुरोधेन फलभेदप्रदो ... न ...
...दः फलं जनयतीति 'अनीश्वरः' इति न युज्यते वक्तुम्" [ ] तन्निमित्तायामपि प्रवृत्तौ न ...
भाष्यकारः कारुण्यप्रेरितस्य प्रवृत्तिमाह । ...

१ प्रमाजनक—भा०, का० विना । २—अविशेषो न भा०, का०, मु० । ३ तदीश्वरताऽपि...
...पाधियतन इति के—सर्वत्र अन्यत्र । मध्य नैश्वर्यविघात इति के—भा० व० ...
...सू० अ० ४, आ० १, सू० २१ सूत्रस्य भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

दूषणम्—"संसृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः" [श्लो० वा० सू० ५, संबन्धा० श्लो० ५२] इत्येवमादि, यतः कर्माशयानां कुशलाऽकुशलरूपाणां फलोपभोगं विना न क्षय इति भगवान् वर्गच्छंस्तदुपभोगाय प्राणिसर्गं करोति। उपभोगः कर्मफलस्य शरीरादिकृतः, कस्यचित्तु अशुभस्य कर्मणः प्रायश्चित्ताद् प्रक्षयः। तत्रापि स्वल्पेन दुःखोपभोगेन दीर्घकालदुःखप्रदं कर्म क्षीयते, ५न तु फलमदत्त्वा कर्मक्षयः। येषामपि मतं सम्यग्ज्ञानाद् विपर्यासनिवृत्तौ तज्जन्यक्लेशक्षये कर्माशयानां सद्भावेऽपि सहकार्यभावाच्च शरीराद्याक्षेपकता, तत्रापि कुशलं कर्म समाधि वाऽन्तरेण न तत्त्वज्ञानोत्पत्तिः, तयोस्तु संचये प्रवृत्तस्य यम—नियमानुष्ठानेऽनेकविधदुःखोत्पत्तिः, अतः कथं केवलसुखिरूपः प्राणिसर्गः? नारक—तिर्यगादिसर्गोऽपि अकृतप्रायश्चित्तानां तत्रत्यदुःखानुभवे पुनर्विशिष्टस्थानावाप्तावभ्युदयहेतुरिति सिद्धं दुःखिप्राणिसृष्टावपि १०करुणया प्रवर्तनम्। तन्नासर्वज्ञत्वं विशेषः।

नापि कृत्रिमज्ञानसंबन्धित्वम्, तज्ज्ञानस्य प्रत्यर्थनियमाभावात्। यद् ज्ञानमनित्यं तत् शरीरादिसापेक्षं प्रत्यर्थनियतम् तज्ज्ञानस्य तु शरीराद्यभावे कुतः प्रत्यर्थनियतता? भवतु तज्ज्ञानं प्रतिनियतविषयम् न तस्य प्रतिनियतविषयत्वेऽस्माकं पक्षक्षतिः। कथं न क्षतिः? तस्य तथाविधत्वे युगपत् स्थावराद्यनुत्पादप्रसङ्गः, तदनुत्पादे च कर्त्रसिद्धिः, तद१५सिद्धौ कस्य कृत्रिमज्ञानसंबन्धिताविशेषः? अथ युगपत्कार्यान्यथानुपपत्त्या प्रत्यर्थनियताऽनेका बुद्धिरीश्वरे प्रतिपद्येत तत्रापि सन्तानेन वा तथाभूता बुद्धयः, युगपद्वा भवेयुः? प्राच्ये विकल्पे पुनरपि युगपत्कार्यानुत्पादप्रसङ्गः। युगपदुत्पत्तौ वा बुद्धीनां शरीरादियोगस्तत्र वाच्यः, स च पूर्वं प्रतिक्षिप्तः। अथ कार्यस्य बहुत्व-महत्त्वाभ्यां बहवो बुद्धिमन्तः कर्त्तारो भवन्तु, न त्वेकः सर्वज्ञः सर्वशक्तियुक्तः नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे ईश्वरानेकत्वप्रसङ्गः, २०भवतु, को दोषः? व्याहतकामानां स्वतन्त्राणामेकस्मिन्नर्थेऽप्रवृत्तिः। अथ तन्मध्येऽन्येषामेकायत्तता तदा स एवेश्वरः, अन्ये पुनस्तदधीना अनीश्वराः। अथ स्थपत्यादीनां महाप्रासादादिकरणे यथैकमत्यं तद्वदत्रापि, नैतदेवम्, तत्र कस्यचिदभिप्रायेण नियमितानामैकमत्यम्, न त्वत्र बहूनां नियामकः कश्चिदस्ति। सद्भावे वा स एवेश्वरः। एवं यस्य यस्य विशेषस्य साधनाय वा निराकृतये वा प्रमाणमुच्यते तस्य तस्य पूर्वोक्तेन न्यायेन निराकरणं कर्त्तव्यम्। तत्र २५विशेषविरुद्धता ईश्वरसाधकस्य।

प्रसङ्ग-विपर्यययोरप्यनुपपत्तिः। प्रसङ्गस्य व्याप्त्यभावात्, तन्मूलत्वात् तद्विपर्ययस्य; तयोश्चविधातकत्वम्। यच्च नित्यत्वादकर्तृकत्वमुच्यते वादिभिस्तदपि क्षणभङ्गभङ्गे प्रतिक्षिप्तम्। यदपि व्यापारं विना न कर्तृत्वं तदपि ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्याङ्गीकरणान्निराकृतम्।

वार्तिककारेणापरं प्रमाणद्वयमुपन्यस्तं तत्सिद्धये—

३०"महाभूतादिव्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुख-दुःखनिमित्तम्, रूपादिमत्त्वात्, तुर्यादिवत्। तथा, पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्तन्ते, अनित्यत्वात्, वास्यादिवत्" [न्यायवा० पृ० ४६७] इति।

अविद्धकर्णस्तु तत्सिद्धये इदं प्रमाणद्वयमाह—

"द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमत्यधिकरणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, स्वारम्भकावयवसन्निवे३५शविशिष्टत्वात्, घटादिवत्; वैधर्म्येण परमाणवः" [ ] इति। तत्र द्वाभ्यां दर्शन-स्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्यं महत्त्व-नेकद्रव्यवत्त्व-रूपाद्युपलब्धिकारणोपेतं पृथिव्युदकतेजोलक्षणं त्रिविधं द्रव्यं द्वीन्द्रियग्राह्यम्। अग्राह्यं वाय्वादि, यस्माद् महत्त्वमनेकद्रव्यवत्त्वं रूपसमवायादिश्चोपलब्धिकारणनिष्पत्ते, तच्च वाय्वादौ नास्ति। यथोक्तम्—

"महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशेषिकद० अ० ४-१-६]

४०"रूपसंस्काराभावाद् वायावनुपलब्धिः" [वैशेषिकद० अ० ४-१-७] रूपसंस्कारो रूपसमवायः, द्व्यणुकादीनां त्वनुपलब्धिर्महत्त्वाभावादिति। अन्ये तु "वायोरपि स्पर्शनेन्द्रिय-

---

१ पृ० ९८ पं० ९। २-प्रायश्चित्तस्य आ०। ३-समर्थ्य ब्र-आ०, गु०, भा०। ४ अत्र दर्शन-स्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्यं महत्त्वं ... (पृ० ४१ पं० १०-१४) [illegible]। ५-प्रायश्चित्त-भा०।

प्रत्यक्षमाहात्म्यम्" इच्छन्ति । द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यत्वापेक्षया तु रूपसमवायाभावादनुपलब्धिरित्युक्तम् ।
तत्र सामान्येन द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधने सिद्धसाध्यतादोषः, घटादिषु
उभयसिद्धेर्विवादाभावात् । अभ्युपेतबाधा च, अथवाकाशादीनां तथाऽनभ्युपगमात्, तेषां च
नित्यत्वात् प्रत्यक्षादिबाधा । अतस्तदर्थं विमत्यधिकरणभावापन्नग्रहणम् । विविधा मतिर्विमति- ५
र्विप्रतिपत्तिरिति यावत्, तस्या अधिकरणभावापन्नं विवादास्पदीभूतमित्यर्थः । एवं च सति
शरीरेन्द्रियभुवनादय एवात्र पक्षीकृता इति नाप्यादिप्रसङ्गः । कारणमात्रपूर्वकत्वेऽपि साध्ये
सिद्धसाध्यता मा भूदिति बुद्धिमत्कारणग्रहणम् । सांख्यं प्रति मतुबर्थानुपपत्तेर्न सिद्धसाध्यता
अव्यतिरिक्ता हि बुद्धिः प्रधानात् सांख्यैरुच्यते, न च तेनैव तदेव तद्वद् भवति । स्वार-
म्भकाणामवयवानां सन्निवेशः-प्रचयात्मकः संयोगः-तेन विशिष्टं व्यवच्छिन्नं तद्भावस्तस्मात् ।
अवयवसन्निवेशविशिष्टत्वं गोत्वादिभिर्व्यभिचारीत्यतः स्वारम्भकग्रहणम् । गोत्वादीनि तु स्वार- १०
म्भकावयवसन्निवेशेन विशिष्यन्ते न तु स्वारम्भकावयवसन्निवेशेनेति । तेन योऽसौ बुद्धिमान् स
ईश्वर इत्येकम् । द्वितीयं तु तनु-भुवन-करणोपादानानि चेतनाचेतनानि[2] चेतनाधिष्ठितानि स्वका-
र्यमारभन्त इति प्रतिजानीमहे, रूपादिमत्त्वात्, यद् यद् रूपादिमत् तत् तत् चेतनाधिष्ठितं स्वका-
र्यमारभते, यथा तन्त्वादि, रूपादिमच्च तनु-भुवन-करणादिकारणम्, तस्माच्चेतनाधिष्ठितं स्वका- १५
र्यमारभते । योऽसौ चेतनस्तनु-भुवन-करणोपादानादेरधिष्ठाता स भगवानीश्वर इति ।

उद्योतकरस्तु प्रमाणयति—

"भुवनहेतवः प्रधान-परमाणु-अदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयबुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते, स्थित्वा
प्रवृत्तेः, तन्तु-तुर्यादिवत्" [न्यायवा० पृ० ४५७] इति ।

प्रशस्तमतिस्त्वाह—

"सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः, उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात्, अप्र- २०
सिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वकः"
[ ] इति । प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वादिति प्रबुद्धानां सतां प्रत्यर्थं नियतत्वादित्यर्थः ।
उपदेशपूर्वकश्च स सर्गादौ व्यवहारः स ईश्वरः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानातिशय इति सिद्धम् ।
तथाऽपरमपि उद्योतकरेण तत्सिद्धये साधनमुपन्यस्तम्—
"बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिकं व्यक्तं सुख-दुःखनिमित्तं भवति, अचेतनत्वात्, कार्य- २५
त्वात्, विनाशित्वात्, रूपादिमत्त्वात्, वास्यादिवत्" [न्यायवा० पृ० ४६०] इति ।

अथ भवत्वसावीश्वरः सर्वजगदुत्पत्तिसिद्धिः, सर्वज्ञत्वं तु कथं तस्य सिद्धम्,
येनासौ निःश्रेयसाभ्युदयकामानां भक्तिविषयतां यायात् ? जगत्कर्तृत्वसिद्धेरेवेति ब्रूमः । तथा चाहुः
प्रशस्तमतिप्रभृतयः—

"कर्तुः कार्योपादानो-पकरण-प्रयोजन-संप्रदानपरिज्ञानात्" [ ] इह हि यो यस्य कर्ता ३०
भवति स तस्योपादानादीनि जानीते, यथा कुलालः कुण्डादीनां कर्ता, तदुपादानं मृत्पिण्डम्, उप-
करणानि चक्रादीनि, प्रयोजनमुदकाहरणादि, कुटुम्बिनं च संप्रदानं जानीत इत्येतत् सिद्धम्, तथे-
श्वरः सकलभुवनानां कर्ता, स तदुपादानानि परमाण्वादिलक्षणानि, तदुपकरणानि धर्म-दिक्-[4]
कालादीनि, व्यवहारोपकरणानि सामान्य-विशेष-समवायलक्षणानि, प्रयोजनमुपभोगम्, संप्रदान-
संज्ञकांश्च पुरुषान् जानीत इति; अतः सिद्धमस्य सर्वज्ञत्वमिति । अत एव माध्वम्, प्रेरणीयम्— ३५
सर्वज्ञपूर्वकत्वे शिलादीनां साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, हेतुश्च विरुद्धः, असर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वेन
कुम्भादेः कार्यस्य व्याप्तिदर्शनात्, विशिष्टकर्तृपूर्वकत्वे साध्येऽभ्युपेतबाधा, कारणमात्रपूर्वकत्वे साध्ये
धर्मिणा सिद्धसाधनमिति, यतः सामान्येन स्वकार्योपादानो-पकरण-संप्रदानाभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वं
साध्यते तत्र चास्त्येव घटादिदृष्टान्तः । तत्र कुलालो-पकरणाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वं सकललोक-

१ पृ० १०० पं० १४ । २ चेतनानि चे-कां०, भा०, मु०, डा० । वि० प्रतौ तु 'चेतनाचेतनानि' इति पा-
ठान्तरं लिख्यते । प्रमेयकमलमार्तण्डे तु अत्र स्थले "तनु-करण-भुवनोपादानानि चेतनावदधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते"—प्र-
७५ प्रथ० पं० ४ । ३-तु च प्रत्य-भां०, का०, भा०, मो० लिखि । ४ धर्माऽधर्म-दिक्-मु० । ५-दर्शने-
भां०, मु० ।

प्रसिद्धं कथमन्यथाकर्तुं शक्यते अपह्नोतुं वा? न तु कर्मणा सिद्धसाध्यता, तस्य सकलजगदुत्पत्त्यकार्योपादानाद्यनभिज्ञत्वात्, तदभिज्ञत्वे वा तस्यैव भगवतः 'कर्म' इति नामान्तरं कृतं स्यात्। शेषं त्वत्र चिन्तितमेव। तदेवं सकलदोषरहितादुक्तहेतुकलापाद् ज्ञानाद्यतिशयवद्गुणयुक्तस्य सिद्धेः तस्य च शासनप्रणेतृत्वं नान्येषां योगिनामिति 'भवजिनानां शासनम्' इति अयुक्तमुक्तमिति स्थितम् ५इति पूर्वपक्षः॥

[उत्तरपक्षः—जगतः ईश्वरकृतत्वनिराकरणम्]

अत्र प्रतिविधीयते–यत् तावदुक्तम्–'सामान्यतोदृष्टानुमानस्य तत्र व्यापाराभ्युपगमात् प्रत्यक्षपूर्वकानुमाननिषेधे सिद्धसाधनम्' इति, तदसङ्गतम्, सामान्यतोदृष्टानुमानस्यापि तत्साधकत्वेनाप्रवृत्तेः। तथाहि–तनु-भुवन-करणादिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, घटादिवत् १०इत्यत्र धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धस्तावत् कार्यत्वलक्षणो हेतुः।

[तथाहि–अवयविरूपं तावत् तन्वादि अवभासमानतनु न युक्तम्, देशादिभिन्नस्य तस्यारे स्थूलस्यैकस्यानुपपत्तेः। न ह्यनेकदेशादिगतमेकं भवितुं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदलक्षणत्वात्, देशादिभेदस्य च विरुद्धधर्मरूपत्वात्। तथाप्यभेदे सर्वत्र भिन्नत्वेनाभ्युपगते घट-पटादावपि भेदोपरतिप्रसङ्गात्, नहि भिन्नत्वेनाभ्युपगते तत्राप्यन्यद् भेदनिबन्धनमुत्पश्यामः। प्रतिभासभेदात् १५तत्र भेद इति चेत्, न, विरुद्धधर्माध्यासं भेदकमन्तरेण प्रतिभासस्यापि भेदानुपपत्तेः।

अथ 'अवयवी एको न भवति, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्' इत्येतत् किं स्वतन्त्रसाधनम्, उत प्रसङ्गसाधनमिति? न तावत् स्वतन्त्रसाधनं युक्तम्, अवयविनः प्रमाणासिद्धत्वेन हेतोराश्रयासिद्धत्वदोषात्, प्रमाणसिद्धत्वे वा तत्प्रतिपादकप्रमाणबाधितपक्षनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन तस्य कालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टत्वात्। न च परस्यावयवी सिद्ध इति नाश्रयासिद्धत्वदोष इति वक्तुं २०युक्तम्, यतः परस्य किं प्रमाणतोऽवयवी सिद्ध उताप्रमाणतः? प्रमाणतश्चेत् नहि भवतोऽपि किं न सिद्धः प्रमाणसिद्धस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्? तथा च तदेव कालात्ययापदिष्टत्वं हेतोः। अथाऽप्रमाणतस्तस्य न परस्यापि सिद्ध इति पुनराश्रयासिद्धत्वम्। [illegible] नाऽपि द्वितीयः, यतः [illegible] न च [illegible] भेद-विरुद्धधर्म[illegible] २५[illegible]

[illegible]

१०[illegible]

२१[illegible]

[illegible]

[illegible]

"महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशेषिकसू० अ० ४-१-६] वचनात्। तत् सिद्धमनुपलब्धेः 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इति विशेषणम्। न च महतो-वृत्तिव्यतिरिक्तपृथुबुद्धिग्राह्याकारतो विभागलक्षणादिविशेषात्मा दर्शने चकास्तीत्युपलब्धिरपि स्ति। न च समानदेशत्वादवयविनोऽवयवेभ्यः पृथगनुपलक्षणमिति वक्तुं शक्यम्, समानदेशत्वादिति विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-समानदेशत्वमवयवावयविनोः किं पारिभाषिकम्, लौकिकं वा? यदि पारिभाषिकम्, तन्न युक्तम्, परिभाषाया अत्रानधिकारात्। न च तत् तत्र भवदभिप्रायेण सिद्धम्। तथाहि-अन्य एव पाण्यादय आरम्भका देशास्तदन्यावयविनो भवद्भिः परिभाष्यन्ते, अन्ये च पाण्यादीनां तदवयवानामारम्भका देशाः, आरभ्यारम्भकभावनिषेधात्। तत्र पारिभाषिकं समानदेशत्वम्। नापि लौकिकम्, आकाशस्य लोकप्रसिद्धस्य समानदेशस्याभावात् प्रति असिद्धत्वात्। प्रकाशादिरूपस्य वै देशस्य तदितरस्य समानत्वेऽपि भिन्नानां वाताऽऽतपादीनां भेदेनोपलब्धेः। तथाहि-समानदेशा अपि भावा वाताऽऽतपादयो भिन्नतया पृथक् प्रथन्ते। एवमवयविनिर्भासः। तथाऽवयवी तन्त्वादिभिर्भिन्नोऽस्ति।

अथ मन्दमन्दप्रकाशे अवयवप्रतिभासमन्तरेणाप्यवयविनि प्रतिभास उपलभ्यते तत् कथं प्रतिभासाभावात् तस्याभावः? असदेतत्। नहि तथाभूतोऽस्पष्टप्रतिभासोऽवयविस्वरूपद्वयस्थापको युक्तः, तत्प्रतिभासस्यास्पष्टरूपस्य स्पष्टज्ञानावभासितास्वरूपेण विरोधात्। अथ स्वरूपद्वयमेतदवयविनः-स्पष्टम् अस्पष्टं च। तत्रास्पष्टं मन्दालोकज्ञानविषयः, स्पष्टं तु सालोकज्ञानभूमिः। नन्वेतत् स्वरूपद्वयं केनावयविनो गृह्यते? न तावत् मन्दालोकज्ञानेन, तत्र सालोकज्ञानविषयस्वरूपानवभासनात्। अस्पष्टतत्स्वरूपप्रतिभासं हि तदनुभूयते। नापि सालोकज्ञानेन स्पष्टतदवभासिना, तत्र मन्दालोकज्ञानावभासितस्वरूपानवभासनात्। नहि परिस्फुटप्रतिभासेऽविशदरूपाकारोऽप्यवयव्यर्थः प्रतिभाति तत् कथमसावयविनः स्वरूपम्? अथ 'मन्दालोके ... अवयविनः स्वरूपं परिस्फुटमिदानीं 'पश्यामि' इति तयोरेकता, ननु किमपरिस्फुटरूपतया परिस्फुटं रूपमवगम्यते, आहोस्वित् परिस्फुटतयाऽपरिस्फुटम्? तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदाऽपरिस्फुटसंबन्धित्वमेवावयविनः प्राप्नोति, परिस्फुटस्य रूपस्यास्फुटरूपताऽनुभवेन प्रतिभासनात्। द्वितीयः पक्षः, तथासति स्पष्टस्वरूपसंबन्धित्वमेवेयं, अस्पष्टस्य विशदस्वरूपानुप्रविष्टत्वेन प्रतिभासनात्। तत्र स्वरूपद्वयाभावोऽवयविनः। एकत्वप्रतिभासनं तु प्रतिभासरहितमभिमानमात्रं स्पष्टास्पष्टरूपयोः। अन्यथा सालोकज्ञानवत् मन्दालोकज्ञानमपि परिस्फुटप्रतिभासं स्यात्। अथाऽऽलोकमात्रमपरत्र स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदः, मन्दालोकेनाप्यवयविस्वरूपमेवोद्भासनीयम्, तद्वद् अविकलं मन्दालोके प्रतिभाति कथं न तत्र तदवभासकृतः स्पष्टावभासः? अन्यथा विषयावभासव्यतिरेकेणापि ज्ञानप्रतिभासभेदे न ज्ञानावभासभेदो रूप-रसयोरपि भेदव्यवस्थापकः स्यात्। अथावयविस्वरूपमेकमेवोभयत्र प्रतीयते, स्पष्टाऽस्पष्टाकारौ तु ज्ञानस्यासामान्यानाविरुध्येते-तव्यमेतद्, यतो यदि ज्ञानाकारौ तौ कथमवयविरूपतया प्रतिभातः? तद्रूपतया च प्रतिभासनादवयव्याकारौ तावभ्युपगन्तव्यौ। नहि स्पष्टरूपताम् अस्पष्टरूपतां च मुक्त्वा अवयविस्वरूपमपरमाभाति। तत् तदवभासादभाव एव। स्पष्टाऽस्पष्टैकात्मनश्चावयविनो स्पष्टाऽस्पष्टाकारवद् भेदः। नहि प्रतिभासभेदेऽप्येकता, अतिप्रसङ्गात्। तत्र अस्पष्टप्रतिभासमन्धकारेऽवयविनो रूपमवयवाप्रतिभासेऽपि प्रतिभातीति वक्तुं युक्तम्, उक्तदोषप्रसङ्गात्।

किंच, किं कतिपयावयवप्रतिभासे सति अवयवी प्रतिभातीत्यभ्युपगम्यते, आहोस्वित् समस्तावयवप्रतिभासे? यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, जलमग्नमहाकायवत्तन्मात्रेणेतरकतिपयावयवप्रतिभासेऽपि समस्तावयवव्यापिनः स्तम्भाद्यवयविनोऽप्रतिभासनात्। अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽपि न युक्तः, मध्य-परभागवर्तिसमस्तावयवप्रतिभासासंभवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसङ्गात्। अथ भूयोऽवयवग्रहणे सति अवयवी गृह्यत इत्यभ्युपगमः, सोऽपि न युक्तः, यतोऽर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाग्रहणान्न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो ग्रहीतुं शक्या, व्याप्य-व्यापकत्वस्यापि ग्रहीतुमशक्तेः, ग्रहणे वाऽतिप्रसङ्गः। तथाहि—यद् येन रूपेण अक्रम-

१ वा स्त्री०। २-भासितमस्य-आ०।

तत् तेनैव रूपेण सदिति व्यवहारविषयः—यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनै तद्विषयः, अर्वाग्भागमाव्यवयवसंबन्धितया चाऽवयवी प्रतिभातीति स्वभावहेतुः। न च भाविव्यवहितावयवाऽप्रतिभासनेऽप्यव्यवहितोऽवयवी प्रतिभातीति वक्तुं शक्यम्, तद्गतत्वेनाप्रतिभासनात्। यस्मिंश्च प्रतिभासमाने यद् रूपं न प्रतिभाति, तन् ततो ५घटे प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमानं पटस्वरूपम्। न प्रतिभाति च विस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसंबन्ध्यवयविस्वरूपम् इति कथं न तद् तथाऽप्यभेदेऽतिप्रसङ्गः प्रतिपादितः। नापि परभागभाव्यवयवाऽवयविग्राहिणा ग्भागभाव्यवयवसंबन्धित्वं तस्य गृह्यते, तत्र तदवयवानां प्रतिभासात् प्रतिभासेत नार्वाग्भागभाव्यवयवसंबन्धि; तेषां तत्राप्रतिभासनात्। तदप्रतिभासने च १०न्धिरूपस्याप्यप्रतिभासनात्, व्याप्त्याप्रतिपत्तौ तद्व्यापकत्वस्याप्यप्रतिपत्तेः। नापि स्मरणेन परभागभाव्यवयवसंबन्ध्यवयविस्वरूपग्रहः, प्रत्यक्षानुसारेण स्मरणस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः तद्ग्राहकत्वनिषेधात्। नाप्यात्मा अर्वाक्-परभागावयवव्यापित्वमवयविनो ग्रहीतुं मात्रेण तस्य तद्ग्राहकत्वानुपपत्तेः; अन्यथा स्वाप-मद-मूर्च्छाद्यवस्थास्वपि किन्तु दर्शनसहायः, तच्च दर्शनं न अवयविनोऽवयवव्याप्तिग्राहकं प्रत्यक्षादिकं संभवतीति १५दितम्। अथार्वाग्भागदर्शने सत्युत्तरकाले परभागदर्शनेऽनन्तरस्मरणसहकारीन्द्रियज एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानमध्यक्षमवयविनः पूर्वापरावयवव्याप्तिग्राहकम्, तदयुक्तम्। ज्ञानस्यैतद्विषयस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अक्षानुसारि हि प्रत्यक्षम्, न वयवग्रहणे व्यापारः संभवति, व्यवहिते तेषां व्यापारासंभवात्, संभवे पृष्ठादौ व्यापारः स्यात्। तत्र तदनुसारिणोऽध्यक्षरूपस्य प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य तत्र व्यापारः २०स्मरणसहायस्याप्यिन्द्रियस्याविषये व्यापारः संभवति, यद् यस्याऽविषयः न तत् तत्र मपि प्रवर्तते—यथा परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धादौ, अविषयश्च व्यवहितोऽर्वा भागभाव्यवयवसंबन्धित्वलक्षणोऽवयविनः स्वभाव इति नाक्षजस्य ग्राहकत्वम्। न च 'स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'सः' इति स्मृतेः रूपम्, 'अयम्' इति स्वरूपम्। तत् परोक्षाऽपरोक्षाकारत्वाद् नैकस्वभावावेतौ प्रत्ययौ। अथ 'स एवायम्' २५करणतया एतौ प्रतिभात इति एकं प्रत्यभिज्ञाज्ञानम्, न, आकारभेदे सति सामानाधिकरण्याध्यवसायेऽप्येकत्वानुपपत्तेः। अन्यथाप्याकारभेद एव भेदः, स चात्रापि इति कथमेकत्वम्? किञ्च, 'सः' इत्याकारः 'अयम्' इत्याकारानुप्रवेशेन प्रतिभाति, अननुप्रवेशेनेति? यदि अनुप्रवेशेन, 'स' इत्याकारस्य 'अयम्' इत्याकारे अनुप्रविष्टत्वात् 'अयम्' इत्याकार एव केवलः प्राप्त इति कुतः 'सोऽयम्' इत्येका प्रत्यभिज्ञा? अथ 'अयम्' ३०'सः' इत्येतस्मिन्ननुप्रविष्टस्तदा 'सः' इत्येव प्राप्तो न 'अयम्' इत्यपि इति कथमेका प्रत्य अथ 'स एव' 'अयम्' इत्याकारौ परस्परानुप्रविष्टौ प्रतिभातस्तथापि भिन्नाकारौ भिन्नविषयं प्रत्ययाविति कथमेकार्था एका प्रत्यभिज्ञा प्रतिभासभेदस्य विषयभेदव्यवस्थापकत्वात्? न च भासभेदेऽपि विषयाभेदः, प्रतिभासाभेदव्यतिरेकेण विषयाभेदव्यवस्थायां प्रमाणं विना पामः स्यात्, तथा च सर्वं सर्वेण तिष्ठेत्। तत्र प्रत्यभिज्ञानोऽप्यवयव्येकत्वग्रहः। अनुमा ३५अवयविस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षनिषेधे तत्पूर्वकस्य निषेधः कृत एव। सामान्यतोदृष्टस्य षेधप्रस्तावे निषेधो विधास्यत इत्यास्तां तावत्।

अथ 'एको घटः' इति द्रव्यप्रतीतिरस्ति तदवयवव्यतिरेकिणी तत् कथमभावोऽवयविन वसायेऽपि तदवयवाध्यवसायः नानोऽन्यथाध्यवसीयते नावयवि द्रव्यम्, दृश्यस्य तद्रूपस्य केनचिदप्यननुभवात्। वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं वावयविस्वरूपमध्यक्षेऽपि ४०तेन केनचित् कल्पनाज्ञानेऽपि तत् प्रतिभाति, न चान्याकारः प्रतिभासोऽन्याकारस्य व्यवस्थापकः, अन्यथा नीलप्रतिभासः पीतस्य व्यवस्थापकः स्यादिति न यत्नुव्यवस्था

१ -स्मर्तुमित-वा०, मु०। २ पृ० १०१ पं० ७। ३ पृ० १०१ पं० ७। ४-सारि हि त -ऽवै०, मु०, ए०। ५-व्रम् आत्मा-भा०, म० हिम।

[illegible] दित्यमेकरूपव्यवहारो मिथ्यार्थः । न [illegible] इत्यत्रापि व्यवहारामेदादेकता- [illegible] बाध्यते, तदापि तर्हि बहीरूप- तेर्द्धोऽधो-मध्यादिनिर्भासस्य भेदादेकता तन्त्वादीनां प्रतिहन्तु । तथावयविरूपो बाह्योऽर्थोऽस्ति ।

अथावयविनोऽभावे तदवयवानामपि पाण्यादीनां दिग्भेदादिविरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः, तद- ५ वयवानामप्यङ्गुल्यादीनां तत एव भेदात् यावद् भेदो यावत् परमाणवः, तेषां च स्थूलप्रतिभास- त्ययत्वानुपपत्तिः । स्थूलश्चायं घटादिर्नीलादिरूपः प्रतिभासः स्फुटमुज्जाति । न च स्थूलरूपं प्रत्येकं परमाणुषु संभवति, तथात्वे परमाणुत्वायोगात् । नापि समुदितेषु स्थूलरूपसंभवः, समुदितावस्था- यामप्यणूनां स्वरूपेण सूक्ष्मत्वात् । न च तद्व्यतिरिक्तः समुदायोऽस्ति, तथात्वे द्रव्यत्वप्रस- ङ्गात्, तत्र चोक्तो दोषः । तच्च स्थूलता परमाणुषु कथञ्चिदपि संभवति । न चान्यादृग् निर्भासोऽ- १० न्यादृगस्यार्थस्य प्रकाशकः, नीलदर्शनस्यापि पीतग्राहकत्वापत्तेः तथा च नियतविषयव्यव- स्थोच्छेदः । किञ्च, परमाणोरपि नानादिक्संबन्धादेकता नोपपद्यते । तथा चाह-

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता" [ ] इति ।

षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः ।

तेषामंशानामपि नानादिक्संबन्धात् षडंशताऽऽपत्तिः, तथा चानवस्था । तस्मात्र परमाणूनामपि स्तित्वम् इत्यवयव्यग्रहणे सर्वाग्रहणप्रसङ्ग इति प्रतिभासाभावापादनेन प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः । १५ असंदेहम् ।

अथावयव्यभावेऽपि निरन्तरोत्पन्नानां घटाद्याकारेण परमाणूनां सद्भावात् तद्ग्राहकाणामपि ज्ञानपरमाणूनां तथोत्पन्नानां तद्ग्राहकत्वाद् न बहिरर्थाभावः, नापि तत्प्रतिभासाभाव इति कथं प्रसङ्गसाधनस्य नावकाशः स्थूलैकरूपावयव्यभावेऽपि? यदि चावयविनोऽभावे परमाणूनामप्य- भावप्रसक्तेः प्रतिभासाभावेन प्रसङ्गसाधनावकाशः प्रतिपाद्यते तदा पुनरयं परमाणुरूपस्य २० ज्ञानरूपस्य चार्थस्याभावे कार्यत्वादिलक्षणस्य हेतोराश्रयासिद्धतादोषः ।

प्रागर्थनयेन चास्माभिराश्रयासिद्धतादोषात् कार्यत्वलक्षणाद्धेतोरीश्वरसिद्धिरिति प्रतिपाद- येमुमभिप्रेत्य, यदि पुनर्विज्ञान-शून्यवादानुकूलं मतमभ्युपगम्यते तदा साध्य-दृष्टान्तधर्मि- साध्य-साधनधर्मादीनामनुमित्यङ्गभूतानां सर्वेषामप्रसिद्धेः कुत उपन्यस्तप्रयोगादीश्वरसिद्धिः? एवं तन्वादिलक्षणस्य कार्यस्यादृष्टेराश्रयस्यावयविनोऽसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुः ।) २५

(तथा, 'बुद्धिमत्कारणम्' इति साध्यनिर्देशे 'बुद्धिमत्' इति मतुबर्थस्य सम्बन्धविशेषस्य- स्यानुपपत्तिः, तज्ज्ञानस्य ततो व्यतिरेके अकार्यत्वे च 'तस्य' इति संबन्धानुपपत्तेः । तद्गुणत्वात् तत् तस्येति चेत्, न, शब्दादेर्व्यतिरेके च 'तदेव तद्गुणो नाकाशादेः' इति व्यवस्थानुपपत्तेः । समवायो व्यवस्थाकारीति चेत्, न, तस्यापि सर्वत्राविशेषात् स एव दोषः-व्यतिरेके समवायस्यापि सर्वत्राविशेषात् ततोऽपि तदवस्था । अथेश्वरात्मकार्यत्वाद् ईश्वरात्मगुणत्वं ज्ञाना- ३० नम्, कुत एतत्? तस्मिन् सति भावादिति चेत्, आकाशादावपि सति तस्य भावात् तत्कार्यत्वं किं न स्यात्? अथ तदभावेऽभावात् तत्कार्यत्वम्, तच्च नित्य-व्यापि'शब्दाभ्यां तस्य तदयोगात् । तद्गुणत्व- प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तत्र दर्शनात् तत्कार्यत्वमिति, किमिदं तस्य तत्रोत्पत्तिनाम? तत्र समवेतत्वं तदिति चेत्, ननु तदेव पूर्वं किमिदं समवेतत्वं नाम? तत्र समवायेन वर्तनमिति चेत्, ननु किं स्वात्मनः समवायेन तत्र वर्तनम्, आहोस्विद्व्यवस्थया? यदि स्वात्मा तदाऽऽकाशादिष्वपि तस्य सर्वदा तदा तद्वा- ३५ काशादावपि वर्तने तथाऽनुपपत्तिष्वपि घटे घटत्वसंबन्धादिषु षष्ठ्यां कर्म-कर्तृ-करणविशेषैः कार्यमनुपलभ्यमपि येनकर्तृकत्वमपि भविष्यतीति कार्यत्वलक्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे साध्ये व्यभिचारीति प्रतिबन्धाभावो मूलक्षतिरायातेति । अथ अन्यादृशं तत् तत्र दृश्यते तदा देशान्तरवर्तिनस्तु तन्त्वादिषु तन्त्वाद्यवयवेऽपि यथा स्थानान्तरादुद्धारानन्तरादि- देशोपलक्षितत्वेऽपि ऊर्ध्वज्वलनादिविशेषो व्यापारो भविष्यतीति ।

"अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्" [वैशेषिक- सू० अ० ५-२-१३]

भवदभ्युपगमेन। अथ आत्मत्वाविशेषेऽपि तदात्मा अस्मदाद्यात्मभ्यो विशिष्टोऽभ्युपगम्यते तर्हि कार्यत्वाविशेषेऽपि घटादिकार्येभ्यः स्थावरादिकार्यमकर्तृकत्वेन विशिष्टं किं नाभ्युपगम्यते? तथा च न कार्यत्वादिलक्षणो हेतुरनुपलभ्यमानकर्तृकैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारी स्यात्। अथ तद्बुद्धौ तदात्मनोऽनुप्रवेशात्तद्‍बुद्धिमात्रमाधारशून्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। तथा चास्मदादिबुद्धे-
५रपि तद्वदाधारविकलत्वेन मनुवर्त्यासम्भवात् घटादावपि बुद्धिमत्कारणत्वस्यासिद्धत्वात् साध्यविकलो दृष्टान्तः। अथ अस्मदादिबुद्धिभ्यो बुद्धित्वे समानेऽपि तद्बुद्धेरेवानाश्रितत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटादिकार्येभ्य पृथिव्यादिकार्यस्य कार्यत्वे समानेऽपि अकर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपगन्तव्य इति पुनरपि कार्यत्वलक्षणो हेतुस्तैरेव व्यभिचारी।

किंच, असौ तद्बुद्धिः क्षणिका, अक्षणिका वा इति वक्तव्यम्। यदि क्षणिकेति पक्षः,
१०तदाऽऽत्मानं समवायिकारणम्, आत्म-मनःसंयोगं चाऽसमवायिकारणम्, तच्छरीरादिकं च निमित्तकारणमन्तरेण कथं द्वितीयक्षणे तस्या उत्पत्तिः? तदनुत्पत्तौ च अचेतनस्याप्य[illegible] धिष्ठितस्य कथं भूधरादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः पाष्या[illegible]दिवाचेतनस्य [illegible] पगमात्? ततश्चेदानीं भूरुहादीनामनुत्पत्तिप्र[illegible] कार्यशून्यं जगत् स्यात्। अथ कारणमन्तरेणापि तद्बुद्धेरस्मदादिबुद्धिवैलक्ष[illegible]त्तिरभ्युपगम्यते; तन्वेवं [illegible]
१५भूधरादिकार्यस्य किं नाभ्युपगम्यते इति [illegible] किंच, यदीशबुद्धिः [illegible] निरपेक्षैवोत्पत्तिमासादयति तर्हि [illegible] [illegible] स्पत्स्यते इति न बुद्धि सुखादिविकल [illegible] [illegible]किः स्यात्।

अथ अक्षणिका तद्बुद्धिः [illegible] [illegible]द्रव्यक्षणिका किं [illegible] प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधान्नास्मदादि[illegible] [illegible]विरोधादेव [illegible]
२०[illegible]

[illegible] इत्येतत्।

स्मदादिबुद्धपक्षणिकत्वाभ्युपगमबाधकस्य [illegible] पगमबाधकस्य तस्य संभवः [illegible]
२५बुद्धिक्षणिकत्वानुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वं तथा [illegible] इत्येतदप्यास्तां तावत्। यथा [illegible] कत्वलक्षणो विशेषस्त[illegible] म्यते? इति पुनरपि [illegible] बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वलक्ष[illegible]
३०[illegible] तद्धर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्य [illegible] अनुमानबाधितत्वं वा [illegible]

तथा, 'कार्यत्वात्' इति [illegible] स्वकारणसमवायः [illegible]
३५[illegible]समवायसत्ता प्रागिव [illegible] [illegible]विशेषणमुपादीयमानमनर्थकं [illegible] [illegible] स्वरूपेण सत् भवति [illegible] विशेषणमुपादीयते 'प्रागसतः' [illegible] [illegible] 'सत्' इति विशेषणं न [illegible]

४० [illegible] कारणसमवायोऽपि [illegible] [illegible] इति चेत्, कुत एतत्? [illegible] न [illegible]इति?

[illegible]

कार्य-कारणयोरुपलम्भे सति एतत् स्यात् 'इदमस्य कारणम् कार्यं चेदमस्य' इति । न च परस्य तदुपलम्भः प्रत्यक्षतः, उपलम्भकारणमुपलम्भविषय इति नैयायिकानां मतम्—"अर्थवत् प्रमाणम्" [न्यायभा० भा० पृ० १, पं० २] इत्यत्र भाष्ये "प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरमव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसायात्मकज्ञाने कर्तव्येऽर्थः सहकारी विद्यते यस्य तद् अर्थवत् प्रमाणम्" [ ] इति व्याख्यानात् । न चाजनकं सहकारि, 'सह करोतीति सहकारि' इति व्युत्पत्तेः । न चासत् शशविषाणसमं ज्ञानस्यान्यस्य वा कारणम्, विरोधात् । अपि च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पत्तिमत्, कार्य-कारणादिना च इन्द्रियसन्निकर्षः संयोगः, सोऽपि कथं तेनासता जन्यते इति चिन्त्यम् । संयोगाभावे च रूपादिनेन्द्रियस्य संयुक्तसमवायः, रूपत्वादिना तु संयुक्तसमवेतसमवाय इति सर्वं दुर्घटम् । एतेन द्रव्यत्वादिसामान्यसंबन्धोऽपि तस्य निरूपितः । तत्र तन्त्वादिविषयमप्यध्यक्षम् । अत एव नानुमानमपि । तदेवं खरविषाणादिवत् कार्य-कारणादेरनुपलम्भान्न युक्तमेतत्—तन्त्वादेः कारणमस्ति, न शशशृङ्गादेरिति ।

यदि पुनस्तन्तु-कारणादिः सन् वन्ध्यासुतादिपरिहारेणेति मतिः, तत्र कुतः स एव सन्? कारणसमवायात्, सोऽपि कुतः? सत्त्वात्, अन्योऽन्यसंश्रयः—तत्समवायात् सत्त्वम् अतश्च तत्समवाय इति । प्रागसतः सत्तासमवायात् स एव सन्निति चेत्, कुतः प्राक्? सत्तासमवायात्, ननु तत्समवायकाले प्रागिव स्वरूपसत्त्वविरहे 'प्राग्' इति विशेषणमनर्थकमित्यादि सर्वं वक्तव्यम् । असतश्च सत्तासमवाये खरशृङ्गादेरपि संभवेत् अविशेषात् । 'प्राग्' इति च विशेषणं शशशृङ्गादिव्यवच्छेदार्थं परेणोक्तम्, सत्तासंबन्धसमये च तन्त्वादेः स्वरूपसत्त्वाभावे कुतस्तो विशेषः? अयमस्ति विशेषः—कूर्मरोमादिकमत्यन्तासत्, इतरत् पुनः स्वयं न सत् नाप्यसत्, अत एव सत्तासंबन्धात् 'तदेव सत्' इत्युच्यत इति, तदेतज्जडात्मनो भवतः कोऽन्यो भाषते । तथाहि—'न सत्' इतिवचनात् तस्य सत्तासंबन्धात् प्रागभाव उक्तः, प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणत्वादस्य । 'नाप्यसत्' इत्यभिधानाद् भावः, असत्त्वनिषेधरूपत्वाद् भावस्य तदात्मताभावात् । तथैव वैयाकरणानां न्यायः—"द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः" [ ] इति, कथमन्यथा 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इत्यत्र नैरात्म्यनिषेधः सात्मकः सिध्येत्?

अत्र केचित् ब्रुवते—"नेयं प्रयोगः क्रियतेऽपि तु 'सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इति । तैरन्येयं प्रयोगं कुर्वद्भिः सात्मकत्वाभावो नियमेन प्राणादिमत्त्वाभावेन व्याप्तोऽभ्युपगन्तव्यः—अन्यथा व्यभिचारशङ्का न निवर्तेत—तदभ्युपगमे चेदमवश्यं वक्तव्यम्—जीवच्छरीरे प्राणादिमत्त्वं प्रतीयमानं व्यापकाभावं(?) निवर्तयति, स च निवर्तमानः स्वव्याप्यं सात्मकत्वाभावमादाय निवर्तते, इतरथा तेनासौ व्याप्तो न स्यात् । यस्मिन्निवर्तमाने यन्न निवर्तते न तेन तद् व्याप्तम्, यथा निवर्तमानेऽपि प्रदीपे अनिवर्तमानः पटादिर्न तेन व्याप्तः, स निवर्तते च प्राणादिमत्त्वाभावे निवर्तमानेऽपि सात्मकत्वाभाव इति । निवर्तते इति चेत्, तन्निवृत्तावपि यदि सात्मकत्वं न सिध्यति न तर्हि तदभावो निवर्तते, सात्मकत्वाभावाभावेऽपि तदभावस्य तद्रूपत्वात् । सिध्यतीति चेत्, आयातमिदम्—"द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः" [ ] इति । तथा चेदमपि युक्तम्—'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इति ।

अन्ये तु मन्यन्ते—"अन्यत्र दृष्टो धर्मः क्वचिद्धर्मिणि विधीयते, निषिध्यते च" [ ] इति वचनात् केवलं घटादौ नैरात्म्यमप्राणादिमत्त्वेन व्याप्तं दृष्टम्, तदेव निषिध्यते जीवच्छरीरेऽप्राणादिमत्त्वाभावेन, न पुनः सात्मकत्वं विधीयते, तस्यान्यत्रादर्शनात्" इति । तेषां घटादौ नैरात्म्यं प्रतिपन्नं प्रतिषिध्यते इति भवतु युक्तम्, तथापि तन्निषेधसामर्थ्याद् यदि जीवच्छरीरे सात्मकत्वं न स्यात् न तर्हि तत्र तन्निषेधः—यतो हि नैरात्म्यनिषेधो न सात्मकः—किन्तु यथाऽप्रसक्तोऽभावो नैरात्म्यं तथाऽभावाभावोऽपि तुच्छरूपः आत्मनोऽप्यभावाद् भवदन्तरेण नैरात्म्यमेव, पुनस्तन्निषेधेऽप्यनवस्थानात्, पुनरपि तन्निषेधस्तुच्छरूपो नैरात्म्यनिषेधस्य निषेधो युक्तः, तथा च सति अनवस्थानान्न नैरात्म्यनिषेधः । किंच, यदि नाम घटादौ नैरात्म्यमुपलब्धं किमित्यन्यत्र निषिध्यते? इतरथा देवदत्ते पाण्डित्यमुपलब्धं यज्ञदत्तादौ निषिध्येत । तत्र प्राणादिमत्त्वदर्शनादिति चेत्, पुनरपि यदि प्राणादिमत्त्वं नैरात्म्यविरुद्धं स्याद् अग्निरिव शीतविरुद्धः, न चैवम्, अन्यथा सर्वमशेषविरुद्धं स्यात् । प्राणादिमत्त्वेन

---

१ पृ० १०८ पं० १० ।

स्वाभावो नैरात्म्यव्यापको विरुद्धः, ततः प्राणादिमत्त्वभावात् तदभावो निवर्त्तते, वह्निभावादिव शीतम्, स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं नैरात्म्यमादाय निवर्त्तते, यथा धूमाभावः पावकाभावमिति । दत्तमत्रोत्तरम्–यदि नैरात्म्याभावः सात्मको न भवेत् तदवश्यं नैरात्म्यमिति । भवतु तर्हि नैरात्म्यनिषेधः सात्मकः, तथा सति 'सत्तासंबन्धात् प्राक् तन्त्वादिनां (दि ना) सत्' इति वचनात् तदा
५तस्य सत्त्वमुक्तम्, 'न सत्' इत्यभिधानादसत्त्वमिति विरोध । ततोऽसदेव तदभ्युपगन्तव्यमिति न वन्ध्यासुतादेस्तन्तु–कारणादेर्विशेषः । भवत्वेव तथापि तन्त्वादेरेव सत्तासंबन्धात् सत्त्वम् न खरशृङ्गादेः तथादर्शनादिति चेत्, उक्तमत्र तथादर्शनोपायाभावादिति ।

[प्रासङ्गिकं सत्तापदार्थनिरसनम्]

अपि च, सत्ताऽपि यदि असती कथं ततो वन्ध्यासुतादेरिवापरस्य सत्त्वम्? सती चेद् यदि
१०अन्यसत्तातः, अनवस्था । स्वतश्चेत्, पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्यर्थं तत्परिकल्पनम् । किञ्च, यदि स्वत एव सत्ता सती उपेयते तदा प्रमाणं वक्तव्यम् । अथ स्वतः सत्ता सती–तत्संबन्धात् तन्त्वादीनां सत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेः–तर्हि अन्योन्यसंश्रयः–तत्संबन्धात् तन्त्वादिसत्त्वे सिद्धे सत्तासत्त्वसिद्धिः, ततस्तत्संबन्धात् तन्त्वादिसत्त्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । अथ सत्ता स्वतः सती, सदभिधानप्रत्ययविषयत्वात्, अवान्तरसामान्यादिवत् न द्रव्यादिना व्यभिचारः–द्रव्यादिरपि
१५'सद् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत् कर्म' इत्येवं सदभिधानप्रत्ययविषयो भवति, न चासौ परेण स्वतः सत्त्वाभ्युपगतः सत्ताप्रकल्पनवैफल्यप्रसङ्गात् । न च द्रव्यादौ तद्विषयत्वं परापेक्षं न सत्तायामिति वक्तुं युक्तम्, तस्यामपि तदपेक्षत्वप्रसङ्गात् । अथ तत्र तस्य तदपेक्षत्वे किं तदपरमिति वक्तव्यम् । तत्वेतद् द्रव्यादावपि समानम् । तत्र सत्तेति चेत्, अत्रापि द्रव्यादिकम् इति तुल्यम्–यथैव हि सत्तासंबन्धात् द्रव्यादिकं सत् न स्वतः तथा द्रव्यादिस्वरूपसंबन्धात् सत्ता सती न स्वतः ।
२०द्रव्यादेः स्वरूपसत्त्वं नास्ति तेनायमदोषः, तदस्तित्वे को दोष इति वाच्यम् । ननु तस्या (तस्य) स्वतः सत्त्वेऽवान्तरसामान्याभावप्रसङ्गो दोषः, ननु स्वतोऽसत्त्वे खरविषाणादेरिव सुतरां तदभावदोषः । अपि च, यो हि तत्र सत्तासंबन्धं नेच्छति स कथमवान्तरसामान्यसंबन्धमिच्छेत् ? न चात्र प्रमाणं स्वतोऽसन्तो द्रव्यादयो नावान्तरसामान्यमिति । अथैतत्—द्रव्यादयो न स्वतः सन्तः, अवान्तरसामान्यवत्त्वात्, यत् पुनः स्वतः सत् न तद् अवान्तरसामान्यवत्, यथा सामान्य-विशेष-
२५समवाया इति व्यतिरेकी हेतुः, नैतत्, यदि हि द्रव्यादयो धर्मिणः कुतश्चित् प्रतीतिगोचरचारिणस्सन्तो भवन्ति [स कथमवान्तरसामान्यसंबन्धमिच्छेत्? न चात्र प्रमाणं स्वतोऽसन्तो द्रव्यादयो नावान्तरसामान्यमिति । अथैतत्–द्रव्यादयो न स्वतः सन्तोऽवान्तरसामान्यवत्त्वात्, यत् पुनः स्वतः सत् न तदवान्तरसामान्यवत्, यथा] सामान्यप्रतीतिः सत्त्वं साधयन्ती स्वत इति प्रतिज्ञाम् तदसत्त्वनिषेधाबाधने चेद् (चारिणस्सन्तो भवन्ति तदा कथं न तत्प्रतीतिः स्वतस्सत्त्वं
३०साधयन्ती 'न स्वतस्सन्तस्ते' इति प्रतिज्ञां तदसत्त्वविषयां बाधते । न चेद्) सत्रोत्तरम्–न स्वतः सन्तस्ते प्रतीतिविषयाः किन्तु सत्तासंबन्धादिति, यतो 'न स्वयमसन्तस्तत्संबन्धात् तद्विषया भवन्ति' इत्युक्तम् । किंच, द्रव्यादेरेकान्तेन यस्य भिन्नान्यवान्तरसामान्यानि कथं तस्य तानि स्युः यतोऽवान्तरसामान्यवत्त्वादिति हेतुः सिद्धः स्यात्? अथ तथापि तैस्सन्ति (तन्येति), न, परस्परमपि स्युरिति सामान्यसमवायात् परिशेषवत् (सामान्य-समवाय-विशेषवत्) इति वैधर्म्यनिदर्शनम
३५युक्तम् । यदि मतम्—द्रव्यादौ तानि समवेतानि ततस्तस्य तानि न सामान्यादौ विपर्ययादिति, तत्र सम्यक्: 'तत्र समवेतानि' इति समवायेन संबद्धानीति यदर्थः, स न युक्तः, समवायस्य निर्विशेषत्वाविशेषसमानत्वाच । भवतु वा समवायः तथापि यत्र द्रव्ये, गुणे, कर्मणि च द्रव्यत्वम्, गुणत्वम्, कर्मत्वं चाऽवान्तरसामान्यं तत्रैव पृथिवीत्वादीनि, रूपत्वादीनि, गमनत्वादीनि च तथाविधानि सामान्यानि, समवायोऽपि तत्रैव सामान्यवत् तस्य सर्वगतत्वाच्च द्रव्यादिवत्सर्वोऽस्मगतानीति न

१ पृ० १०५ पं० २४ । २ तन्त्वादिनोऽप्यादिति व–वा०, बा० हि० । ३ पृ० १०५ पं० १६ । ४ पृ० १०५ पं० २ । ५ तदभावा (वो) दोष- मा० । ६–तद् यथा सामा– भा०, मा० । ७ [ ] एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः ... प्रतिषु ... । ८ इति प्रति प्रतिज्ञा–पु० । ९–बाधते ... । १०–चेत् वाच्य–वा०, बा० । ११ तत्सन्ति वा०, बा० हि० । १२ पृ० १०६ पं० १० ।

…निवर्तते-'किं द्रव्यादिसंबन्धात् सत्ता सती किं वा तया सत्ता प्रत्यक्षसिद्धत्वात् ।
दे: स्वतः सत्त्वाद्यनभिधानाद्धि न निवर्तते-'किं द्रव्यादिसंबन्धात् सत्ता, सत्ता स्वतःसिद्धत्वात् ।
तद्विशिष्टं सत्' इति । तत्र सत्तायाः सत्तायाः स्वरूपम्, तस्मात् सत्ताभिधानात् ।

(सत्तायाः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् सत्तायाः प्रत्यक्षबाधितविषयत्वेन व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य अनुगतस्य प्रत्यक्-
प्रत्यक्षवेलायां प्रत्यक्षबुद्धौ परिस्फुटरूपेण व्यक्तिविवेकेन सत्ता न ... । न चानु- ५
पलम्भमानत्वात् । न च द्रव्यप्रतिभासवेलायां व्यावृत्ताकारस्य च प्रत्यक्षानुभवस्य संवेदनात् । नीलादिव्य-
प्रतिभातीति वक्तुं शक्यम्, अनुगताकारं बुद्धिर्दृश्यते । न हि विषयव्यतिरेकेण प्रतीतिरुत्पद्यते, नीलादिव्य-
तिरेकेणापि घटादिरूपव्यतिरेकेण व्यावृत्ता बुद्धिर्दृश्यते । न हि विषयव्यतिरेकेणापि ... इत्यातो घटोऽयमिति पटोऽयमिति ।
न-व्यावृत्तव्यनुवृत्तिरेकेण व्याकाराकारा बुद्धिर्दृश्यते । अथ नैमित्तिकस्य वाचार्थस्य विधिव्यतिरेकेणापि न ततः सत्तानवस्था,
...प्रतीतेरपि तथाभावप्रसङ्गात् । अथ नैमित्तिकस्य भिन्नवस्तुष्वनुगताकारा बुद्धिरुत्पद्यते-वास्तवोऽपरिमाणादनवस्थम् । १०
...प्रतीतेरपि तथाभावप्रसङ्गात्; भिन्नवस्तुष्वनुगताकारा घटोऽपि पटाद्यपि धर्म-वास्तवोऽपरिमाणादनवस्थम्।
प्रतीतिरेवेति सोऽयमनुगतरूपमन्तरेणापि भिन्नवस्तुष्वनुगताकारा घटोऽपि पटादिभ्यो विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्।
तद्युक्तम् । नैमित्तिकप्रतीतौ हि प्रतिभासमानस्य घटोऽपि पटादिभ्यो विज्ञानस्य प्रतीतिरनुगमानन्यथाऽसिद्धि,
सत्तादर्शने तु न बाधकप्रत्ययोदयः नापि कारणदोषपरिज्ञानमिति न तत्रादिभ्यो विज्ञानस्य प्रतीतिर्व्यमानादयति।
तथाहि—विभिन्नेष्वपि घट-पटादिष्वेषु 'सत् सत्' इति अभेदबुद्धिरुत्पद्यते, सर्वदा सर्वेषां घट-पटादिषु 'सत् सत्' इति
न चासौ कालान्तरादौ विपर्ययमुपगच्छन्ती लक्ष्यते, सर्वेरपि प्रमाणमभ्युपगम्यते । यथोक्तं तैः-"प्रामाण्यं
व्यवहारेण । व्यवहारमुपरचयन्ती च प्रतीतिः सर्वैरपि प्रमाणमभ्युपगम्यते हि बुद्धिरर्थागृहीतरूपप्रतीत्यनभिधानं-१५
प्रमाणतः" [   ] इति । तदेवमयथितम्-अनुगताकारा हि बुद्धिरर्थांगृहीतरूपप्रतीत्यनभिधान
साधारणरूपबुद्धिरुत्पन्ना मु(नु)पर्वतिनिधिनरूपा बाधाऽयोगात् प्रमाणम् । सा च अक्षान्वय-व्यतिरेका-
नुविधायितया प्रत्यक्षम् । तथाहि-विकलितविलोचनस्य घट-पटादिषु रूपमारूढां सत्तां बुद्धिरुत्पन्ना 'सत्
सत्' इति प्रतीतिः, तदभावे च न प्रवर्तते । तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायितया कथं न प्रत्यक्षम्?
तस्माद् बहुषु व्यावृत्तेषु तुल्याकारा बुद्धिरेकत्वामवगमयति । यथात्र विभिन्नेषु घटादिषु प्रतिनियतभेद-
मनुगतमरूपं सैव जातिः ।

अथ व्यक्तिव्यतिरिक्ता जातिरुपेयते न च व्यक्तिदर्शनवेलायां तद्रूपसंस्पर्शविषयव्यतिरिक्तवपुर-२०
परमनुगतिरूपं प्रतिभाति तत् कथं तत् सामान्यम्? नैतदस्ति; यस्मादगृहीतसङ्केतस्यापि तनुभृतः
प्रथममुत्पन्नाति वस्तु; द्वितीये तुल्यरूपतामनुसरति बुद्धिः क्वचिदेव न सर्वत्र । प्रतिपत्तृभ्यता च सर्वत्र
भेदव्यवहारनिबन्धनं तुल्यदेश-कालेऽपि रूप-रसादौ च, प्रतिपत्तृभ्यता जातावपि विद्यत इति कथं
न सा भिन्नाऽस्ति? तथाहि—व्यक्त्याकारविवेकेन विशदमनुगतिरूपता भाति तद्विवेकेन च व्यावृ-
त्तरूपतेति कथं व्यक्तिस्वरूपाद् भिन्नावभासिनी जातिर्भिन्ना नाभ्युपगमविषयः?

अथैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद् जाति-व्यक्त्योरेकता रूप-रसादौ तु भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वाद् भेदः, तद-
व्यवस्कृतम्, यत एकेन्द्रियग्राह्यमपि चाक्षुषादिकं समानदेशं च भिन्नं प्रतिभातीति भिन्नवपुर-
भ्युपगमे तथा प्रतिनियतेन्द्रियविषयमपि जाति-व्यक्तिद्वयं भिन्नम्, भिन्नप्रतिभासादेव । तथाहि—
घटमन्तरेणापि पटग्रहणे 'सत् सत्' इति पूर्वप्रतिपन्ना सत्ताऽवगतिरेव; यदि तु व्यक्तिरेव सती
जातिः तत्त्वेऽपि तद्व्यतिरिक्ता च, तथा सति व्यक्तिरूपम् तदनुगतिरपि व्यक्त्यन्तरे प्रस
उदेत । प्रतीयते च तद्रूपता युगपद् घट-पटादिषु परस्परविविक्ततनुष्वपि सर्वदा । तेनैकरूपे
जातिः, प्रत्यक्षे तथाभूताया एव तस्याः प्रतिभासनात्, शब्द-लिङ्गयोरपि तस्यामेव संबन्धग्रहणमि
ताभ्यामपि सा प्रतीयते । तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणावसेयत्वात् सत्तायाः न तन्निराकरणाय प्रसङ्ग
धनानुमानप्रवृत्तिरिति ।)

असदेतत् ।

यतो न व्यक्तिदर्शनवेलायां स्वरूपेण बहिर्ग्राह्याकारतया प्रतीतिमवतरन्ती जातिरवभाति, तदाका
घट-पटवस्तुद्वयप्रतिभाससमये तदेव मध्यस्थितमूर्तिर्भिन्नाऽभिन्ना वा जातिराभाति, नान्तरायम
परस्य भासनया बहिस्तत्राप्रतिभासनात् । बहिर्ग्राह्यमानश्च बहिरर्थव्यवस्थाकारी, नान्तरायम
यदि तु सोऽपि तद्व्यवस्थाकारी स्यात्, तथा सति हृदि परिवर्तमानवपुः सुखादेरपि प्रति
बहिस्तद्व्यवस्था स्यात् । तथा च 'सुखाद्यात्मकाः शब्दादयः' इति सांख्यदर्शनमेव स्यात् । अथ
विज्ञाकारो बाह्यरूपतया न प्रतिभातीति न बहिस्तौ, जातिरपि तर्हि न बहीरूपतया प्रतिभा
बहीरूपाऽभ्युपगन्तव्या, यतः कल्पनामतिरपि दर्शनदृष्टमेव घटादिरूपं बहिरुल्लिखन्ती तद्विरं

१-दसामान्यता-मां० । -द्दाया-मां० । २-रा च प्रत्य-मां०, बा० विना ।

प्रतिभाति, न तु तद्व्यतिरिक्तवपुषं जातिमुद्द्योतयन्ति। तत्र तद्व्यसेयाऽपि बहिर्जातिरस्ति।
प्रकाशाने बहिष्प्रकाशमानवपुषोऽपि हि केशोण्डुकादयो न तथाऽभ्युपेयन्ते, बाध्यमानज्ञानविषयत्वा
जातिस्तु न बहीरूपतया कचिदपि ज्ञाने प्रतिभातीति कथं सा सत्त्याभ्युपगमविषयः? बुद्धिरेव
घट-पटादिषु प्रतिभासमानेषु 'सत् सत्' इति तुल्यतनुराभाति। यदि तर्हि न बाह्या जाति
५ बुद्धिरपि कथमेकरूपा प्रतिभाति नहि बहिर्निमित्तमन्तरेण तदाकारोत्पत्तिमती सा युक्ता?
केनोच्यते बहिर्निमित्तनिरपेक्षा जातिमतिरिति, किन्तु बहिर्जातिर्न निमित्तमिति, बाह्यास्तु व्य
काश्चिदेव जातिबुद्धेर्निमित्तम्। ननु यदि व्यक्तिनिबन्धनाऽनुगताकारा मतिः, तथा सति यथा ख
मुण्डव्यक्तिदर्शने 'गौर्गौः' इति प्रतिपत्तिरुदेति तथा गिरिशिखरादिदर्शनेऽपि 'गौर्गौः' इत्येवंरा
प्रतिपत्तिर्भवेत् व्यक्तिभेदाविशेषात्, तदयुक्तम्; भेदाविशेषेऽपि खण्ड-मुण्डादिव्यक्तिषु 'गौ
१० इत्याकारा मतिरुदयमासादयन्ती समुपलभ्यत इति ता एव तामुपजनयितुं समर्था इत्यवसीयन्ते
पुनर्गिरिशिखरादिषु 'गौर्गौः' इति मतिर्दृष्टेति न ते तन्निबन्धनम्। यथा च आमलकीफला
यथाविधानमुपयुक्तेषु व्याधिविरतिलक्षणं फलमुपलभ्यत इति तान्येव तद्विधौ समर्थानीत्यवसी
भेदाविशेषेऽपि न पुनस्त्रपुष-दध्यादीनि। अथ भिन्नेष्वपि भावेषु 'सत् सत्' इति मतिरस्ति, भि
न्नेषु च भावेषु यदेकत्वं तदेव जातिः, तत्रोच्यते—तदेकत्वं घट-पटादिषु किमन्यत्, उतानन्यत्?
१५ तावदन्यत्, तस्याप्रतिभासनादित्युक्तेः। नाप्यनन्यत्, एकरूपाऽप्रतिभासनात्; न हि घटस्य पट
चैकमेव रूपं प्रतिभाति, सर्वात्मना प्रतिद्रव्यं भिन्नरूपदर्शनात्। तस्मादप्रतीतेरभिन्नाऽपि जातिर्नाऽ
बुद्धिरेव तुल्याकारप्रतिभासा 'सत् सत्' इति शब्दश्च दृश्यत इति तदन्वय एव युक्तः न आत्मन
तस्यादर्शनात्। न च बुद्धिस्वरूपमप्यपरबुद्धिस्वरूपमनुगच्छति इति न तदपि सामान्यमित्येकान्
तजातिवादो मिथ्यावादः।

२० अपि च, अनेकव्यक्तिव्यापि सामान्यं तद्वादिभिरभ्युपगम्यते। न च तद्व्यापित्वं तस्य केनचि
ज्ञानेन व्यवस्थापयितुं शक्यम्। तथाहि–सन्निहितव्यक्तिप्रतिभासकाले जातिस्तद्व्यक्तिसंस्पर्शि
स्फुटमवभाति न व्यक्त्यन्तरसंबन्धितया, तस्यास्तथाऽसन्निधानेन प्रतिभासायोगात्। तदप्रतिभा
च तन्निष्ठताऽपि नावगतेति कथमसन्निहितव्यक्त्यन्तरसंबद्धशरीरा जातिरवभाति। यदेव
परिस्फुटदर्शने प्रतिभाति रूपं तदेव तस्या युक्तम्, दर्शनासंस्पर्शिनः स्वरूपस्यासंभवात्, सं
२५ भा तस्य द्वयस्वभावाद् भेदप्रसङ्गात्, तदेकत्वे सर्वत्र भेदप्रतिहतेः अनानेकं जगत् स्यात्। दर्श
गोचरातीतं च व्यक्त्यन्तरसंबद्धं जातिस्वरूपमप्रतिभासनादसत्; प्रतिभासने वा तस्य तत्संबद्धा
व्यवहितव्यक्त्यन्तराणामपि प्रतिभासप्रसङ्ग इति सकलजगत्प्रतिभासः स्यात्। अथ प्रथम
सन्निहितव्यक्तिदर्शनकाले व्यक्त्यन्तरसंबन्धिनी जातिर्न भाति; यदा तु व्यक्त्यन्तरं दृश्यते त
तद्दर्शनवेलायां तद्गतत्वेन जातिराभातीति साधारणस्वरूपपरिच्छेदः पश्चात् संभवतीति, तन्न
३० पश्चाद्यर्थान्वयदर्शने कथं न तस्यास्तद्व्यापित्वाग्रहः? असदेतत्, यतो व्यक्त्यन्तरदर्शनकालेऽ
तत्परिगतमेव जातेः स्वरूपं प्रतिभाति न पूर्वव्यक्तिसंस्पर्शितया; तस्याः प्रत्यक्षगोचरातिक्रान्तत्व
तत्संबद्धस्यापि रूपस्य तदतिक्रान्तत्वात्। तत् कथं सन्निहिताऽसन्निहितव्यक्तिसंबद्धजातिरूपावगम

अथ प्रत्यभिज्ञानादनेकव्यक्तिसंबन्धित्वेन जातिः प्रतीयते, ननु केयं प्रत्यभिज्ञा? यदि प्रत्यक्षम्
पुनस्तद्वसेया जातिरेकानेकव्यक्तिव्यापिनी प्रत्यक्षा? अथ नयनव्यापारानन्तरं समुपजायमान
३५ प्रत्यभिज्ञा कथं न प्रत्यक्षम्? निर्विकल्पकस्याप्यक्षान्वय-व्यतिरेकानुविधानात् प्रत्यक्षत्वं तद्व्यापि
तुल्यम्, असदेतत्। यदि अक्षजा प्रत्यभिज्ञा तथा सति प्रथमव्यक्तिदर्शनकाल एव समस्तव्यक्ति
संबद्धजातिरूपपरिच्छेदोऽस्तु। अथ तदा स्मृतिसहकारिविरहात्र तस्यावगतिः, यदा तु द्वितीय
व्यक्तिदर्शनं तदा पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधसमुपजातस्मृतिसहितमिन्द्रियं तत्तद्दर्शनं जनयति,
तदप्ययुक्तम्। यतः स्मरणसचिवमपि लोचनं पुरःसन्निहितायामेव व्यक्तौ तत्स्थजातौ च प्रतिपत्ति
४० जनयितुमलम्, न पूर्वव्यक्तौ, असन्निधानात्। तत्र तत्स्थितां जातिं दर्शनं परिच्छिन्दाने
व्यक्त्यन्तरे संभवेत्।

अथेन्द्रियप्रवृत्तिर्न स्मरणमपेक्षते करणत्वादिति नाम्नी संधानकारिणी, पुनस्तु कर्तव्या

1 तर्हि बाह्या भा०, मां०, क०, ब० बिना। 2 पृ० १११ पं० १६।

स्मृतिरप्यपायीति चक्षुषा परिगतेऽर्थे तदुपदर्शितपूर्वव्यक्तिगतां जातिं संधास्यतीति, तदसत्, यतः
सोऽपि न स्वतन्त्रतयाऽर्थग्राहकः किन्तु दर्शनसहायः। यदि पुनः स्वतन्त्र एवार्थग्राहकः स्यात् तथा
[illegible] जातिप्रतिपत्तिः स्यात् । तस्मादात्माऽपि दर्शनसहाय [illegible] ५

तत्र संधास्यति; नन्वत्रापि स्मृतिः [illegible] संघटयितुं क्षमा ? तदस्मृत च
सत् कथं पुरोवर्त्तिनि अप्रवर्त्तमाना स्वविषयान् सामान्यादींस्तत्र संघटयितुं क्षमा ? तदस्मृत च
संघटनं कथमात्माऽपि कर्तुं क्षमः ? तथाहि-दर्शने सति द्रष्टरि तस्य स्वरूपे जाते तद्भिमतं न स्मृति-
कृतं स्मर्तृरूपं भाति। यदि तु भाति तथा सति द्रष्टृरूप एवासौ, न स्मर्त्ता। अथ स्मर्तृरूपे द्रष्टृस्वरूपम-
नुप्रविष्टं प्रतिभाति, तथापि स्मर्तैवाऽसौ न द्रष्टा। अथ द्रष्टृ-स्मर्तृस्वरूपे विविक्ते भातः, तथा सति १०
तयोर्भेद इति नैकत्वम्। तथाहि-द्रष्टृस्वरूपं दृग्विषयावभासि प्रतिभाति, स्मर्तृस्वरूपमपि पुंसः स्मृति-
विषयमवतीर्णमवभाति; तत् कुतः पूर्वापरयोर्जाति-रूपयोः संधानम् ?

यत् पुनरुक्तम् 'स्मरतः पूर्वदृष्टार्थानुसंधानादुत्पद्यमाना मतिश्चक्षुःसंबद्धत्वे प्रत्यक्षम्' इति, एत-
दप्यसत्; नेन्द्रियमतिः स्मृतिगोचरपूर्वरूपग्राहिणी, तत् कथं सा तत्संधानमात्मसात्करोति ? पूर्वदृ-
ष्टसंधानं हि तत्प्रतिभासनम्, तत्प्रतिभाससंबन्धे चेन्द्रियमतेः परोक्षार्थग्राहित्वात् परिस्फुटप्रतिभा- १५
सतम् असंनिहितविषयग्रहणं च, तत् कुतस्तयोरैक्यम् ? अथ परोक्षग्रहणं स्वात्मना नेन्द्रियमतिः
संस्पृशतीति, एवं तर्हि तद्विविक्तेन्द्रियमतिरिति कथं तत्संधायिका सामग्री अभ्युपेयते ? यदि च
स्मृतिविषयस्वभावतया दृश्यमानोऽर्थः प्रत्यक्षबुद्धिभिरवगम्यते, तथा सति स्मृतिगोचरः पूर्वस्व-
भावो वर्त्तमानतया भातीति विपरीतख्यातिः सर्वं दर्शनं भवेत्। अथ यत् तदा तत्राविद्यमान-
मर्थमवैति ज्ञानं तत्र विपरीतख्यातिः, प्रत्यक्षप्रतीतिस्तु पूर्वसंधानादप्युपजायमाना पुरः सदेव २०
वस्तु गृह्णती कथं विपरीतख्यातिर्भवेत् ? ननु पूर्वरूपग्राहितया तस्याः सदर्थग्रहणमेव न संभवति;
स्मरणोपनेयं हि रूपं प्रतियती वर्तमानतया प्रत्यक्षबुद्धिर्न प्रतिभासमानवपुषः सत्तां साधयि-
तुमलम्, प्रत्यस्तमितेऽपि रूपे स्मृतेरवतारात्। तदनुसारिणी चाक्षमतिरपि तदेवानुसरन्ती न
[illegible] परिहरन्ती वर्त्तमाने परिस्फुटे वर्त्तत इति
सत्ताऽऽस्पद- [illegible] गता जातिः समस्ति। यदेव हि द्वितीयव्य- २५
सदेव सदृतां [illegible] भातीति न तत् सत्। ततश्चानेकव्यक्तिव्या-
क्तिगतं रूपं [illegible]
पिकाया जातेरसिद्धिरिति न तत्र लिङ्ग-शब्दयोरपि प्रवृत्तिरिति न ताभ्यामपि तत्प्रतिपत्तिः। यथा च
व्यक्तिभिन्नाऽनुस्यूता जातिर्न संभवति तथा यथास्थानं प्रतिपादयिष्यत इत्यास्तां तावत्।
तदेवं सत्ता-समवाययोः परपरिकल्पितयोरसिद्धेः 'प्रागसतः कारणसमवायः सत्तासमवायो ३०
वा कार्यत्वम्' इति कार्यत्वस्यासिद्धत्वात् स्वरूपासिद्धोऽपि कार्यत्वलक्षणो हेतुः ।।

अथ स्यादेष दोषो यदि यथोक्तलक्षणं कार्यत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तं स्यात्, यावताऽभूत्वा भवनल-
क्षणं कार्यत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तं नेनायमदोषः। नन्वेवमपि भू-भूधरादेः कथमेवंभूतं कार्यत्वं सिद्धम् ?
अथ यदि अत्र विप्रतिपत्तिविषयता तदाऽनुमानतस्तेषु कार्यत्वं साध्यते, तच्चानुमानम्-'भू-भूधरादयः
कार्यम्, रचनावत्त्वात्, घटादिवत्' इति कथं न तेषु कार्यत्वलक्षणो हेतुः सिद्धः ? असदेतत्; यतोऽ- ३५
त्रापि प्रयोगे भू-भूधरादेरवयविनोऽसिद्धेराश्रयासिद्धः 'रचनावत्त्वात्' इति हेतुः, तदसिद्धत्वं च प्राक्
प्रतिपादितम्।

किञ्च, [किमिदं रचनावत्त्वम् ? यदि अवयवसन्निवेशो रचना तद्वत्त्वं च पृथिव्यादेस्तदुत्पाद-
[illegible] विशेषणो रचनावत्त्वादिति हेतुः। तथा,
[illegible] प्रकृतो हेतुः।
[illegible] ? उच्यते, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् ४०
[illegible]
बाधकप्रमाणोपपत्तेश्च। तथाहि—

[प्रासङ्गिकं संयोगस्य निरसनम्]

"संख्या-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपि(द्रव्य)समवायाच्चा-
क्षुषाणि" [वैशेषिकसू० ४-१-११]

१-वमाने परे-गु०। २-द्राति एतर्हि त-गु०। ३ पृ० १०२ पं० ११।

इति वचनात् इदन्तयानुगमयेनास्य संयोगस्य परेण प्रत्यक्षप्रामाण्यमनुगतम्। न च [illegible] प्रत्ययमनुभवप्रतिभासकालेऽप्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकेणापरः संयोगो बहिर्ग्राह्यरूपतां बिभ्रा[illegible] भाति, नापि कल्पनाबुद्धौ यस्तद्वयं यथोक्तं विहाय शब्दोल्लिखितं चान्यत् [illegible] संयोगस्यानुमानानि। तदेवमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य संयोगस्यानुपलब्धेरभावः, [illegible]

५ तेन यदाह उद्द्योतकरः—

"यदि संयोगो नार्थान्तरं भवेत् तदा क्षेत्र-बीजोदकादयो निर्विशिष्टत्वात् [illegible] कुर्युः, न चैवम्, तस्मात् सर्वदा कार्याऽनारम्भात् क्षेत्रादीन्यङ्कुरोत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षाणि [illegible] मृत्पिण्डादिसामग्री घटादिकरणे कुलालादिसापेक्षा; योऽसौ क्षेत्रादिभिरपेक्ष्यः स संयो[ग] सिद्धम्। किञ्च, असौ संयोगो द्रव्ययोर्विशेषणभावेन प्रतीयमानत्वात् ततोऽर्थान्तरत्वेन [illegible]

१० एव। तथाहि—कश्चित् केनचित् 'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्तो ययोरेव द्रव्ययोः संयोगगुण[illegible] एवाहरति न द्रव्यमात्रम्। किञ्च, दूरतरवर्तिनः पुंसः सान्तरेऽपि वने निरन्तरत्वावभासि [illegible] द्वयमासादयति, सेयं मिथ्याबुद्धिः [illegible] दर्शनस्य गवये 'गौः' इति विभ्रमो भवा[illegible] कुण्डली' इत्यनेन प्रतिषेधवाक्येन न कु[illegible]

१५ तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते। तथा, 'चैत्रः कुण्डली' इत्यनेनापि विधिवाक्येन [illegible] कुण्डलयोरन्यतरविधानम्, तयोः सिद्धत्वात्; पारिशेष्यात् संयोगविधानम्। तस्मादस्ति संयो[गः]" [न्यायवा० पृ० २१९.] इति, तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्; संयुक्तद्रव्यस्वरूपावभासव्यतिरेकेणापरस्य संयो[गस्य] प्रत्यक्षे निर्विकल्पके सविकल्पके वाऽप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात्।

न च सं[illegible]—

२० प्रत्ययहेतुत्वात् [illegible]
गमन्तरेण संयु[illegible]
सिनी बुद्धिर्मुख[illegible]

[illegible], अस्खलत्प्रत्ययत्वेनानुपचरितत्वात्। 'न चैत्रः कुण्डली' इ[ति] चैत्रसंबन्धिकुण्डलं निषिध्यते विधीयते वा न संयोगः। न च संबन्धव्यतिरेकेण चैत्रस्य कु[ण्डल] संबन्धानुपपत्तिरिति वक्तुं शक्यम्, यतश्चैत्र-कुण्डलयोः किं संबन्धिनोः स संबन्धः, उतासंबन्धि[नोः]?

२५ नासंबन्धिनोः, हिमवद्विन्ध्ययोरिवासंबन्धिनोः संबन्धानुपपत्तेः; न चासंबन्धिनोर्भिन्नसंबन्धेन [illegible] भिन्नं संबन्धित्वं शक्यं विधातुम्, विरुद्धधर्माध्यासेन भेदात्। नापि भिन्नम्, तत्सद्भावेऽपि [illegible] स्वरूपेणासंबन्धित्वप्रसङ्गात्; भिन्नस्य तत्कृतोपकारमन्तरेण तत्संबन्धित्वायोगात्; ततोऽप्युपकार[illegible] कल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। संबन्धिनोस्तु संबन्धपरिकल्पनं व्यर्थम्, संबन्धमन्तरेणापि तयोः स[्व]-एव संबन्धिस्वरूपत्वात्।

३० यत्तूक्तम् 'विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण क्षिति-बीजोदकादीनां नाङ्कुरजनकत्वम्, सा च विशि[ष्टा]-वस्था तेषां संयोगरूपा शक्तिः', तदसारम्, यतो यथा विशिष्टावस्थायुक्ताः क्षित्यादयः संयोगमुत्पा-दयन्ति तथा तदवस्थायुक्ता अङ्कुरादिकमपि कार्यं निष्पादयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेरन्तराल-वर्तिन्याः परिकल्पनम्। अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने कारणकलापः प्रवर्तते [illegible] निबन्धनार्हि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यतिरेकेण नासौ प्रवर्तेत इत्यपरा संयोगश[क्तिः]

३५ परिकल्पनीया, तथा चानवस्था। अथ तामन्तरेणापि शक्तिमुत्पादयन्ति तर्हि कारणानि तामन्तरेणैवाङ्कुरादिकं निर्वर्तयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेरन्तरालवर्तिन्याः कल्पनम्। न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण पृथिव्यादयः संयोगशक्तिमपि निर्वर्तयितुं क्षमाः, तथाऽभ्युपगमे सर्वदा [illegible] [illegible] इति मायं दोषः, कर्मोत्पादावपि संयोगशक्त्यङ्कुरस्य सर्वत्र [illegible]

४० [illegible] मापरः संयोगः, तत्र [illegible]

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible]

…तत् साधकप्रमाणाभावात्। यस्तु 'संयुक्ते द्रव्ये वर्तते' इति, 'अनयोर्योऽयं संयोगः' इति
…ः स भेदान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपाभ्यां तथाऽवस्थोत्पन्नवस्तुद्वयनिबन्धन एव, नातोऽपरस्य
…स्य सिद्धिः। न चाक्षणिकत्वे तयोः स संबन्धी युक्तः। तत्संबन्धस्य समवायस्य निषिद्धत्वात्
…समानत्वात्। न च तज्जन्यत्वादसौ तत्संबन्धी, अक्षणिकत्वे अनपेक्ष्यविरोधस्य प्रतिपादयि- ५
…ष्यमाणत्वात्। क्षणिकत्वेऽपि तयोरेकसामग्र्यधीना नैरन्तर्योत्पत्तिरेव, नापरः संयोग इति 'रचना-
…वत्' इत्यत्र हेतोर्विशेषणस्य संयोगविशेषस्य रचनालक्षणस्याऽसिद्धेस्तद्वतो विशेष्यस्याप्यसिद्धि-
…र्स्वरूपासिद्धत्वम्)।

अथ पृथिव्यादेः कार्यत्वं यौद्धैरभ्युपगम्यत एवेति नासिद्धत्वं तैरस्य हेतोः प्रेरणीयम्। नन्वत्रापि
…संभूतं बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन देवकुलादिष्वन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्याप्तं कार्यत्वमुपलब्धम्-यदक्रियाद- १०
…र्शिनोऽपि जीर्णदेवकुलादावुपलभ्यमानं लौकिकपरीक्षकादेस्तत्र कृतबुद्धिमुत्पादयति-तादृग्भूतस्य
…क्षित्यादिषु कार्यत्वस्याऽनुपलब्धेरसिद्धः कार्यत्वलक्षणो हेतुः। उपलम्भे वा तत्र ततो जीर्णदेवकुला-
…देरिवाऽक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिः स्यात्, न ह्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सुविवेचितं कार्यं कारणं
…व्यभिचरति, तस्याऽहेतुकत्वप्रसङ्गात्। अतः क्षित्यादिषु कार्यत्वदर्शनादक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्यनु-
…पपत्तेर्यद् बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं कार्यत्वं देवकुलादिषु निश्चितं तत् तत्र नास्तीत्यसिद्धो हेतुः केवलं १५
कार्यत्वमात्रं प्रसिद्धं तत्र। न च प्रवृत्या परस्परमर्थान्तरत्वेन व्यवस्थितोऽपि धर्मः शब्दमात्रेणाऽभेदी
हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमतसाध्यसिद्धये पर्याप्तो भवति, साध्यविपर्ययेऽपि तस्य भावाविरोधात्।
यथा वल्मीके धर्मिणि कुम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्विकारमात्रं हेतुत्वेनोपादीयमानमिति। यद् बुद्धि-
मत्कारणत्वेन व्याप्तं देवकुलादौ कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं तच्च क्षित्यादावसिद्धम्; यच्च क्षित्यादौ
कार्यत्वमात्रं हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं सिद्धं तत् साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धव्यतिरेकत्वे- २०
नानैकान्तिकम्, न ततोऽभिमतसाध्यसिद्धिः।

नन्वेतत् कार्यसमं नाम जात्युत्तरम्। तथाहि-'कृतकत्वादनित्यः शब्दः' इत्युक्ते जातिवाद्यपि
प्रेरयति-किमिदं घटादिगतं कृतकत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तम्, किं वा शब्दगतम्, अथोभयगतमिति?
आद्ये पक्षे हेतोरसिद्धिः, न ह्यन्यधर्मोऽन्यत्र वर्तते। द्वितीयेऽपि साधनविकलो दृष्टान्तः। तृतीयेऽप्ये-
तावेव दोषाविति। एतच्च कार्यसमं नाम जात्युत्तरमिति प्रतिपादितम्, यथोक्तम्-"कार्यत्वान्यत्वले- २५
शेन यत् साध्यासिद्धिदर्शनं तत् कार्यसमम्" [ ] इति, कार्यत्वसामान्यस्यानित्यत्वसाध-
कत्वेनोपन्यासेऽभ्युपगते धर्मिभेदेन विकल्पनवद् बुद्धिमत्कारणत्वे क्षित्यादेः कार्यत्वमात्रेण साध्येऽभीष्टे
धर्मिभेदेन कार्यत्वादेर्विकल्पनात्, असदेतत्, यतः सामान्येन कार्यत्वानित्यत्वयोर्विपर्यये बाधकप्र-
माणबलाद् व्याप्तिसिद्धौ कार्यत्वसामान्यं शब्दादौ धर्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्वं साधयतीति कार्यत्व-
मात्रस्यैव तत्र हेतुत्वेनोपन्यासे धर्मविकल्पनं यत् तत्र क्रियेत तत् सर्वानुमानोच्छेदकत्वेन कार्यसमजा- ३०
त्युत्तरतामासादयति, न त्वेवं क्षित्यादेर्बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वसामान्यं हेतुत्वेन संभवति, तस्य
विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनाऽनैकान्तिकत्वात्। यच्च बुद्धिमत्कार-
णपूर्वकत्वेन व्याप्तं देवकुलादौ कार्यत्वं प्रतिपन्नम्-यदक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णप्रासादादौ कृतबुद्धिमु-
त्पादयति-तत् तत्रासिद्धमिति प्रतिपादितम्।

अपि च, यदि अत्र व्यापकनित्यैकबुद्धिमत्कारणं क्षित्यादेः कारणत्वेनाऽभिप्रेतं कार्यत्वलक्षणा-
द्धेतोः तथा सति घटादौ दृष्टान्तधर्मिणि तत्पूर्वकत्वेन कार्यत्वस्यानिश्चयात् साध्यविकलो दृष्टान्तः,
विरुद्धश्च हेतुः स्यात्, अनित्यबुद्ध्याधाराव्यापकाऽनेककर्तृपूर्वकत्वेन व्याप्तस्य कार्यत्वस्य घटादौ
निश्चयात्। अथ बुद्धिमत्कारणत्वमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतं क्षित्यादौ तर्हि नित्यबुद्ध्याधार-व्यापकैककर्तृ…
…सिद्धिः। अथ बुद्धिमत्कारणत्वमात्रं क्षित्यादावसिद्धं… सिध्यति निर्विशेषस्य सामान्यस्यासंभवात्…
पूर्वकत्वलक्षणस्य विशेषस्य क्षित्यादावसिद्धेर्नाभिमतसिद्धिः। … विशेषस्य बुद्धि…
साध्यते, तच्च पक्षधर्मताबलाद् विशिष्टविषयाधारं … घटादावुपलभ्यस्य … घटादौ व्यक्तिस्य…
अनित्यज्ञानवतः शरीरिणः क्षित्यादिविनिर्माणसामर्थ्यरहितत्वेन … यद् घटादौ … ।
मत्कारणत्वसामान्याधारस्य तत्रासंभवात्। नन्वेवं सामान्याश्रयणेन …

१-दृष्टान्तप्रतिक्षेपाभ्यां ए०। –भेदान्तरं प्रतिक्षेपाभ्यां ए०। २–च्यो यु-भ०, ए०, डा०। ३ … ५-व्यतिरेकि-आ०।
१०६ पं० १०। ४-कारणमा-आ०, मां० व०। ७ प्र० पृ० पं० १८।
पृ० १७-१८ [सिद्धसेन् वर्धमान?]

प्रतियत्नं तस्य क्षित्यादावसंभवात्, अन्यस्य च [illegible]
[illegible] सामान्यस्यासंभवात्, बुद्धिमत्कारणत्वमात्रस्यैव क्षित्यादौ न सिद्धिः [illegible]
[illegible] विशेषस्याऽसंभवे [illegible]
[illegible] सिद्धिमापादयति ।

५ अथ कार्यत्वस्य क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणत्वाभावेऽभावप्रसङ्गात् [illegible]
[illegible] नव [illegible] यथा [illegible]
[illegible] । [illegible] यदि [illegible] धूममात्रमग्निमात्रानुमापकं [illegible]
[illegible] तथाऽभावे बुद्धिमत्कारणत्वानुमेय बुद्धिमत्कारण
[illegible] कार्यत्वमात्र [illegible] प्रमाणात् [illegible]

१० [illegible] न सिद्धा । अथ यथा कार्यधर्मानुगतो कार्ये कृशानौ धूमः, स तथाभूतोऽपि [illegible]
[illegible] इति [illegible] धूमस्य [illegible] इति [illegible]
[illegible] कार्यत्वानुगतो बुद्धिमत्कारणकार्येण, तद्भावे तदु भावत् सिद्धं [illegible]
[illegible] । ननु [illegible] कार्यविशेषो बुद्धिमत्पूर्वक [illegible]
[illegible]

१५ [illegible]

[illegible]

२० [illegible]

[illegible]

[illegible]

त्वम्, ननु पिशाचादिशरीरस्य शरीरत्वे सत्यपि कथमदृश्यत्वम्? अथ तादृग्भूतपरिणामेन तस्यानुपलम्भादिति चेत्, ननु यथा शरीरत्वे सत्यपि अस्मदादिशरीरविलक्षणं पिशाचादिशरीरमनुपलभ्यत्वेनाभ्युपगम्यते तथा घटादिविलक्षणं भूरुहादि कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृकत्वेन किं नाभ्युपगम्यते? तथाऽभ्युपगमे च पुनरपि प्रकृतो हेतुर्व्यभिचारी। तदेवमसिद्धत्वाऽनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वदोषदुष्टत्वाद् नास्माद्धेतोः प्रस्तुतसाध्यसिद्धिः। तेन यदुक्तम्[1] 'पृथिव्यादिगतस्य कार्यत्वस्याप्रतिपत्तेर्न तस्मादीश्वरावगमः' इति, तद् युक्तमेवोक्तम्।

यच्चोक्तम्[2] 'पृथिव्यादीनां बौद्धैः कार्यत्वमभ्युपगतम् ते कथमेवं वदेयुः' इति, तदसारम्, प्रकृतसाध्यसिद्धिनिबन्धनस्य कार्यत्वस्य तेष्वसिद्धत्वप्रतिपादनात्। यच्चान्यदपि[3] 'येऽपि चार्वाकास्तेषां कार्यत्वं नेच्छन्ति तेषामपि विशिष्टसंस्थानयुक्तानां कथमकार्यता' इति, तदप्ययुक्तम्, संस्थानयुक्तत्वस्यासिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात्। यच्च[4] 'संस्थानशब्दवाच्यत्वं केवलं घटादिभिः सामान्यं पृथिव्यादीनाम्, न त्वर्थः कश्चिद् द्वयोरनुगतः समानो विद्यते' तदेवमेव, यदुक्तम्[5] 'धूमादावपि पूर्वापरव्यक्तिगतो नैव कश्चिदनुगतोऽर्थः समानोऽस्ति' इत्यादि, तदसङ्गतम्, घटादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्य वैलक्षण्येन हेतोरसिद्धत्वप्रतिपादनात्।

यदप्युक्तम्[6] 'व्युत्पन्नानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमः, अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति' इति, तदप्यवाच्यम्, यतो यद्यनुमाननिमित्तहेतुपक्षधर्मत्व-प्रतिबन्धलक्षणां व्युत्पत्तिमाश्रित्य व्युत्पन्ना अभिधीयन्ते तदा पृथिव्यादिगतसंस्थान-कार्यत्वादौ घटादिसंस्थानवैलक्षण्ये प्रकृतसाध्यसाधके व्युत्पत्तिर्न केषाञ्चिदपि भवति, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य पृथिव्यादौ संस्थानादेरभावात्। भावे वा शरीरादिमतोऽस्मदादीन्द्रियग्राह्यस्यानित्यबुद्ध्यादिधर्मकलापोपेतस्य घटादौ संस्थानादिहेतुव्यापकत्वेन प्रतिपन्नस्य कर्तुः पृथिव्यादौ ततः प्रतिपत्तिः स्यात्, न हि हेतुव्यापकमपहायाऽव्यापकस्य विरुद्धधर्माक्रान्तस्याऽपरस्य साध्यधर्मस्य प्रतिपत्तिः साध्यधर्मिणि यथोक्तलक्षणलक्षितहेतुबलसमुत्थेत्यनुमानविदां व्यवहारः। कारणमात्रप्रतिपत्तौ तु ततः तत्र न विप्रतिपत्तिरिति सिद्धसाध्यता। अथ हेतुलक्षणव्युत्पत्तिव्यतिरिक्तां व्युत्पत्तिमाश्रित्य 'व्युत्पन्नानाम्' इत्युच्यते तदा 'केनचित् स्रष्टा जगत् सृष्टम्' इति निर्मूलकुरागमाहितवासनानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमादिः, न च तथाभूतधर्मिधर्मताद्यवगमात् साध्यसिद्धिः, वेदे मीमांसकस्याऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादेः धर्मिधर्मताऽवगमादेर्यथाऽपौरुषेयत्वस्य। 'अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति' इति युक्तमेव, अस्माभिरप्यभ्युपगमात्।

यत्तु[7] 'प्रासादादिसंस्थानादेर्वैलक्षण्येऽपि पृथिव्यादिसंस्थानादेः कार्यत्वादि पृथिव्यादीनामिष्यते, कार्यं च कर्तृ-करण-कर्मपूर्वकं दृष्टम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, यतो यदि नाम घटादेर्विशिष्टकार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वमुपलब्धं नैतावताऽविशिष्टस्यापि भूरुहादिकार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्। अन्यथा पृथिवीलक्षणस्य कार्यस्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्शगुणयोगित्वमुपलब्धं भूतत्वे सति, वायोरपि तद्योगित्वमभ्युपगमनीयं स्यात्, तत्त्वादेव। अथात्र प्रत्यक्षादिबाधः, स भूरुहादिकार्येष्वपि समान इति प्राक् प्रतिपादितम्। यत्तूक्तम्[8] 'कर्तृपूर्वकस्य कार्यत्वादेस्तद्वैलक्षण्याद् न ततः साध्यावगमः' इत्यादि, तत् सत्यमेव, तद्वैलक्षण्यस्य प्रसाधितत्वात्। अत एव सिद्धम् 'यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् सन्निवेशादि' इत्यादिग्रन्थप्रतिपादितस्य दूषणस्य कार्यत्वादौ सर्वसिद्धीश्वरसाधके हेतौ समानत्वाद् न कस्यचित् तत्साधकता। 'यद्येवमनुमानोच्छेदप्रसङ्गः, धूमादि यथाविधमग्न्यादिसामग्रीभावाभावानुवृत्तिमत् तथाविधमेतद् यदि पर्वतोपरि भवेत् स्यात् ततो वह्न्यवगमः' इत्यादिकस्तु पूर्वपक्षग्रन्थः पूर्वमेव विहितोत्तरः।

यथा यथाभूतोऽधूमव्यावृत्तो धूमोऽनग्निव्यावृत्तेनाऽग्निना व्याप्तो विपर्यये बाधकप्रमाणबलादवसितो गिरिशिखरादावुपलभ्यमानस्तद्देशमग्निसामान्यमनियततार्ण-पार्णाद्यग्निव्यक्तिसमाश्रि-

---

१ पृ० ९१ पं० २८। २ पृ० ९१ पं० २८। ३ पृ० ११५ पं० ११। ४ पृ० ९१ पं० २९। ५ पृ० ११२ पं० २८। ६ पृ० ९४ पं० २। ७ पृ० ९४ पं० ३। ८ पृ० ११५ पं० ११। ९ पृ० ९४ पं० १३। १० पृ० ९४ पं० १५। ११ पृ० १०८ पं० १९। १२ पृ० ९४ पं० १७। १३ पृ० ९४ पं० ६। १४ पृ० ९४ पं० १८। १५ पृ० ९४ पं० १३। १६ पृ० ११६ पं० ७।

वमनुमापयति; नैवं कार्यत्वमात्रं बुद्धिमत्कारणत्वसामान्येन व्याप्तं विपर्यये बाधकप्रमाणबला[illegible] निश्चितं किन्तु कारणत्वमा(णमा)त्रेण व्याप्तं तत् तद्बलात् निश्चितम्, तथोपलभ्यमानं शिखादौ का[illegible] समानमनुमापयति यथा गिरिशिखरादावुपलभ्यमानो धूमलवः संबद्धमग्निमात्रमनियतत्ताग्निविशेषं [illegible] तेन 'पृथिव्यादिगतकार्यत्वदर्शनात् कर्तृदर्शिनस्तत्प्रतिपत्तिवत् शिखरादिगतधूमादर्शिन[illegible]

५ धूमादपि तत्प्रतिपत्तिरस्तु' इति कोऽन्योऽनुमानस्वरूपविदो भवतो वक्तुं क्षमः। यदि हि कार्यवि[illegible] शेषाद् धूमलक्षणादुपलभ्यमानाद् गृहीताविनाभावस्य पुंसोऽग्निलक्षणकारणविशेषप्रतिपत्तिर्गिरिशिख[illegible] रादौ भवति तदा कार्यमात्रात् पृथिव्यादावुपलभ्यमानाद(नाद्)बुद्धिमत्कारणविशेषस्य [illegible] प्रतिपत्तौ किमायातम्? कारणमात्रप्रतिपत्तिस्तु ततस्तत्र भवत्येव, "सुविवेचितं कार्यं कारणं न[illegible] व्यभिचरति"[ ]इति न्यायात्। अत एवान्यस्य संबद्धस्यान्यतः प्रतिपत्तौ कार्यकारणभावा[illegible]

१० प्रवक्तः कार्यः; अन्यथा तदुपगमस्य प्रमाणाभासता स्यात्। यत्तु 'न चात्र शब्दसामान्यं यदनु[illegible] गमो नास्तीति युक्तं वक्तुम्, धूमादावपि शब्दसामान्यस्य वक्तुं शक्यत्वात्' इति, तदप्यसङ्गतम्; धूमादिधर्मस्यान्येन पृथिव्यादौ कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणत्वाव्याप्तेः शब्दसामान्यस्य साधितत्वात्।

यच्च 'घटादिवत् पृथिव्यादि व्यावयवसंयोगैरारब्धमवयवं तद्विभागाद् विनाशमनुभविष्यति' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; अवयवसंयोगवत् तद्विभागस्यापि विनाशकारणस्य विनाशं प्रति हेतुत्वे-

१५ [illegible]सिद्धत्वात्, तत्सिद्धत्वं च संयोगवद् वक्तव्यम्। 'एवं विनाशाद् वा संभावितात् कार्यत्वानुमानं रचनास्वभावत्वाद् वा' इत्यादि सर्वं निरस्तं द्रष्टव्यम्। यत्तु व्याप्तिं प्रति कार्यत्व[illegible] साधनतायामुक्तम्-'यथा लौकिक-वैदिकयो रचनयोरविशेषात् कर्तृपूर्वकत्वं तथा प्रासादादि-पृथिव्या[illegible] दिसंस्थानयोरपि तदस्तु, अविशेषात्' तदप्ययुक्तम्, तद्विशेषस्य प्रतिपादितत्वात्; तथा कार्य[illegible] [illegible]हेतोरसिद्धत्वेन। यथाऽपि 'सिद्धत्वेऽपि साध्यसाधनयोः साध्यसिद्धिर्दुर्लभा, न हि केवलात्

२० [illegible] साधनाभावः' तत् सत्यमेव, व्याप्तिरहितात्तयोः साध्यसिद्धेरभावात्।

यच्च 'यदादौ कर्तृपूर्वकत्वेन कार्यत्वावगमेऽपि केषाञ्चित् कार्याणामकर्तृपूर्वकाणां कार्यत्वदर्श[illegible] नात् सर्वं कार्यं कर्तृपूर्वकम् यथा घटादि [illegible]' इति, तदपि सत्यमेव 'तस्मात् [illegible] [illegible] प्रतिपादयति' इत्यादिना। यदप्युक्तम् 'सामान्यतो व्याप्तिसिद्धावपि व्याप्ति[illegible] [illegible] वा, [illegible] हेतुर्व्याप्तौ अनियामकत्वे, तेषु कर्तृपूर्वं न कर्तृव्याप्तिनियमः' इति,

२५ तदप्ययुक्तम्, सर्वज्ञसत्ताप्रतिपादकेऽपि यदि व्याप्त्यादिषु कर्तृव्याप्तिनियमो न भवति तथा सति [illegible] मा भूत्। [illegible] [illegible]। अत्र प्रमाणं प्रदर्शयिष्यामोऽनन्तरमेव।

[illegible]

[illegible]

तदाश्रयत्वम् । अथ यद् यत् कार्यं तत् तद् उपादानाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमुपलब्धं घटादिवत्, पृथि-
व्याद्यपि कार्यम्, तेन तदपि तदभिज्ञकर्तृपूर्वकं युक्तमिति नेतरेतराश्रयदोषः । ननु घटादिकार्य-
कर्तुरपि कुलालादेर्यद्यपि सर्वथा घटाद्युपादानाद्यभिज्ञत्वं सिद्धं स्यात् तदा युज्येताप्येतद् वक्तुम्; न
च तस्याऽपि घटाद्युपादानोपकरणादेः परिमाणाऽवयवसंख्येयत्वाद्यनेकधर्मसाक्षात्करणज्ञानमस्ति,
तत्त्वं सिद्धम् (?) । (किं) चिन्मात्रपरिमाणं नु चेतनत्वेऽदृष्टस्यापि तदाधारस्य वा सत्त्वस्य तददृष्ट- ५
निर्वर्तितफलोपभोक्तुः प्रतिनियतशरीराधिष्ठायकस्य विद्यते इति व्यर्थं व्यतिरिक्तापरज्ञानवतो महेशस्य
परिकल्पनम् । न चायमेकान्तः-सर्वं कार्यं तदुपादानाद्यभिज्ञेनैव कर्त्रा निर्वर्त्यत इति, स्वाप-मदा-
वस्थायां शरीरावयवप्रेरणस्य कार्यस्य तदुपादानाभिज्ञानाऽभावेऽपि तत्कर्तृत्वेनोपलब्धेः ।

यच्चोक्तम्-'न चाकृष्टजातेषु स्थावरादिषु तदग्रहणेन प्रतिक्षेपः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वा-
ददृष्टवत्' इति, तदप्यचारु; यतो यदि तस्य शरीरसंबन्धरहितस्य कर्तृत्वमभ्युपेयते तत्र युक्तिसङ्ग- १०
तम्, तत्संबन्धरहितस्य मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः । अथ ज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षा-समवा-
याभावाद् मुक्तात्मनोऽकर्तृत्वं न पुनः शरीरसंबन्धाभावादिति विषमो दृष्टान्तः, तदयुक्तम्; ज्ञानादि-
समवायस्य कर्तृत्वेनाभ्युपगमस्य तत्राऽपि निषिद्धत्वात् । तस्माच्छरीरसंबन्धादेव तस्य जगत्कर्तृत्वम-
भ्युपगन्तव्यम् कुलालस्येव घटकर्तृत्वम् । तत्संबन्धश्चेदभ्युपगम्यते कथं न तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्त-
त्वम्? कुलालादेरपि शरीरसंबन्धादेव उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वम् न पुनः तत्संबन्धरहितस्यात्मनो १५
दृश्यत्वम् । तथेश्वरेऽपि शरीरसंबन्धित्वं कर्तृत्वादभ्युपगन्तव्यमित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भे-
स्तत्कर्तुः स्थावरादिष्वभावः सिद्ध इति कथं न ते कार्यत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी ?

अथादृश्यं तच्छरीरमतस्तत्र तदपि नोपलभ्यत इत्ययमदोषः, नन्वेवमपि 'अस्मिन् सति इदं
स्थावरादिकं जातम्' इति प्रतिपत्तिर्मा भूत्, यथाऽन्य(ऽन्वय)ज्ञानमात्रेऽपि यथाऽतीन्द्रियत्वे-
न्द्रियस्याऽभावे रूपादिज्ञानं नोपजायते तथा पृथिव्यादिकारणसाकल्येऽपि कदाचित् तच्छरीरविरहे २०
तत्स्थावरादिकार्यं नोपजायत इति व्यतिरेकात् प्रतीतिः किं न स्यात् ? यदो यत्र तच्छरीरं नियमेन
संनिहितमिति' चा(ना)ऽयं दोषस्तर्हि युगपज्जातेषु त्रिलोकाधिकरणेषु भावेषु का वार्ता ? न ह्येकस्य
मूर्तस्य सावयवस्य महेश्वरवपुषोऽपि युगपत्सकलव्याप्तिः संभवति । अमूर्तत्वे निरंशाकाशादा-
दामेव तच्छरीरम्, तस्य तच्छरीरत्वेनाप्यसिद्धत्वात् । अथ यावन्ति प्रमत्तालीनकुरादिकार्याणि
तावन्ति तथाविधानि तच्छरीराणि कल्प्यन्ते नहि तच्छरीरैः सकलं जगदापूरितमिति सङ्कुरादि- २५
कार्योत्पत्त्यभावः तदुत्पत्तिदेशाभावाद्, नापि माहेश्वरैः क्वचित् प्रचारसंभवः, कुतश्चिद्वा निर्गमन-
म्, तच्छरीराणां पादाद्यभिघातभयात् । अपि च, तान्यपि कार्याणि, सावयवत्वात्, कुम्भवत्,
ततस्तत्करणे तावन्त्येवाऽपराणि तस्य शरीराणि कल्पनीयानि, पुनस्तत्करणेऽपि (इति) नानव-
स्थातो मुक्तिः । तत्र शरीरव्यापारसहायोऽप्यसौ स्थावरादिकार्यं करोतीति कल्पयितुं युक्तम्, अने-
कदोषप्रसङ्गात् । ३०

नाऽपि सत्तामात्रेणाऽसौ स्वकार्यं करोतीति कल्पयितुं युक्तम्, शरीरवत्तत्रैवदोषप्रसङ्गात् ।
अथ सर्वोत्पत्तिमतामीश्वरो निमित्तकारणम्, तस्य नाकारणत्वं सकलकार्यकारणपरिज्ञाने नान्यथा,
तत्परिज्ञान(ज्ञाने)या(चा)नित्य(त्यं)स्य(ते)न्द्रियशरीरान्तरेणानुपपत्तेः (तत्र) अतत्पूर्वं तत्-
स्वरूपमिति चेत्, न, सकलहेतुफलविषयं तस्य(तस्याऽनित्यं)स्य(ते)न्द्रियशरीरजं ज्ञानं न
संभवति, इन्द्रियाणां युगपत्सर्वार्थसंनिकर्षाभावात्, इन्द्रियार्थसंनिकर्षजं च नैयायिकैः प्रत्यक्ष- ३५
मभ्युपगम्यते, तदुक्तम्—

"इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायद०
अ० १, आ० १, सू० ४] ।

१-तदाश्रयत्व क०, ख० । २ दर्पोत्त-भा०, म० विना । ३ दृ० ११ पं० १९ । ४-स्य कस्या-भा०,
म० । ५-त्वम्-न पुनः भा०, म० विना । ६-स्थित् सर्वोक्तिमं भा०, म० [illegible]
म० । ८-वा प्रतीं-भा०, म० । ९ [illegible] 'तस्य दृश्य' [illegible] ।
[illegible]
[illegible] वा [illegible]-भा०, म० । ११-एकैकस्य-भा०, म० ।

सामग्री-फल-स्वरूपविशेषण[illegible] [illegible] तस्य प्रामाण्यमुपपन्नम्। तथा "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इत्य[illegible] "प्रमाणं-[illegible] प्रतिपत्तिसाधने फले साधकतमत्वम् इति अर्थः सहकारि [illegible] [illegible] सहकारित्वं [illegible] प्रमाणस्य फलजनने [illegible]
५ [illegible] 'सह करोतीति सहकारि' इति व्युत्पत्तेः। [illegible] प्रति [illegible]। न च प्रतिबन्धकोऽपि, [illegible] (विपक्षः) [illegible] प्रवेशात् न [illegible] इति [illegible] तस्य [illegible] इति न [illegible]ऽनुपपन्नं युक्तम्।

१० [illegible] कार्यं [illegible] [illegible] न पुनः [illegible] [illegible] न पुनः [illegible]
१५ [illegible] (?)। [illegible]

२० [illegible]

२५ [illegible]

३० [illegible]

[illegible]

स्त्येव तद् गमयतीत्यसकृदावेदितम् । यथा(यच्च) 'अनुपलभ्यमानकर्तृकेषु स्थावरेषु कर्तुरनुपलम्भः शरीराद्यभावात्, न त्वसत्त्वात्' इत्यादि, तदपि प्रतिक्षिप्तम्; उक्तोत्तरत्वात् । यदप्युक्तम् 'चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानात् कथं प्रत्यक्षव्यापृतिः' ? तदसंगतम्, तथोपादानाद्यधिष्ठायकत्वस्य क्वचिदप्यदर्शनात्, अदृष्टस्यापि तस्य कल्पने बुद्ध्यनधिष्ठितस्यापि भूरुहाद्युपादानस्य तत्कर्तृत्वं किं न कल्प्यते अदर्शनाविशेषात् ?

यच्चाभ्यधायि 'कार्यस्य शरीरेण सह व्यभिचारो दृश्यते, स्वशरीरावयवानां हि शरीरान्तरमन्तरेणापि प्रवृत्ति-निवृत्ती केवलो विदधाति' इति, तदप्ययुक्तम्, यतः शरीरसंबन्धव्यतिरेकेण चेतनस्य स्वशरीरावयवेष्वन्यत्र वा कार्यनिर्वर्तकत्वं न दृष्टमित्यन्यत्रापि तत् तस्य न कल्पनीयमित्येतावन्मात्रमेव प्रतिपाद्यते, न स्वपरशरीरसंबन्धपरिकल्पनमत्रोपयोगि । यदि च शरीररहितस्यापि तस्य भूरुहादिकार्ये व्यापारः परिकल्प्यते तर्हि मुक्तस्यापि तदन्तरेण ज्ञानसमवायिकारणत्वपरिकल्पनं किं न क्रियते ? तथाऽभ्युपगमे न ज्ञान-सुखादिगुणरहितात्मस्वरूपावस्थितिर्मुक्तिः संभवति इति तदर्थमीश्वराऽऽराधनमसंगतमासज्येत । यदपि 'कार्यं शरीरेण विना करोतीति नः साध्यम्, तत् [illegible] तिरेकेण कार्यकरणाद्दर्- [illegible] "अचेतनः कथं भावस्- [illegible] रादेः शरीरासंबद्धेच्छामात्रानुवर्तनाऽदर्शनात् । तदसंबद्धस्येच्छाया अप्यभावात् मुक्तस्येव कुतस्तदनुवर्तनमचेतनकार्येण ? अथ अदृष्टाऽपि इच्छा अशरीरस्य स्यात्. परिकल्प्यते, किमिति भूरुहादिकं कार्यं कर्तृविकलं दृष्टमपि न कल्प्यते ? एतेन 'ईश्वरस्यापि प्रयत्नसद्भावे न काचित् क्षतिः' इति निरस्तम्, शरीराभावे मुक्तात्मन इव प्रयत्नासंभवात् । अपरशरीररहितस्वशरीरावयवप्रेरणप्रयत्नसद्भावोऽपि न शरीराभावे प्रयत्नसद्भावाऽऽवेदकः, सर्वथा शरीररहितस्य तस्य क्वचिदप्यदर्शनात्, दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्ति । ततः स्थावरेषु शरीराभावाद् न तत्कर्तुरनुपलब्धिः किन्तु कर्तुरभावादिति कथं न तैः कार्यत्वादेर्हेतोर्व्यभिचारः ?

न च यथाऽदृष्टस्येन्द्रियस्य चाऽन्वय-व्यतिरेकयोः कार्यकारणभावव्यवस्थापकयोरभावेऽपि कारणत्वसिद्धिर्व्यतिरेकमात्रात् तथा महेश्वरस्यापि ततस्तत्सिद्धिः, तस्य नित्यव्यापकत्वाभ्युपगमेन व्यतिरेकासंभवात् । अतो न व्याप्तिसिद्धिः कार्यत्वादेस्तत्साधकत्वेनोपन्यस्तस्य हेतोः । 'अत एव न सत्प्रतिपक्षताऽपि, नैकस्मिन् साध्यान्विते हेतौ स्थिते द्वितीयस्य तथाविधस्य तत्रावकाशः' इति सत्यम्, किन्तु स्थाणुसाधकस्य कार्यत्वादेः साध्यान्वितत्वमेव न संभवतीति प्रतिपादितम् । यदुक्तम् 'नाऽपि बाधा, अबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य प्रमाणेनाऽग्रहणात्' इति, तदसांप्रतम्; बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाभावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याऽङ्कुराद्यपकृष्टोत्पत्तौ सद्भावात् । अथाङ्कुरादिकर्तुरतीन्द्रियत्वाद् न प्रत्यक्षात् तदभावसिद्धिः, न; प्रत्यक्षात् तदभावाऽसिद्धावप्यनुमानस्य तत्र तदभावग्राहकस्य भावात् । तथाहि—यद् यस्यान्वय-व्यतिरेकौ नानुविधत्ते न तत् तत्कारणम्, यथा न पटादयः कुलालकारणाः, नानुविदधति चाङ्कुरादयो बुद्धिमत्कारणान्वय-व्यतिरेकाविति व्यापकानुपलब्धिः; यच्च यत्कारणं तत् तस्यान्वय-व्यतिरेकावनुविधत्ते, यथा घटादयः कुलालस्य । न चोपलब्धिमत्कारणसंनिधाने प्रागनुपलब्धस्याङ्कुरादेरुपलम्भस्तदभावे चाऽपरकारणसाकल्येऽपि तस्यानुपलम्भ इत्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानमङ्कुरादिकार्याणाम् ।

तथाङ्कुरादिकर्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽभावाद् न प्रत्यक्षेण सद्भावाऽभावप्रतीतिरिति नाङ्कुरादेस्तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धिर्युक्ता । ननु मा भूत् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानोपलब्धिः, व्यतिरेकानुविधानोपलब्धिस्तु युक्ता, यथा रूपाऽऽलोक-मनस्कारसाकल्येऽपि कदाचिद् विज्ञानकार्यानुत्पत्त्या कारणान्तरस्यापि तत्र सामर्थ्यमवगम्यते, यच्च तत्कारणान्तरं सा इन्द्रियशक्तिः, तदभावाद् रूपज्ञानं न संजातमित्यनुपलभ्यस्वभावस्यापि कारणस्य व्यतिरेकः कार्येणानुविधी-

---

१ पृ० ११६ पं० १६ । २ पृ० ९९ पं० १० । ३-'तु' एतदपि प्र-ब्रो० । ४ पृ० ११९ पं० ११ । ५ पृ० ९९ पं० १८ । ६ पृ० ९९ पं० २० । ७ पृ० ९९ पं० २२ । ८ पृ० ९९ पं० २४ । ९ पृ० ९९ पं० २६ । १० पृ० ९९ पं० ३१ । ११ प्र० पृ० पं० २५ । १२ पृ० ९९ पं० ३३ । १३-यस्य हा-भां०, आं० । स० टि० १६

यमान उपलभ्येते, न चेद्दोपलब्धिमत्कारणस्य व्यतिरेकोऽङ्कुरादिकार्यस्यानुविधीयमान
युक्तिमत्कारणव्यतिरिक्तपृथिव्यादिसामग्रीसाकल्य(ग्रीसाकल्ये)ऽङ्कुरादेरपदर्शनात्तद्व्य
शक्तेरनित्यत्वाऽव्यापकत्वेन व्यतिरेकसंभवात् तद्व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धियुक्ता, न
णव्यतिरेकानुविधानस्य; तस्य नित्यत्वव्यापकत्वेन व्यतिरेकानुविधानाभावादिति चेत्,
५ यम्, तथाऽपीश्वरस्य ज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षासमवायोऽङ्कुरादिकार्यकरणे व्यापारः, तस्य
चाऽभावात् तदनुविधानं स्यात्।

अथ तत्समवायस्यापि सर्वत्र सर्वदा भावाद् नायं दोषः, न; तस्य नित्यत्वव्याप
तद्विशेषणानामीश्वरज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षादीनामनित्यत्वात् अव्यापकत्वाच्च व्यतिरेकानु
लभ्येत। अथ तज्ज्ञानादेरपि नित्यत्वाद् नायं दोषः सर्वदा तदङ्कुरादिकार्योत्पत्तिः
१० सहकारिणामसन्निधानाद् नेति चेत्, ननु तेऽपि तज्ज्ञानाद्यायत्तजन्मानः किं न सर्व
यन्ते? अथ नैव ते तदायत्तोत्पत्तयस्तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतुरनैकान्तिकः। तत्सह
सर्वदा स्वोत्पत्तिहेतूनां सकार्याणामसन्निधानाद् न सर्वदोत्पद्यन्त इति चेत्, अतश्च
अपरापरसहकारिप्रतीक्षायामेवोपक्षीणशक्तित्वात् तज्ज्ञानादेः प्रकृतकार्यकर्तृत्वं न
स्यात्। अतः सुदूरमपि गत्वा क्वचिदवस्थामिच्छता नित्यत्वं सहकारिणाम् अतद्राय
१५ वाऽभ्युपगमनीयम्, तदायत्तोत्पत्तिकार्यस्याऽपि तज्ज्ञानादिव्यतिरेकेणाऽप्युत्पत्तिर
इति वृथा तत्परिकल्पना। नित्यत्वे वा पुनरपि सहकारिणां तज्ज्ञानादीनां च नित्य
कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। तदेवं तज्ज्ञानादीनां च नित्यत्वात् सर्वदा कार्यस्योत्पत्तिरनुत्पत्तिर्वा
नित्यास्तज्ज्ञानादयोऽभ्युपगन्तव्याः; तथा च सति तदन्यसामग्रीसाकल्येऽप्यङ्कुराद्यनुत्
चित् स्यात्। सकलतदन्यसामग्रीसन्निधानानन्तरमेव तज्ज्ञानाद्युत्पत्तेर्न कार्यानुत्पत्ति
२० सामग्रीसाकल्येऽपीति चेत्, सहकारिकारणसंभवास्तर्हि तज्ज्ञानादयः प्राप्ताः; अन्यथ
त्पत्तिनियमाभावात् सहकारिषु सत्स्वपि कदाचिदङ्कुराद्यनुत्पत्तिः स्यात्। ते तु
स्तज्ज्ञानाद्यप्रेरिता एव तज्ज्ञानादि जनयन्तोऽङ्कुरादि जनयन्ति किमन्तर्गडुतज्ज्ञानादि
तज्ज्ञानादिसहकृता एव तज्ज्ञानादिकं जनयन्तीत्यभ्युपगमे तज्ज्ञानाद्यन्तरं सहक
न्यमेजन्यात्वा (?) तदनन्तरमनुत्पद्यमानं कार्यमपि तज्ज्ञानादिकं तदनन्तरं
२५ इत्यायातः स एव कारणान्तरसाकल्येऽप्यङ्कुरादिकार्याद्यनुत्पत्तिप्रसङ्गः, सहकारि
द्यन्तरोत्पत्तौ स एव प्रसङ्गः अनवस्था च। तस्यां चाऽपरापरज्ञानोत्पादन एव
सर्वदोपयोगान्न कार्ये कदाचिदप्युपयोगो भवेत्। सहकारिभिः सह तज्ज्ञानादिकं नि
मदिति चेत् तर्हि सहकारिणां तज्ज्ञानादेश्चैकसामग्र्यधीनत्वमभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा
तथैकसामग्रीलक्षणं कारणं तज्ज्ञानादिभिरन्यैर्जनितमजनितं वा तज्जनयति? [नै
३० तथैव कार्यत्वादेर्हेतोर्व्यभिचारित्वप्रसङ्गात् जनितं तज्ज्ञानादिकमभ्युपगन्तव्यम्, तच्च
सह नियमेनोत्पद्यमानं तदेकसामग्र्यधीनत्वमभ्युपगन्तारं सामग्र्यधीनं स्यात्। सा
तज्ज्ञानान्तरेणोत्पादिता च इति विकल्पद्वये पूर्वोक्तदोषद्वयप्रसङ्गः। प्रागनन्तरोत्पत्तिनि
सहकारिहेतुभिरेकसामग्र्यधीनतया स्यात् तथापि सैकसामग्री तज्ज्ञानाद्यन्तरेण प्रेरि
त्यभ्युपेयम्; अन्यथाऽचेतनस्याचेतनानधिष्ठितस्य वास्यादेरिव जनकत्वासंभवात्,
३५ च प्रेर्यात् सामग्रीविशेषात् प्रागनन्तरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्र्यधीनं स्या
प्रागनन्तरं नियमेनोत्पत्तिर्न स्यात्। सामग्र्यन्तरं चैवं प्रेरितमप्रेरितं वा जनयतीति
दोषद्वयप्रसङ्गः, तेनेमं दोषं परिजिहीर्षता न तज्ज्ञानाद्युत्पत्तिः तदनन्तरं सह प्राग्वाऽ
पगन्तव्या, तदनन्तरं सह प्राग्वाऽनन्तरमुत्पत्तिनियमाभावेऽपि] वाऽङ्कुरादिकार्यस्य
रेकानुविधानमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते, क्षित्युदक-बीजादिकारणसामग्रीसंनिधाने

१-स्यत्वे सर्वदो-वा॰, बा॰ विना। २-कार्ये नानुवि-वा॰, बा॰ विना। ३-मजन्यत्वो त
४-वन्ति इ-वा॰, बा॰ विना। ५[ ] एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः सन्दिग्धः। ६-मु, मनेव
७-ऽर्धानं त्वमभ्युपगन्तारं मा॰। ८-वन्तं मनन-क॰। ९-तथेति मा॰, बा॰। १० प्राग
बा॰। ११-नन्तरं नि-वा॰, बा॰। १२ च प्रेरितं वा ज-वा॰, बा॰, गु॰। १३-अथरं सह प्रा

चाऽसति अङ्कुरादिकार्यस्यादर्शनात्। अतस्तदन्वयानुविधानस्य तत्कारणत्वव्यापकस्या-
नुपलम्भात् तत्कारणत्वाभावोऽङ्कुरादिकार्यस्यानुमीयते । अतो बाधा व्यापकानुपलब्ध्या बुद्धि-
मत्कारणानुमानस्य।

बुद्धिमत्कारणानुमानेनैव व्यापकानुपलब्धिः कस्मान्न बाध्यते? लोहलेख्यं वज्रम्, पार्थिव-
त्वात्, काष्ठवदित्यनुमानेन प्रत्यक्षं तस्य तदलेख्यत्वग्राहकं किं न बाध्यते इति समानम्। प्रत्यक्षेण ५
तद्विषयस्य बाधितत्वान्न तेन तद् बाध्यत इति चेत्, बुद्धिमत्कारणत्वानुमानस्यापि तर्हि व्यापका-
नुपलब्ध्या विषयस्य बाधितत्वात् कथं तद्बाधकत्वम्? बुद्धिमत्कारणत्वानुमानेनैव व्यापकानुप-
लब्धेर्विषयस्य बाधितत्वान्न तद्बाधकत्वमिति चेत्, न; पार्थिवत्वानुमानेन तदलेख्यत्वग्राहकस्य
प्रत्यक्षस्य बाधितविषयत्वान्न तद्बाधकत्वमित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। अथ तदनुमानस्य तदाभासत्वाद्
न प्रकृतप्रत्यक्षविषयबाधकत्वम्, नैतत्; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-प्रत्यक्षबाधितवि- १०
षयत्वात् तदनुमानस्य तदाभासत्वम्, तस्य तदाभासत्वात् प्रत्यक्षस्य तद्बा(दबा)धितविषयत्वेनाऽ-
तदाभासत्वात् तद्विषयबाधकत्वम् इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । अथानुमानाबाधितविषयत्व-
निबन्धनं न तत्प्रत्यक्षस्याऽतदाभासत्वम् किं तर्हि स्वपरिच्छेद्याव्यभिचारनिबन्धनम्? नन्वेवमनु-
मानस्यापि स्वसाध्याऽव्यभिचारनिबन्धनं किं नाऽतदाभासत्वमभ्युपगमविषयः? अथाऽबाधि-
तविषयत्वे सति तस्य तदेव स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वं परिसमाप्यते। नन्वेवमबाधितविषयत्वस्य १५
प्रतिपत्तुमशक्तेर्न क्वचिदपि स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वस्यानुमानेऽतदाभासत्वनिबन्धनस्य प्रसिद्धिः; न
हि बाधाऽनुपलम्भाद् बाधाऽभावः, तस्य विद्यमानबाधकेष्वप्यनुत्पन्नबाधकप्रतिपत्तिषु भावात्।
अथ यत्र बाधकसद्भावस्तत्र प्राग् बाधकानुपलम्भेऽप्युत्तरकालमवश्यंभाविनी बाधकोपलब्धिः,
यत्र तु न कदाचिद् बाधकोपलब्धिस्तत्र न तद्भावः, असदेतत्; न ह्यर्वाग्दृशा बाधकाऽनुपलम्भ-
मात्रेण 'न कदाचनाप्यत्र बाधकोपलब्धिर्भविष्यति' इति ज्ञातुं शक्यम्, स्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भ-२०
स्यानैकान्तिकत्वात्, सर्वसंबन्धिनोऽसिद्धत्वात्; न ह्यसर्ववित् 'सर्वेणाप्यत्र बाधकं नोपलभ्यते
उपलप्स्यते वा' इत्यवसातुं क्षमः। नाऽपि बाधकाभावोऽभावग्राहिप्रमाणावसेयः, तस्य निषिद्धत्वात्
निषेत्स्यमानत्वाच्च। न चाऽज्ञातो बाधकाभावोऽनुमानाङ्गं पक्षधर्मत्वादिवत्। न च स्वसाध्याव्य-
भिचारित्वनिश्चयादेव बाधकाभावनिश्चयः, तन्निश्चयमन्तरेण त्वदभिप्रायेण स्वसाध्याव्यभिचारि-
त्वस्याऽपरिसमाप्तत्वेन निश्चयायोगात् । तस्मात् पक्षधर्मत्वाऽन्वय-व्यतिरेकनिश्चयलक्षणस्वसा-२५
ध्याविनाभावित्वस्य प्रकृतानुमानेऽपि सद्भावात् प्रत्यक्षवद् न तस्यापि तदाभासत्वम् । अथ
विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् पार्थिवत्वानुमानस्य नान्तर्व्याप्तिरिति तदाभासत्वम्, एवं तर्हि
कार्यत्वानुमानेऽपि विपर्यये बाधकप्रमाणाभावाद् व्याप्त्यभावतस्तदाभासत्वमिति न व्यापकानुप-
लब्धिविषयबाधकता। अथ प्रत्यक्षं नानुमानेन बाध्यत इति लोहलेख्यत्वानुमानस्य न तदलेख्य-
त्वग्राहकप्रत्यक्षबाधकता, कथं तर्हि देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनिताऽनुमानेन स्थिरचन्द्राऽर्कग्राहिप्र-३०
त्यक्षस्य बाधा? अथ तस्य प्रत्यक्षाभासत्वादनुमानेन बाधा, ननु कुतस्तस्य तदाभासत्वम्?
अनुमानेन बाधितविषयत्वादिति चेत्, ननु तदेवेतरेतराश्रयत्वम्-अनुमानेन बाधितविषयत्वात्
तस्य तदाभासत्वम्, तस्य तदाभासत्वे च तेन अबाधितविषयत्वादनुमानस्याऽतदाभासत्वेन
तद्विषयबाधकत्वम् इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । तस्मात् स्वसाध्याव्यभिचार एव सर्वत्र प्रामा-
ण्यनिबन्धनम्। स च व्यापकानुपलब्धौ पक्षधर्माऽन्वयव्यतिरेकस्वरूपः प्रमाणपरिनिश्चितो विद्यते ३५
इति तस्या एव स्वसाध्यप्रतिपादकत्वेन प्रामाण्यम् न पुनर्बुद्धिमत्कारणानुमानस्य, तत्र स्वसाध्या-
ऽव्यभिचाराभावस्य प्रदर्शितत्वात्।

न च व्यापकानुपलब्धावपि पक्षधर्मत्वाऽन्वय-व्यतिरेकनिश्चयस्य स्वसाध्याव्यभिचारित्वनिश्च-
यलक्षणस्याभाव इति वक्तुं युक्तम्, यतो व्यापकानुपलब्धेस्तावत् पक्षव्यापकत्वनिश्चयः प्रागेवोक्तः।
विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावाद् अन्वय-व्यतिरेकावपि तत्राऽवगम्येते, तत्कार्येषु हि कुम्भादिषु ४०
तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धिस्तदनुपलब्धेर्बाधकं प्रमाणम्। अथवा तत्कारणत्वं तदन्व-
य-व्यतिरेकानुविधानेन व्याप्तम्, तदभावे तत्कारणत्वासंभवात्; तदभावेऽपि भवतस्तत्कारणत्वे सर्वं

१ पृ० २१ पं० ११। २ पृ० १०८ पं० ८। ३ पृ० १२१ पं० ११। ४-त्वेऽपि स-कां०।

सर्वस्य कार्यं कारणं च स्यात्, न क्वचिद् कार्यकारणभावव्यवस्था; अन्वय-[illegible] हि कार्यकारणभावव्यवस्थानिबन्धनम्, तदभावेऽपि कार्यकारणभावं कल्पयतः किमन्यद् व्यवस्थानिबन्धनं स्याद् इति? अतोऽतिव्याप्तिपरिहारेण क्वचिदेव [illegible] तदभावे कार्यकारणभावो नाभ्युपगन्तव्य इत्यन्वयव्यतिरेकानुविधानेन कार्यकारणभावो [illegible] ५ स यत्रोपलभ्यते तत्रान्वय-व्यतिरेकानुविधानसंनिधापनेन तदभावं बाधत इत्यनुमानसिद्धो व्यतिरेकः; तत्सिद्धेश्चान्वयोऽपि सिद्धः। तथाहि—य एवं सर्वत्र साध्याभावे साधनाभावलक्षणो व्यतिरेकः स एव साधनसद्भावेऽवश्यंतया साध्यसद्भावस्वरूपोऽन्वय इति व्यापकानुपलब्धेः [illegible] त्वान्वयव्यतिरेकलक्षणः साध्याव्यभिचारः प्रमाणतः सिद्धः। न चैवं कार्यत्वादेरप्यनैकान्तिक[illegible] संभवति, पक्षाव्यापकत्वे सत्यन्वय-व्यतिरेकयोरभावस्य विपर्यये बाधकप्रमाणाभावतः [illegible] १० दित्यन्यात्।

अपि च, बुद्धिमत्कारणत्वे तन्वादीनां साध्ये तद्विपर्ययोऽबुद्धिमत्कारणाः परमाण्वादयः, न च तेभ्यो बुद्धिमत्कारणसाध्यव्यावृत्तिनिमित्तकार्यत्वादिनिवृत्तिप्रतिपादकप्रमाणप्रवृत्तिः सिद्धा, घटादेरप्यवश्यनिराकरणेन [illegible] परमाणुरूपत्वात्। न च तेभ्यो बुद्धिमत्कारणत्वाद् [illegible] कार्यत्वव्यावृत्तिः प्रत्यक्षतः सिद्धा, बुद्धिमत्कारणनिमित्तकार्यत्वग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य [illegible] १५ [illegible] तत्र प्रवृत्तेः, परमाण्वन्तरासंसृष्टपरमाणूनां च प्रत्यक्षा[illegible] साधनव्यावृत्तिप्रतिपत्तिः। नाप्यबुद्धिमत्कारणेषु कार्यत्वादेर[illegible]

[illegible]

[illegible]

स्तदैवोऽसिद्धविरुद्धत्वं धूम-[illegible]
कार्यत्वं तुल्यम्, अविशेषात् । यच्च [illegible]
इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यादृशं [illegible]
व्याप्तमुपलब्धं तादृशं तदनुमापकं [illegible]
पूर्वकत्वप्रसिद्धिं जनयति । न च तत्र केनचिद्धर्मान्तरादिधर्मेण व्यभिचारः कदाचित् केनाऽ- ५
प्युपलभ्यते । तथाभूतस्यादृष्टादेर्यत्नस्य च तत्र तदव्यभिचारः, न चेदृशं कार्यत्वमीश्वर-
स्यादिधर्मीणां व्यभिचाराद्गमकत्वं सर्वत्रा यत्नं युक्तम् । अन्यथा धूमादग्निप्रतिपत्तावपि
आत्मरूपत्वसंबन्धादिधर्मीणां व्यभिचारात् तथाभूतस्यापि गमकत्वं स्यात् । एतेन 'पूर्वोक्ताद्धेतोः
स्वसाध्यप्रसिद्धावुपायेन पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य किं विशेषः साध्यते, आहोस्वित् पूर्वहेतोः स्वसा-
ध्यसिद्धिमविकलः किमते ?' इत्यादि यदुक्तं निरस्तम्, यतो यदि कार्यत्वमात्रं हेतुत्वेन क्षित्यादौ १०
साध्यसाधकत्वेनोपादीयते तदा तस्य संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाऽसा-
धकत्वम् । अथ घटादौ बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं यत् कार्यत्वं तत् तत्र हेतुत्वेनोपादीयते, तत्
तत्रासिद्धमिति कथं तत् तत्र बुद्धिमत्कारणस्यापि गमकम् ? तदविशिष्टस्य कार्यत्वस्य व्याप्त्य-
भावाद्व्यापकविशेषसाधकहेतुव्यापारस्यास्तोऽपि कार्यत्वस्य हेतोः स्वसाध्यसाधकत्वाभावात्
स्वेष्टदेवेष्ट, कार्यत्वविशेषस्य तु तत्रासिद्धत्वादेव साध्यासिद्धिस्तदवस्थैवेति ।   १५

यच्च 'शब्दस्य कृतकत्वादनित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षतिः' इति,
तदप्यसारम्; गुणत्वं हि द्रव्याश्रितत्वादिधर्मयुक्तत्वमुच्यते, तच्चेच्छब्दे सिद्धिमासादयति तदा
पूर्वहेतुनाऽधिगमविलक्षणं तत्र स्यादन्यत एव । न हि कृतकत्वस्य तस्याऽऽश्रयादेव द्रव्याश्रितत्वम्
गुणत्वसमवायो वा संभवति, उत्पत्त्यभ्युपगमानन्तरक्षणवर्तित्वेन तत्र संभवति । न च तदाश्रितस्य
उत्पत्त्यादिकमेव तत्, स्वरविधानादेरपि तस्यप्रसङ्गादित्यादि आश्रयाश्रयिसिद्धयं हेतोः प्रतिपाद-२०
यिष्यमाणमिति न पुनरुच्यते । सर्वथोत्पादककारणत्वानित्यत्वतिरिक्तस्य क्षणमात्रस्थितेर्गुणत्वं
न संभवति तत्संभवे च हानित्वं स्यादन्यत इति प्रतिपादयिष्यामः । द्वितीये तु विकल्पे 'न च
धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि अनुमानाभावः कल्प्यते' इति यदुक्तम्, तदप्यसङ्गतम्;
यतो यदन्यादृशस्य धर्मिणः बुद्धिमद्धेतोः क्षित्यादौ सिद्धिः स्यात् तदा युक्तैतदपि यदुक्तम्-
'धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन न कस्यचिद्धेतुरनुमानाभाव' इति, तथाभूतस्य तु धर्मिणो न प्रकृतसा-२५
धनादुपगम इति प्रतिपादितम् । अत एवागमात् हेत्वन्तराद् वा न तत्र विशेषसिद्धिः, बुद्धिम-
त्कारणस्यैव धर्मिणः क्षित्यादिकर्तृत्वेनासिद्धत्वात् । ततः 'तथाऽन्वयव्यतिरेकिपूर्वं केवलव्यतिरे-
किसंज्ञकं तदेव चान्वयव्यतिरेकिलक्षणं पक्षधर्मताप्रसादात् विशेषसाधनम्' इति प्रतिपादनं
दूरापास्तम्, धर्मिसिद्धौ तद्विशेषसिद्धेर्दूरोत्सारितत्वात् । अत एव 'य इत्थंभूतस्य पृथिव्यादेः
कर्ता नियमेनाऽसावकृत्रिमज्ञानसंबन्धी शरीररहितः सर्वज्ञ एक इत्येवं यदा विशेषसिद्धिस्तदा ३०
न विशेषविरुद्धानामवकाशः' इति निःसारतया व्यवस्थितम् ।

यच्चोक्तम् 'शरीरसंबन्धस्य तावद् व्याप्त्यभावेन तत्र निराकृतिः, शरीरान्तररहितस्याऽप्यात्मनः
शरीरधारण-प्रेरणक्रियासु यथा व्यापारस्तथेश्वरस्यापि क्षित्यादिकार्ये' इति, तदप्ययुक्तम्; अप-
रशरीररहितत्वेऽप्यात्मनः शरीरसंबद्धस्यैव तद्धारणादिकर्तृत्वोपलब्धेरीश्वरस्यापि शरीरसंबद्धस्यैव
कार्यकर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यमिति प्रतिपादितत्वात् । यदि च शरीरसंबन्धाभावेऽपि तस्य क्षित्यादि-३५
कार्यकर्तृत्वं तदा वक्तव्यम्-किं पुनस्तत् तत्र ? ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायः तत् तथोक्तमेवेति
चेत्, न; समवायस्य निषिद्धत्वात् । न च कुम्भकारादौ शरीरसंबन्धव्यतिरेकेणाऽन्यत् कर्तृत्वमु-
पलब्धमितीश्वरेऽपि तदेव परिकल्पनीयम्, दृष्टानुसारित्वात् कल्पनायाः । न च शरीरव्यतिरेकेण
ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानामपि सद्भावः क्वचिदप्युपलब्ध इति नेश्वरेऽपि तद्भावोऽभ्युपग-

---

१ पृ० ६५ पं० २ । २ पृ० ९७ पं० ८ । ३ पृ० ९० पं० १० । ४-त्वानित्यत्व व०, आ० । ५ पृ० ९० पं० ११ । ६ धर्मविशेषस्य वि- व०, आ० । ७-तस्य प्र- व०, आ० । ८ पृ० ९७ पं० १४ ९-पूर्वकत्व-भा०, व०, इ० । १० पृ० ९० पं० २१ । ११ पृ० ९८ पं० २ । १२ पृ० ३९६ १३ पृ० १०६ पं० १० ।

न्तव्यः। तथाहि-ज्ञानादीनामुत्पत्तावात्मा समवायिकारणम्, आत्म-मनःसंयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरादि निमित्तकारणम्, न च कारणत्रयाभावे परेण कार्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते। न चाऽसमवायिकारणात्म-मनःसंयोगादिसद्भाव ईश्वरेऽभ्युपगत इति न ज्ञानादेरपि तत्र भावः।

अथासमवायिकारणादेरभावेऽपि तत्र ज्ञानाद्युत्पत्तिस्तर्हि निमित्तकारणेश्वरव्यतिरेकेणाङ्कुरादेः किमिति नोत्पत्तिर्युक्ता? अथ ज्ञानाद्यभावे तदनधिष्ठितानां कथमचेतनानां तदुपादानादीनां प्रवृत्तिः वास्यादिवदचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यदर्शनात्? प्रवृत्तावपि निरभिप्रायाणां देश-कालाऽऽकारनियमो न स्यात्, तदधिष्ठितस्यैव तस्य तन्नियतत्वदर्शनात्। नन्वेवं चेतनस्यापि चेतनान्तरानधिष्ठितस्य कर्मकरादेरिव स्वाम्यनधिष्ठितस्य कथं प्रवृत्तिः? अथ स्वामिन एवान्यानधिष्ठितस्य चेतनस्य प्रवृत्तिरुपलभ्यते, किमङ्कुरादेरङ्कुरोत्पत्तेरुपादानस्य तदनधिष्ठितस्य सा नोपलभ्यते? अथ घटादेरुपादानस्य तदनधिष्ठितस्य तत्करणे प्रवृत्तिर्नोपलभ्यत इत्यङ्कुराद्युपादानस्यापि तदधिष्ठितस्यैव सा प्रसाध्यते तर्हि कर्मकरादेरपि स्वाम्यनधिष्ठितस्य सा नोपलभ्यत इति स्वामिनोऽप्यपरचेतनान्तराधिष्ठितस्य सा साध्यताम्। यदि पुनः स्वामिनोऽप्यधिष्ठाता चेतनो महेशः परिकल्प्यते तर्हि तस्याप्यपर इत्यनवस्था।

न च चेतनस्याप्यपरचेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इति प्रयोगे 'अचेतनम्' इति धर्मिविशेषणस्य 'अचेतनत्वादेः' इति हेतोश्चाऽपार्थमुपादानम्, अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे व्यवच्छेद्याभावात्। न चाचेतनानामपि स्वहेतुसन्निधिसमासादितोत्पत्तीनां चेतनाधिष्ठातृव्यतिरेकेणापि देश-कालाऽऽकारनियमोऽनुपपन्नः, तन्नियमस्य स्वहेतुबलायातत्वात्, अन्यथाऽधिष्ठातृज्ञानकृतोऽपि स न स्यात्। तज्ज्ञानस्य सर्वाऽचेतनाधिष्ठायकत्वे क्षणिकत्वे च-तज्ज्ञेयत्वमेव तदधिष्ठितत्वम्—तेषां सर्वकालभाविकार्ये तदैव प्रवृत्तिरिति एकक्षण [illegible] …ावे पुनरप्यनन्तरकाल- [illegible] …तिपयाचेतनविषयत्वे च [illegible] संसारः प्रसक्तः, न हि [illegible] अथ नित्यं तज्ज्ञानमपि,

नन्वेवं 'क्षणिकं ज्ञानम्, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, शब्दवत्' इत्यत्र प्रयोगे महेशज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारः।

अथ 'तज्ज्ञानादिव्यतिरेके सति' इति विशेषणान्नायं दोषः, न, विपक्षविरुद्धविशेषणं हेतोस्ततो व्यावर्तकं भवति, अन्यथा तद्व्यावर्तकत्वायोगात्। न चाऽक्षणिकत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वं विरुद्धम्, [illegible] विरोधस्यानयोरसिद्धेः। न च विपक्षाविरुद्धविशेषणोपादानमात्रेण हेतोर्व्यभिचारपरिहारः, अन्यथा न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात्, सर्वत्र व्यभिचारविषये 'एतद्व्यतिरिक्तत्वे सति' इति विशेषणस्योपादातुं शक्यत्वात्। न च नैयायिकमतेनाऽक्षणिकं ज्ञानं संभवति "अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इति वचनात् अर्थकार्यं ज्ञानं तद्विषयमभ्युपगतम्, अर्थश्च क्रमभावी अतीतोऽनागतश्च। यच्च क्रमवज्ज्ञेयविषयं ज्ञानं तत् क्रमभावि, यथा देवदत्तादिज्ञानं [illegible], क्रमवज्ज्ञेयविषयं चेश्वरज्ञानमिति स्वभावहेतुः।

प्रसङ्गसाधनं चेदम्, तेनाश्रयासिद्धता हेतोर्नाशङ्कनीया। न च विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् व्याप्त्यसिद्धेरनैकान्तिकत्वं प्रसङ्गसाधनावकाशोऽस्तीति वक्तव्यम्, तस्य भावात्। तथाहि—यदि क्रमवता विषयेण तद् ईश्वरज्ञानं स्वनिर्भासं जन्यते तदा सिद्धमेव क्रमित्वम्। अथ न जन्यते तदा [illegible] तद् ज्ञानं स्यात्, विषयमन्तरेणापि च तस्य प्रामाण्यमभ्युपगतं दर्शनं, अतीतानागते विषये निर्विषयत्वप्रसङ्गादिति विपर्यये बाधकप्रमाणसिद्धिः।

[illegible] विरुद्धे तद्विषयत्वमत्रैवापास्य चेतनाधिष्ठितत्वस्याभावात् [illegible] प्रसक्तो पुनरनुपलम्भप्रसङ्गः। तथाहि-यद् अविकलकारणं तद् भवत्येव, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्ता सामग्री अविकलकारणो अङ्कुरः, अविकलकारणं च सर्वदा सर्वेश्वरज्ञानादिहेतुकं जगत् इति

[illegible]

[illegible]

युगपद् भवेत् । [स्यादेतत्, नेश्वरबुद्ध्यादिकमेव केवलं कारणम् अपि तु धर्माऽधर्मादिसहकारि-
कारणमपेक्ष्य तत् तत् करोति, निमित्तकारणत्वादीश्वरबुद्ध्यादेः। अतो धर्मादेः सहकारिकारणस्य
वैकल्यादविकलकारणत्वमसिद्धम्, असदेतत्। यदि हि तस्य सहकारिभिः कश्चिदुपकारः क्रियेत
तदा स्यात् सहकारिसव्यपेक्षता, यावता नित्यत्वात् परैरनाधेयातिशयस्य न किञ्चित् तस्य सहका- ५
रिभिः प्राप्तव्यमस्ति किमिति तत् तथाभूतान् अनुपकारिणोऽपेक्षेत? किञ्च तेऽपि सहकारिणः
सदा स्युः सहकारिसव्यपेक्षता। यावता नित्यत्वात् ... तदन्याः? अपरस्यसंनिधिहेतुसहकारिवैकल्यादिति
ऽेति सततं न सन्निहिता भवन्ति यदि तदन्याः? अपरापरसंनिधिप्रसक्तेः कथमनिवृत्ता
तरम्, तेषामपि तत्संनिधिसहकारिणां तदायत्तोत्पत्तीनां तदैव संनिधिप्रसक्तेः युगपत्कार्यमुपजनयतीत्यभ्युपगम-
तः? अथ नित्यत्वे तद्बुद्ध्यादिकं सहकारिकारणगुणाय पश्चादङ्कुरादिकार्यजननम् । अथातदन्या एव
र्वापरापरसहकारिजनने यथोपक्षीणशक्तित्वात् तस्य नाङ्कुरादिकार्यजननम्' इति हेतुरनैकान्तिकः १०
र्माऽधर्मादिसहकारिणः अतोऽयमदोषः। नन्वेवं तैरेव 'अचेतनोपादानत्वात्' हेतुरसिद्धः ।
यात्, अतस्तदायत्तसंनिधयो धर्मादिसहकारिण इति नाविकलकारणत्वादयुगपत्तौ सर्वदैवा-
न चानैकान्तिकोऽपि, अविकलकारणत्वहानिप्रसङ्गात्, अविकलकारणस्याप्ययुगपत्तौ सर्वदैवा-
नुत्पत्तिप्रसङ्गाय विशेषाभावात्। एतेन यदपि उद्द्योतकरेणोक्तम्-"यद्यपि नित्यमीश्वरस्य कारण-
मविकलं भावानां संनिहितं तथापि न युगपदुत्पत्तिः, ईश्वरस्य बुद्धिपूर्वकारित्वात्। यदि हीश्वरः
तथामात्रेणैवाऽबुद्धिपूर्वं भावानामुत्पादकः स्यात् तदा स्यादेतच्चोद्यम्, यदा तु बुद्धिपूर्वं करोति १५
तदा न दोषः तस्य स्वेच्छया कार्येषु प्रवृत्तेः, अतोऽनैकान्तिकत्वमेव हेतोः" [ ] इति, तदपि
निरस्तम्, न हि कार्याणां कारणस्येच्छाभावाभावापेक्षया प्रवृत्ति-निवृत्ती भवतः येनाऽप्रतिपन्नसा-
मर्थ्येऽपीश्वराख्ये कारणे सदा संनिहिते तदीयेच्छाऽभावाद् न प्रवर्तेरन्, किं तर्हि कारणगतसामर्थ्य-
भावाभावानुविधायिनो भावाः । तथाहि-इच्छावतोऽपि कर-चरणादिव्यापाराक्षमात् कुलालादेर- २०
समर्थाद् नोत्पद्यन्ते घटादयो भावाः, समर्थाच्च बीजादेरनिच्छावतोऽपि समुत्पद्यमाना उपलभ्यन्तेऽङ्कु-
रादयः। तत्र यदीश्वराख्यं कारणं कार्योत्पादकालवदप्रतिहतशक्ति सदैवावस्थितं भावानां तत् किमिति
तदीयामनुपकारिणीं नासिच्छामपेक्षन्ते येनोत्पादकालवद् युगपदेवोत्पद्येरन्? एवं हि तेऽविकल-
कारणत्वमात्मनो दर्शितं भवेत् यदि युगपद् भवेयुः । न चार्वाश्वरस्य परैरनुपकार्यस्य काचिदपे-
क्षाऽस्ति येनेच्छामपेक्षेत । न च बुद्धिविशेषव्यतिरेकेणापरेच्छा तस्य संभवति ।
बुद्धिश्चेश्वरस्य यदि नित्या व्यापिनी का चाऽभ्युपगम्येत तदा सैवाऽचेतनपदार्थाधिष्ठात्री २५
भविष्यतीति किमपरतदाधारेश्वरात्मपरिकल्पनया ? अथानाश्रितं तज्ज्ञानं न संभवतीति तदा-
त्मपरिकल्पना, ननु तदात्माऽप्यनाश्रितो न संभवतीति अपरापराश्रयपरिकल्पनयाऽनन्तेश्वरप्रसङ्गः।
द्रव्यत्वात् तस्याऽनाश्रितस्यापि सद्भावः न बुद्धेः गुणत्वात् इति नायं दोषः । ननु बुद्धस्तस्या
अन्यम्? तत्र समवेतत्वादिति नोत्तरम्, तयोरनिश्चयात्। तदाधेयत्वात् तस्याः तत्समवेतत्वमिति
न्, ननु केनैतत् प्रतीयते? न तावदीश्वरेण, तेनात्मनः ज्ञानस्य चाऽग्रहणात् 'इदमत्र समवेतम्' ३०
ति तस्य प्रतीतेरयोगात्। तज्ज्ञानस्य तत्र समवेतत्वमेव तद्ग्रहणमित्यपि नोत्तरम्, अन्योन्यसं-
प्रयात्-सिद्धे हि 'इदमत्र' इति ग्रहणे तत्र समवेतत्वसिद्धिः, अस्याश्च तद्ग्रहणसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः।
तदीश्वरस्तज्ज्ञानमात्मनि समवेतमवैति, यथाऽऽत्मीयमपि ज्ञानमात्मनि व्यवस्थितं न वेत्ति स सर्वज्ञ-
बुपादान-सहकारिकारणादिकमवगमयिष्यतीति कः श्रद्धातुमर्हति? नापि तज्ज्ञानमवैति 'स्थाणावहं
समवेतम्' इति, तेनात्मनोऽवेदनात् आधारस्य च। न च तद्ग्रहणे 'इदं मम रूपमत्र स्थितम्' इति ३५
प्रतीतिः संभवति। न च तत् आत्मानमप्यवैति, अस्वसंविदितत्वाभ्युपगमात्। न चापरं तद्ग्राहकं
नित्यं ज्ञानं तस्येश्वरस्यापि संभवति—येनैकेन सकलं पदार्थजातमवगमयति, अपरेण तु तज्ज्ञानम्—
समानकालं यावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्यत्रानुपलब्धेस्तत्रापि तत्कल्पनाऽसंभवात्। सत्कल्पने
वाऽकर्तृकमङ्कुरादिकार्यं किं न कल्प्येत? अस्तु वा तत्र यथोक्तं ज्ञानद्वयम् तथापि तयोर्ज्ञानयोरन्य- ४०
तरेण स्वग्रहणविधुरेण न स्वाधारस्य, न सहचरस्य ज्ञानस्य, नाप्यन्यस्य गोचरस्य ग्रहणम्। तथाहि—
यत् स्वग्रहणविधुरं तस्यान्यग्रहणम्, यथा घटादि, स्वग्रहणविरहितेनाऽस्य वेदने तदेव वक्तव्यम् इति न
धारस्याग्रहणात् कथं तेनास्य ग्रहणम्? तेनापि ग्रहणविरहितेनाऽस्य तदाधारस्य द्रव्यत्वं तत्संगुण-
कस्यचित् ग्रहणम् इति न तत्समवेतत्वेन तद्बुद्धेर्गुणत्वम्। नापि तदाधारस्य द्रव्यत्वं तेनैव ग्रहणम्। ४५

१ उक्तमेतद् न्यायवार्तिके "तत्कालभाव्यात् सन्तत्यहेति हीर इदं" इति पाठः न्यायवार्तिके पृ० ४६१ पं०

स्थति । तस्मान्नित्यबुद्धिपूर्वकत्वेऽङ्कुरादीनां किमिति युगपदुत्पादो न भवेत् ईश्वरस्य तद्बुद्धेश्च सदा सन्निहितत्वात् ? अनित्यबुद्धिसव्यपेक्षत्वाभ्युपगमस्याचेतनाधिष्ठायकत्वेन जगत्प्रभावे [illegible] नित्यत्वेन तद्बुद्धेरपि सदा सन्निहितत्वम्, अविकलकारणयोः सर्वदा सन्निहितत्वात् युगपदुत्पत्तियोग्यत्वप्रसङ्गः । तस्मात् 'बुद्धिमत्त्वात्' इति विशेषणमकिञ्चित्करमेव इति नाऽनैकान्तिकता [illegible] ।
५ न चापि विरुद्धता, सपक्षे भावात् । } न चैवं भवति तस्माद् विपर्ययप्रयोग:-यद् यदा न भवति न तत् तदानीमविकलकारणम्, यथा कुशूलावस्थितबीजावस्थायामनुत्पद्यमानोऽङ्कुरः, न भवति चैकदा सर्वोत्पत्तिकाले सर्वं विश्वम् इति व्यापकानुपलब्धिः । न च नित्यव्यापकस्य ईश्वरस्य तज्ज्ञानादेर्वा कारणत्वे विकलकारणत्वानुपपत्तेः प्रसाधितत्वात् । तत्र नित्यज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षा-[illegible] वत्त्वमस्य वा नित्यस्य कर्तृत्वं युक्तम् ।

१० [illegible] कुम्भकारादौ कर्तृत्वव्यापकत्वेन प्रतीतेस्तदभावे कर्तृत्वस्या[illegible] [illegible] । तत्र कश्चित् करादिव्यापारेण कारकप्रयोक्तृत्वलक्षणम्—यथा कुम्भकारस्य [illegible], अपरं वाग्व्यापारेण—यथा स्वामिनः कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वलक्षणम्, अन्यच्च प्रयत्नव्यापारेण-यथा आत्मनः शरीरावयवप्रेरकत्वलक्षणम्, त्रिविधं चित्र-प्र-[illegible] [illegible], सर्वथा शरीरसंबन्ध एव कर्तृत्वस्य व्यापकः । स [illegible]
१५ [illegible] कर्तृत्वमात्रस्य निवर्त्तते इति न तस्य कर्तृत्वमनुपपन्नमपीति प्रसङ्गः । अथ [illegible] [illegible] तदा शरीरसंबन्धः कर्तृत्वव्यापकोऽभ्युपगन्तव्य इति प्रसङ्गविपर्ययः । [illegible] कर्तृत्वम्-येन प्रसङ्ग-विपर्ययोस्तदभावे [illegible] [illegible] शरीरव्यापाराभावे [illegible] [illegible] तदभावे [illegible] इति [illegible] ।
२० [illegible] [illegible] ।

[illegible] ।

"[illegible]
[illegible] ॥"
२५ [illegible]

[illegible]

पादानोपपद्यार्थज्ञत्वलक्षणसर्वज्ञत्वसिद्धिः । यच्चोक्तम् 'क्षेत्रज्ञानां नियतार्थविषयग्रहणं सर्वविदधिष्ठिता-
नाम्, यथा प्रतिनियतशब्दादिविषयग्राहकाणामनियतविषयसर्वविदधिष्ठितानां जीवच्छरीरे' इत्यादि,
तदप्यसङ्गतम्; यतः शब्दादिविषयग्राहकाणामिति दृष्टान्तत्वेनोपन्यासो यदीन्द्रियाणां तदा तेषां
करणत्वाद् वेदनलक्षणक्रियाऽनाश्रयत्वात् कथं नियतशब्दादिविषयग्रहणम् ? अथ ग्रहणाधारत्वेन न
तेषां नियतशब्दादिविषयग्रहणं किन्तु करणत्वेन; नन्वेवं क्षेत्रज्ञानामपि विषयग्रहणे करणत्वम् न ५
कर्तृत्वमिति घटादि कुलालकर्तृकं तत्कारणशक्तिपरिज्ञानेन न सिद्धमिति कुतस्तद्दृष्टान्तात् क्षित्या-
देर्ज्ञानाधारकर्तृकत्वं सिद्धिमुपगच्छति ? यदि पुनर्ज्ञानसमवायेन चक्षुरादीनां नियतविषयाणां कर्तृ-
त्वेऽप्यनियतविषयाऽपरक्षेत्रज्ञकर्त्रधिष्ठितत्वमङ्गीक्रियते तर्हि चेतनानामपि क्षेत्रज्ञानां नियतविषयाणां
यथा परोऽनियतविषयश्चेतनोऽधिष्ठाता तथा तस्याऽपि प्रतिनियतविषयत्वकल्पनायामपरोऽनियत-
विषयस्तदधिष्ठाताऽभ्युपगन्तव्यः, तस्याप्यपर इत्यनवस्थाप्रसक्तिः । तथा, चेतनानामपि क्षेत्रज्ञानां १०
यदा चेतनोऽधिष्ठाताऽभ्युपगम्यते तदा 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्तते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत्'
इति प्रयोगेऽचेतनग्रहणं धर्मि-हेतुविशेषणं नोपादेयं स्यात्, व्यवच्छेद्याऽभावात् ।

यच्चोक्तम् 'अयत्नसिद्धा यदि तत्प्रसाधकं प्रमाणं किञ्चिदस्ति, तावत् तथाऽनुमानसिद्धत्वात्'
इति, तदप्यसङ्गतम्; यतः प्रमाणमन्तरेण हेत्वाभासाद् यथैकस्य सिद्धिरभ्युपगम्यते अपरस्यापि तत
एव सा किं नाभ्युपगम्यते ? प्रमाणसिद्धत्वं तु तावतोऽपि नास्ति, अनिष्टया तत्प्रसाधकस्य प्रमाण- १५
स्याप्रामाण्याऽऽसञ्जनात् । यदप्युक्तम् 'आगमोऽप्यस्मिन् वस्तुनि विद्यते' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्;
आगमस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्याच्च ततस्तत्सिद्धिरितीतरेतराश्रयप्रसक्तेः । नित्यस्य
त्वागमस्य प्रामाण्यं वैशेषिकैर्नाभ्युपगतम्, ईश्वरकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नाप्यन्येश्वरकृतादागमात्
तत्सिद्धिः, तत्रापि तत्कृतत्वेन प्रामाण्ये इतरेतराश्रयदोषात् । अपरेश्वरप्रणीताऽपरागमकल्पनेऽपि
तदेव चक्रकमित्यनिष्ठाप्रसक्तिः । तदेवं स्वरूपेऽर्थे आगमस्य प्रामाण्येऽपि न तत ईश्वरसिद्धिः । २०
यच्चोक्तम् 'तस्य च सत्तामात्रेण स्वविषयग्रहणप्रवृत्तानां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठायकता यथा स्फटिकादीना-
मुपधानाकारग्रहणप्रवृत्तानां सवितृप्रकाशः' तदयुक्तम्, सत्तामात्रेण सवितृप्रकाशस्यापि स्फटि-
काद्यधिष्ठायकत्वाऽसंभवात्-तदसंभवश्चाकाशादेरपि सत्तामात्रस्य सद्भावात् तदधिष्ठायकता स्यात्-
किन्तु सवितृप्रकाशस्य तद्विशिष्टस्याजनकत्वेन तदधिष्ठायकत्वम्, तथेन् क्षेत्रज्ञेष्वपीश्वरस्य परिक-
ल्प्यते तदा तेषां तत्कार्यताप्रसक्तिः; तथा च यथा क्षेत्रज्ञानामान्यत्वेऽविशिष्टेऽपि कार्यता तथेश्वर- २५
स्याप्यन्याऽविशेषात् कार्यतेति तदधिष्ठायकोऽपरस्तत्कर्ताऽभ्युपगन्तव्यः, तस्याप्यपर इत्यनवस्था ।
अथ तस्य कार्यत्वे सत्यप्यनधिष्ठितस्यैव स्वकार्ये प्रवृत्तिस्तर्हि जगदुपादानादेरपि तदनधिष्ठितस्य
प्रवृत्तिरिति व्यभिचारी अधिष्ठातृसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्तेनैव हेतुः ।

अपि च, सत्तामात्रेण तस्य तदधिष्ठायकत्वे गगनस्येव न सर्वज्ञत्वम् इति सर्वज्ञत्वसाधक-
हेतोस्तद्विपर्ययसाधनाद् विरुद्धत्वम् । न च सर्वविषयज्ञानसमवायात् तत्र तस्यैव सर्वज्ञत्वं नाऽऽका- ३०
शादेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषिद्धत्वात् । सत्त्वेऽपि नित्यव्यापकत्वेनाकाशादावपि
सद्भावप्रसङ्गात् । न च समवायाऽविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेष इति वक्तुं शक्यम्, तद्विशेषस्यैवा-
सिद्धत्वात् । सिद्धत्वेऽपि सम्बन्धप्रतिनियमस्यैवासंभवात् इति प्रतिपादितप्रायत्वात् । न च
सत्तामात्रेण तस्य तदधिष्ठायकत्वे ज्ञानमात्रमप्युपयोगि, आस्तां सकलपदार्थसार्थसाक्षात्करणज्ञानम् ।
यदप्युक्तम् 'ज्ञानस्य स्वविषयसंदर्शकत्वं नाम स्वभावः, तस्याऽन्यथाभावः पुनर्धर्मादेः सद्भावात्' ३५
तत् मतमेव । यच्चोक्तम् 'यत् पुनश्चक्षुरादिजनिताश्रितं न च रागादिमलाऽऽवृतं तस्य निरवशेषार्थ-
प्रकाशकत्वम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतो न चक्षुरादिजनिताश्रितं ज्ञानं तस्य सिद्धम्, तन्निवृत्तौ
चक्षुरादिजनिताश्रितस्य ज्ञानस्यैव मुख्यस्यापि निवृत्तेरनन्तरूपता कथं मुक्तात्मनः संपद्यते-न्येव 'बुद्ध्या-
दिगुणरहितस्यात्मनः स्वरूपे मुक्तिः' इत्यभ्युपगमः शोभेत ? न च रागादेरावरणस्याभावो अदृष्टेऽ
सिद्ध-येव तस्यावरणाभावेऽशेषार्थविषयं तत्र सिद्धिमुपगच्छेत्, ४०
रागाद्यभावस्याशेषार्थविषयज्ञानाविनाभावित्वासिद्धेरन्यथाऽभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् ।

---

१ पृ० ९८ पं० ११। २ पृ० १०३ पं० ११-१४। ३ पृ० ९४ पं० १५१।
४ पृ० ९९ पं० १५। ५ पृ० ९९ पं० १९। ६ पृ० ९९ पं० २०।

यदुक्तम् 'विपर्यासकारणा रागादयः, विपर्यासश्चाधर्मनिमित्तः, न च भगवत्यधर्मः' इति, तदप्यसारम्; अधर्मवद् धर्मस्यापि तज्जनोऽस्य सम्यग्ज्ञानादेस्तत्रासंभवस्य प्रतिपादितत्वात्। यच्चोक्तम् 'रागादय इष्टानिष्टसाधनेषु विषयेषूपजायमाना दृष्टाः, न च भगवतः कश्चिदिष्टानिष्टसाधनो विषयः, अवाप्तकामत्वात्' इति, तदप्यसारम्; यतो यदि इष्टानिष्टसाधनो न तस्य कश्चिद्विषयः कथं
५ तर्हि [illegible]
पूर्वक [illegible]
हेयोप [illegible]
नुपपत्तेः। अनाप्तकामत्वमप्यनीश्वरत्वेन व्याप्तम्, ईश्वरस्यानाप्तकामत्वायोगाद् इति यत्र बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिष्यते तत्र हेयोपादेयजिहासोपादित्से अवश्यमङ्गीकर्तव्ये, यत्र च ते तत्रानाप्तकामत्वम्,
१० यत्र च तत् तत्रानीश्वरत्वम् इति प्रसङ्गसाधनम्। ईश्वरत्वे चावाप्तकामत्वम्, अवाप्तकामत्वाच्च न हेयोपादेयविषये तद्धानोपादानेच्छा, तदभावे न बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिति प्रसङ्गविपर्ययः। अत एव स्वतन्त्रसाधनपक्षे यद् आश्रयासिद्धत्वादिहेतुदोषोद्भावनम् तदसंगतम्, व्याप्तिप्रसिद्धिमात्रस्यैवात्रोपयोगात्; सा च प्रतिपादिता। 'या तु प्रवृत्तिः शरीरादिसर्गे सा क्रीडार्था, अवाप्तकामानामेव च क्रीडा भवति' इति यदुक्तम् तदसंगतम्, 'रतिमविन्दतामेव क्रीडा भवति, न च रत्यर्थी भगवान्,
१५ दुःखाभावात्' इति वार्तिककृतैव प्रतिपादितत्वात्। यच्चोक्तम् 'न हि दुःखिताः क्रीडासु प्रवर्तन्ते' इति, तत् प्रक्रमानपेक्षं वचनम्; दुःखाभावेऽपि क्रीडावतां रागाद्यासक्तिनिमित्तेष्टसाधनविषयव्यतिरेकेण तस्यासंभवात्।

यच्च 'कारुण्यात् तस्य तत्र प्रवृत्तिः' इत्यादि, तदप्यनालोचिताभिधानम्; नहि करुणावतां यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिगणदुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। न च तथाभूतकर्मसव्यपेक्षस्तथा तेषां
२० दुःखोत्पादकोऽसौ निमित्तकारणत्वात् तस्येति वक्तुं युक्तम्, तत्कर्मणामीश्वरानायत्तत्वे कार्यत्वे च तेनैव कार्यत्वलक्षणस्य हेतोर्व्यभिचारित्वप्रसङ्गात्। तत्कृतत्वे वा कर्मणोऽभ्युपगम्यमाने प्रथमं कर्म प्राणिनां विधाय पुनस्तदुपभोगद्वारेण तस्यैव क्षयं विदधतो महेशस्याऽप्रेक्षाकारिताप्रसक्तिः, न हि प्रेक्षापूर्वकारिणो गोपालादयोऽपि प्रयोजनशून्यं विधाय वस्तु ध्वंसयन्ति। तत्र करुणाप्रवृत्तस्य कर्मसव्यपेक्षस्यापि प्राणिदुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। किञ्च, प्राणिकर्मसव्यपेक्षो यद्यसौ प्राणिनां
२५ दुःखोत्पादक इति न कृपालुत्वव्याघातस्तर्हि कर्मपरतन्त्रस्य प्राणिशरीरोत्पादकत्वे तस्याभ्युपगम्यमाने वरं तत्फलोपभोक्तृसत्त्वस्य तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, एवमदृष्टेश्वरपरिकल्पना परिहृता भवति। 'यथा प्रभुः सेवाभेदानुरोधात् फलप्रदो नाऽप्रभुस्तथा महेश्वरोऽपि कर्मापेक्षफलप्रदो नाप्रभुः' इत्यप्ययुक्तम्; यतो यथा राज्ञः सेवाऽऽयत्तफलप्रदस्य रागादियोगः नैर्घृण्यम् सेवाऽऽयत्तता च प्रतीता तथेशस्याप्येतत् सर्वमभ्युपगमनीयम्; अन्यथाभूतस्यान्यपरिहारेण क्वचिदेव
३० सेवके सुखादिप्रदत्वानुपपत्तेः। तदेवं कर्मपरतन्त्रत्वे तस्यानीशत्वम्, करुणाप्रेरितस्य कर्तृत्वे "सृजेच्च शुभमेव सः" इति वार्त्तिककारीयदूषणस्य व्यवस्थितत्वम्। यच्च 'नारक-तिर्यगादिसर्गोऽप्यकृतप्रायश्चित्तानां तत्रत्यदुःखानुभवे पुनर्विशिष्टस्थानावाप्तौ अभ्युदयहेतुरिति सिद्धं दुःखिप्राणिष्वप्यपि करुणया प्रवर्तनमीशस्य' इति, तदपि प्रतिविहितमेव; यतः कर्म प्राणिनां दुःखप्रदं विधाय तत्फलोपभोगविधानद्वारेण क्षयनिमित्तं प्राणिनामभ्युदयं विदधतस्तस्याऽशुचिस्थानपतितगृहीतप्रक्षालित-
३५ मोदककल्याणविधायिनो नग्नमानयुक्तित्वप्रसक्तिः। अपि च, यदि प्राणिकर्मपरवशस्तेषां दुःखादिकं तत्क्षयनिमित्तप्रायश्चित्तकल्पमुपजनयतीत्यभ्युपगमस्तदा तत्कर्मकार्यत्वं तस्य प्रसक्तम्–तत्कृतोपकाराभावे तदपेक्षाया अयोगात्; उपकारस्य च तत्फलस्य तद्भेदे तेन संबन्धायोगात्, अभिन्नस्य तत्करणे तस्यैव करणमिति कथं न तत्कार्यत्वम्?

अथ यद् यदा यत्र कर्मादिकं सहकारिकारणमासादयति तेन सह संभूय तत् तदा तत्र सुखादिकं कार्यं जनयति, एककार्यकारित्वमेव सहकारित्वमिति न कार्यत्वलक्षणस्य दोषः; ननु कर्मादिसहकारिभिर्व्यपेक्षः कार्यजननस्वभावस्तस्य कर्मादिसहकारिसन्निधानाद् यदि प्रागप्यस्ति तदा–

१ पृ० ९९ पं० २१। २ पृ० ९९ पं० २६। ३ प्र० पृ० पं० ७। ४ पृ० ९९ पं० २८। ५ पृ० ९९ पं० ३०। ६ पृ० ९९ पं० ३१। ७ पृ० ९९ पं० ३२। ८–कर्मणं ई–(ण ई–) आ०, बा० विना। ९ पृ० ९९ पं० ३८। १० पृ० १०० पं० ३। ११ पृ० १०० पं० ८। १२ प्र० पृ० पं० ३२।

...कारिसन्निधानेऽपि स्वरूपेणैवाऽसौ कार्यं निर्वर्तयति, पररूपेण जनकत्वे सर्वस्य स्वरूपेणाजन-
...त्वात् कार्याऽनुत्पादप्रसङ्गः, तस्य चाविकलस्य तज्जननस्वभावस्य मायादुत्तरकालभाविसमस्त-
...कार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात् । तथाहि—यद् यदा यज्जननसमर्थं तत् तदा तद् जनयत्येव, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तं ५
बीजमङ्कुरम्, अजनने वा तदा तस्य तद् जननस्वभावमेव न स्यात्, तज्जननस्वभावश्च कर्मादि-
सामग्र्यसन्निधानेऽप्येकस्वभावतयाऽभ्युपगम्यमानो महेश इति स्वभावहेतुः । अथ कर्मादिसामग्र्यभावे
तत्स्वभावोऽप्यसौ विवक्षितकार्यं न जनयति, न तर्हि तज्जननस्वभावः—यो हि यदा यन्न जनयति
स तज्जननस्वभावो न भवति, यथा शालिबीजं यवाङ्कुरस्य, अतज्जनकस्यापि तत्स्वभावत्वेऽतिप्रसङ्गः,
न जनयति च कर्मादिसामग्र्यभावे विवक्षितं कार्यमीश इति व्यापकाऽनुपलब्धिः । अथ कर्मादि- १०
सामग्र्यभावे स स्वभावस्तद्विपक्षकार्यजनकत्वलक्षणो नास्ति तर्हि स्वभावभेदात् कथं न तस्य भेदः
अपरस्य तद्विपर्ययस्याभावात् ? तथा च क्रमवर्त्यनेकमङ्कुरादिकार्यं नावमेकेश्वरविहितम् इति
नैकत्वं तस्य सिद्धिमासादयति । तत्र सर्वेषामन्याऽनारीत्यैकत्वादिधर्मयोगस्य सिद्धिमुपदर्शिते ।
'नापि कृत्रिमज्ञानसंबन्धित्वं तज्ज्ञानस्य प्रत्यर्थनियमाभावात्' इत्यादि यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्,
नित्यसर्वपदार्थविषयज्ञानसंबन्धित्वस्य तत्र प्रतिषिद्धत्वात् । १५

यच्च 'यथा स्थपत्यादीनां महाप्रासादादिकरणे एकाभिप्रायनियमितानामेकमत्यं तद्वदत्रापि'
यदि क्षित्याद्यनेककार्यकरणे बहूनां नियामकः कश्चिदेकोऽस्ति, स एवेश्वरः' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्,
यतो न ह्ययं नियमः—एकेनैव सर्वं कार्यं निर्वर्तनीयम्, एकनियमितैर्वा बहुभिरिति; अनेकधा कार्यक-
र्तृत्वदर्शनात् । तथाहि—कश्चिदेक एवैककार्यस्य विधाता उपलभ्यते यथा कुविन्दः कश्चिदेकस्य पटस्य,
क्वचिदेक एव बहूनां कार्याणाम् यथा घट-शरावोदञ्चनानामेकः कुलालः, क्वचिदनेकोऽप्यनेकस्य पुन- २०
यथा घट-पट-शकटादीनां कुलालादिः, क्वचिदनेकोऽप्येकस्य यथा शिबिकोद्वहनादावनेके ...
समुदाय: । न च प्रासादादिलक्षणेऽप्यनेकस्थपत्यादिनिर्वर्त्येऽप्यवश्यंतयैकसूत्रधारनियमितानां ... इति
... उपलब्धः, प्रतिनियताभिप्रायाणामप्येकसूत्रधाराऽनियमितानां तत्करणोऽविरोधात् ... तस्य पुनः ।
... अत एव न तद्विकल्पना सर्वथान्यसिद्धापि ... च ...
... कर्ता क्षित्यादीनां सिद्धिमासादयति । ... तद्विपर्ययसाधकत्व ... यदि क्षित्यादौ
... नित्यत्वादिविशेषणसाकल्यसाधकानुमानाऽसंभवात्, ... कार्यत्वादि-
... विशेषविरुद्धसाधनत्वात् ? अथ शरीरादिमद्बुद्धिमत्कारणत्वस्य सिद्धेरिति भवेत् कार्यत्वात् ...
... भावात् कथं न विशेषविरुद्धता ? ... सिद्धिमासादयत् तथाभूतमेव सिध्येत् इति कथं विरुद्धता ? ...
कार्यत्वमुपलभ्येत तदा ततस्तत्र तत् सिद्धिमासादयत् तथाभूतं तत् तत्र सिध्येत् इति कथं विरुद्धता ? ...
... साध्यविपर्ययसाधनात्, न च तथाभूतं तत् तत्र ... साध्यविपर्ययसाधनात् । परमार्थतस्तु कार्यत्वादि ...
विरुद्धत्वम्, साध्यविपर्ययसाधनात्, न च ... पाऽऽश्रित्य विरुद्धाभिधानात् । तयोस्तु ... इति
धर्मिस्वरूपसाधनत्वम् विपर्ययत्वानि चाऽऽश्रित्य विरुद्धत्वम् इति प्रतिपादितम् । ... तान्यपि दूषणानि इति
क्षित्यादावविरुद्धत्वम् तत्सामान्यस्य व्यभिचारितत्वम् इति कार्यत्वस्य दूषणत्वेन तान्यपि ... सर्वं संपू...
योगस्यतेष्वनुमानेष्वविरुद्धत्वादिदोषः समानः इति ... तद्वादिभिरभ्युपगम्यते । न चाप्रतिकस्य सर्वं संपू...
प्राप्नुयादयं दूषणम् । महेश्वरस्य च नित्यत्वं तद्वादिभिरभ्युपगम्यते ...
इति प्रतिपादयिष्यामः ।

यच्च 'पृथिव्यादिमहाभूतानि स्थास्नु चिन्त्यानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते, अनित्य...
वास्यादिवत्' इति, तत्र कुलालादिबुद्धिवत्तथ्यविरूप्यकारणस्य हेतोः सद्भावात् तत्राप्यपरबुद्धि...
...अभिधिष्ठितत्वप्रसक्तिः, तथाऽभ्युपगमे महेशबुद्धेरप्यनित्यत्वस्य प्रसाधनात्, तस्याप्यपरबुद्धि...
...त्वम्, तद्भावप्रसङ्गोऽयम् इत्यनवस्था । अथ बुद्धेरनित्यत्वे सत्यपि न बुद्धिमदधिष्ठित...
...यमिचारी हेतुः, अपरो वाऽत्र प्रतिविहितत्वाद् विवादाद् दूषणम् । तत्र कार्यत्वादेतोरपि ... तदा सन्न...
...समानम् । तथाहि—शरीरमनित्यं बुद्धिमदधिष्ठितं (न) यथार्थं सिद्धं साध्यं ... प्रतिबन्धाऽभ्युपगमे सर्वत्रादौ ... साधकत्वादिति ।
अनित्यत्वमात्रस्य प्रतिबन्धाविरुद्धव्यभिचारः । प्रतिबन्धाऽभ्युपगमे साध्यधर्मत्वमपदार्थत्वादिदोषः । एवं सर्वेषु ...
साधर्म्यदृष्टान्तस्य साध्यविकलता, विशेषबुद्धिमदधिष्ठितत्वेन साध्यधर्मत्वादसाधारणतादिति । एवं सर्वेषु
साध्ये सिद्धसाधनता, विशेषेण व्यभिचारः, घटादिष्वप्यसाधारणत्वादिति ।
साधनप्रयोगेषु हेतुषु दोषाः ।

---

१ पृ० १०० पं० ११ । २ पृ० ११६ पं० ११ । ३ पृ० १०० पं० ११ । ४—निर्दं ...
... । ६ पृ० ११५ पं० ११-२० । ७ पृ० १०० पं० ११ ।

यच्चं 'स्थित्वा प्रवृत्तेः' इति साधनमुक्तम्, तत्रान्यदपि दूषणं वाच्यम्-सर्वभावानामुत्पन्न[illegible] स्याऽपवर्गितया क्षणमात्रमपि न स्थितिरस्ति इति कुतः स्थित्वा प्रवृत्तिः? तस्मात् प्रतिवाद्यसिद्धो हेतुः अनैकान्तिकश्चेश्वरेणैव; यतः सोऽपि क्रमवत्सु कार्येषु स्थित्वा प्रवर्तते अथ च नासौ [illegible] यत्नाऽधिष्ठितः अनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ 'अचेतनत्वे सति' इति सविशेषणो हेतुरुपादीयते [illegible]
५प्रशान्तमतिनोऽन्यस्तत्रापि संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकतयाऽनैकान्तिकत्वमनिवार्यम्-यदेव हि विपक्षं विपक्षाद्धेतुं निवर्तयति तदेव न्याय्यम्, यत् पुनर्विपक्षे संदेहं न व्यावर्तयति तदुपादानमनर्थकम्, पूर्वोक्तव्यासिद्धतादोषः सविशेषणत्वेऽपि तदवस्थ एव। यच्चोक्तम् 'सर्गादौ [illegible]' इत्यादि- तत्रापि 'उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्' इत्येतद् विशेषणमसिद्धम्। तथाहि-जात्यन्तरे [illegible] प्रत्यभिज्ञान-स्मृतयो विनष्ट-करणाः पुरुषाः संतिष्ठन्ते [illegible] [illegible]
१०[illegible]; ये तु प्रतिनियतनिरुपाधिविपाकसंवर्तनीयकर्माणस्ते [illegible] इति मतम्। विवर्तकालेऽपि तत एव आभास्वरादेरच्युत्वा [illegible]-स्मृत्यः एव [illegible] तस्मात् 'उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्' इति विशेषणमसिद्धम्। अनैकान्तिकश्च हेतुः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।

किञ्च, ब्रह्मोपदेशपूर्वकत्वमावे साध्ये सिद्धसाध्यता, अनादेर्वर्णव्यवहारस्य सर्गेणामेवाऽऽम्नायोपदेश
१५पूर्वकत्वेनेष्टत्वात्। अथेश्वरकृताम्नायोपदेशपूर्वकत्वं साध्यते तदाऽनैकान्तिकता, अन्यथाऽपि [illegible], [illegible] च [illegible]। [illegible] पूर्वोक्तम्। विरुद्धश्च हेतुः [illegible] प्रतिबन्धाः, निर्गुणस्येश्वरस्योपदेशासंभवात्-यदि ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वं [illegible] [illegible] तदा [illegible] हेतो [illegible] निर्गुणस्यापदेशो न युक्तः, तच्च निर्गुणं [illegible], सर्वधर्मातीतत्वात्, तथा च [illegible]-"यथा [illegible]
२०[illegible], नैवं धर्माऽऽदिनिष्ठत्वं प्रमाणमस्ति" [न्याय० पृ० ४५४ पं० १४] इति। [illegible]
[illegible] न सिध्यति [illegible] [illegible], अत [illegible] विरुद्धो हेतुः। यथेश्वरस्योपदेश[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। अत एव
२५[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
३०[illegible]

[illegible]
३५[illegible]
[illegible]
४०[illegible]

[illegible]

शोभते । अथोत्तरात्मा सर्वदा स्वरूपेण तद्रोगतरकारेण प्रतिबन्धात्रिदेहेतुकामनैकान्तिकता, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलतेति । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थो निःसारतयोपेक्षितः । अत ईश्वरसाधकस्य तन्नित्यत्वादिधर्मसाधकस्य च प्रमाणस्याभावात् "क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [योगद० पा० १, सू० २४] इत्यादि सर्वमयुक्ततया स्थितम् । अतो भवहेतुरागादिजयात् शासनप्रणेतारो जिनाः सिद्धाः । अतः सुव्यवस्थितमेतत् भवजिनानां शासनमिति । ५

ननु यदि तेषां भवनिबन्धनरागादिजेतृत्वं तदा शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, तद्धानकारणस्तालूपर्यायानाः शरीराभावे वक्तृत्वासंभवात् । अथ रागादिक्षयानन्तरं नापवर्गप्राप्तिस्तर्हि रागादिजयो न भवहेत्वपवर्गप्राप्तिकारणम्, न हि यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत् तदविकलकारणं व्यवस्थापयितुं शक्यम्, यथाऽङ्कुरानुत्पादकं बीजम् । अथ निरवशेषरागादिक्षयात् अपवर्गप्राप्तौ प्रागेव तत्प्रणेतृत्वादिदोषः तथैवं तदागमस्य सकलेशाऽऽविष्टपुरुषप्रणीतत्वेन कैश्चिदीयं प्रामाण्यं, १० कपिलादिपुरुषप्रणीतस्येव इत्याशङ्क्याह सूरिः-'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' इति । अस्याभिप्रायः-यद्यपि सर्वप्रमाप्रतिबन्धिघातिकर्मचतुष्टयक्षयाविर्भूतकेवलज्ञानभास्वरो जिनास्तथापि भवोपग्राहिशरीरनिबन्धनस्य कर्मणः सद्भावादवस्थितिकस्य न शरीराद्यभावात् शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, नापि रागादिक्लेशानुगमात् तत्प्रणीतागमस्याऽप्रामाण्यम्, विपर्यासहेतोर्घातिकर्मणोऽत्यन्तक्षयात् । न च कर्मक्षयात् स्वरूपावस्थितिनिमित्तम्, भवोपग्राहिणोऽपि सामस्त्येनाक्षयात् तत्क्षये चापवर्गस्यानन्तरभावित्वात् कर्मक्षयस्यैवापवर्गप्राप्त्यविकलकारणत्वादिति । अयमत्रार्थस्तु-तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयाविर्भूतानन्तज्ञानसुखरूपात्मतया मुक्तात्मानोऽस्मिन्निति स्थानं लोकाग्रलक्षणं निःशेषदोषम्, न विद्यते उपमा स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधारहितत्वेन च सर्वसुखातिशायित्वात् १५ [illegible] भातानाम्, यद्वा [illegible] स्थानमनुपमसुखं २० [illegible] " [ ] [illegible] तेन शासनप्रणे- [illegible]

यद्वा "मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति व्योमवत् तापवर्जिताः" [ ] इत्येतस्य दुर्नयस्य निराकरणायाह सूरिः- 'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' अत्र च स्थानमनुपमसुखम्-प्रकर्षेण अपुनरावृत्त्या २५ गतानाम्-उपगतानामिति व्याख्येयम् ।

अथवा "बुद्ध्यादीनां नवानां विशेषगुणानामात्यन्तिकः क्षय आत्मनो मुक्तिः" [ ] इति मतव्यवच्छेदार्थमाचार्येण-'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' इति सूत्रमुपन्यस्तम् । अस्य चायमर्थः-स्थितिः स्थानं स्वरूपमात्मलाभः अनुपमसुखम् 'उप' इति सकलकर्मक्षयानन्तरमव्यवधानेन गतानां प्राप्तानाम्-शैलेश्यवस्थाचरमसमयोपादेयभूतमनन्तसुखस्वभावमात्मनः कथञ्चिदनन्यभूतं ३० स्वरूपं प्राप्तानामिति यावत् ।

[आत्मपरिमाणवादः]

[पूर्वपक्षः-आत्मनो विभुत्वस्थापनम्]

अत्राहुर्वैशेषिकाः—सर्वमेतदनुपपन्नम्, आत्मनो विभुत्वेन निःशेषस्थानप्राप्तिनिमित्तगत्यसंभवात्, कर्मक्षये च शरीराद्यभावे मुक्तात्मनां सुखस्य तदुत्पत्तिनिमित्तासमवायिकारणाभावेनोत्पत्त्यसंभवात्, नित्यस्य चानन्यव्यापिनश्च विशिष्टस्यानुपलम्भेनासत्त्वात् । ३५

न चात्मनो विभुत्वमसिद्धम्, अनुमानात् तत्सिद्धेः । तथाहि-पुरुषाधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्, यद् यद् नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानं तत् तद् विभु, यथा आकाशम्, तथा च पुरुषाधिकरणं द्रव्यम्, तस्माद् विभु । { न च

१-तारो जिना भवन्ति जिनाः वा०, बा० विना । २-दस्यविधि(स्थापयि)तुश शं वा०,

बुद्धेर्गुणत्वासिद्धेर्हेतुविशेषणासिद्धया हेतोरसिद्धिरभिधातुं शक्या, बुद्धिगुणत्वस्यानुमानात् सिद्धेः। तथाहि-गुणो बुद्धिः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात्, यो यः प्रतिषिध्यमान-द्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धी स स गुणः यथा रूपादिः, तथा च बुद्धिः, तस्माद् गुणः। न च प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वमसिद्धं बुद्धेः। तथाहि-बुद्धिर्द्रव्यं न भवति, एकद्रव्यत्वात्, यद् ५यद् एकद्रव्यं तत् तद् द्रव्यं न भवति यथा रूपादि, तथा च बुद्धिः, तस्माद् न द्रव्यम्। न चायमसिद्धो हेतुः। तथाहि-एकद्रव्या बुद्धिः, सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, यद् यत् सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षं तत् तद् एकद्रव्यम्, यथा रूपादि, तथा बुद्धिः, तस्मादेकद्रव्या। न च 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः, तस्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे विवादात्। नापि वायुना, तत्रापि तत्प्रत्यक्षत्वस्य विवादास्पदत्वात्। तथापि रूपत्वादिना १०व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'सामान्य-विशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणोपादानम्। न च रूपस्यान्तःकरणग्राह्यतया द्वीन्द्रियग्राह्यता, चक्षुरिन्द्रियस्यैव 'चक्षुषा रूपं पश्यामि' इति व्यपदेशहेतोस्तत्करणत्वसिद्धिः, मनसस्त्वन्तरार्थप्रतिपत्तावेवाऽसाधारणकरणत्वात्। अथवा एकद्रव्या बुद्धिः, सामान्य-विशेषवत्त्वे अगुणवत्त्वे च सत्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्, शब्दवत्। तथा, न कर्म बुद्धिः, संयोग-विभागाकारणत्वात्, यद् यत् संयोगविभागाकारणं तत् तत् कर्म न भवति, यथा रूपादि, १५तथा च बुद्धिः, तस्माद् न कर्म। तस्मात् सिद्धः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावो बुद्धेः। न च सत्तासंबन्धित्वमसिद्धं बुद्धेः, तत्र 'सत्' इति प्रत्ययोत्पादात्। न च सत्ता भिन्ना न सिद्धा, तद्भेदप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात्। तथाहि-यस्मिन् भिद्यमानेऽपि यन्न भिद्यते तत् ततोऽर्थान्तरम्, यथा भिद्यमाने वस्त्रादावभिद्यमानो देहः, भिद्यमाने च बुद्ध्यादौ न भिद्यते सत्ता, बुद्ध्यादौ सर्वत्र 'सत् सत्' इति प्रत्ययाभिधानदर्शनात्, अन्यथा तदयोगात्। सा च बुद्धिसंबद्धा, तत्कृत-२०विशिष्टप्रत्ययप्रतीतेः। तथाहि—यतो यत्र विशिष्टप्रत्ययः स तेन संबद्धः, यथा दण्डो देवदत्ते, भवति च बुद्ध्यादौ सत्तानिमित्तप्रत्ययः, ततस्तया संबद्धेति। 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वात्' इत्युच्यमाने सामान्यादिना व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासंबन्धित्वात्' इति वचनम्। 'सत्तासंबन्धित्वात्' इत्युच्यमाने द्रव्य-कर्मभ्यामनैकान्तस्तन्निवृत्त्यर्थं 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति' इति विशेषणम्। तदेवं प्रवर्तमानोऽनुमानाद् बुद्धेर्गुणत्वसिद्धिः। [illegible] च २५बुद्धेस्तद्देशार्थसमवेतानामन्यत्रानुपलभ्यमानत्वात् नासिद्धम्। नित्यत्वं चात्मनः 'अकार्यत्वात्, आकाशवत्' इत्यनुमानसिद्धम्। अतो 'नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्' इति हेतुर्नासिद्धः।

[illegible], विपक्षेऽप्रवृत्तेः। नापि विरुद्धः, [illegible]। नापि [illegible], प्रत्यक्षाऽऽगमयोः [illegible]। नापि प्रकरणसमः, [illegible]। इति भवति सकलदोषरहितात् [illegible] हेतोः सर्वगता-३०त्मसिद्धिः।

[उत्तरपक्षः-आत्मनो विभुत्वं निरस्य देहमात्रव्यापित्वस्थापनम्]

[illegible] बुद्धेर्गुणत्व [illegible] हेतुः। [illegible] प्रतिषिध्यमान-द्रव्य-कर्मत्वे सति सत्तासंबन्धित्वात्' इति गुणत्वे [illegible] 'सत्तासंबन्धित्वात्' इति [illegible] हेतुः [illegible]।

३५ [illegible] च बुद्धेः [illegible] 'आत्मनो [illegible] गुणाः [illegible]' इति [illegible]। [illegible] 'आत्मन [illegible] गुणो [illegible]' इति [illegible] ? न [illegible], [illegible] बुद्धेः [illegible], [illegible]

[illegible]

[illegible] । [illegible] ? [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] इति [illegible] ।

[illegible] इति [illegible] । [illegible] ।

किञ्च, [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ? [illegible] ? [illegible] ? [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] इति [illegible]

[illegible]

विशेषणासिद्धो हेतुः प्रसक्तः। साध्य-साधनधर्मविकलस्याकाशस्याप्यसतः साधर्म्यदृष्टान्तः, विभुत्व-नित्यत्वयोरस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनधर्मस्य, विभुत्वलक्षणसाध्यधर्मस्य तत्रासिद्धेः।

अथ 'शब्दाधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्, आत्मवत्' इत्यतो हेतोस्तत्र विभुत्वस्य सिद्धेर्न साध्यविकलो दृष्टान्तः। नापि साधनविकलः, अस्मदादिप्रत्यक्षशब्दगुणाधिष्ठानत्वस्य तत्र सिद्धत्वात्—न च शब्दस्यास्मदादिप्रत्यक्षत्वम् गुणत्वं वाऽसिद्धम्, श्रोत्रव्यापारेणाध्यक्षबुद्धौ शब्दस्य परिस्फुटरूपतया प्रतिभासनात् निषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्तासंबन्धित्वात्, पृथिव्यादिवृत्तित्वबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणत्वाऽऽश्रितत्वेनाकाशाऽऽश्रितत्वसिद्धेश्च न साधनविकलताऽप्याकाशस्य। असदेतत्; सिद्धे ह्यात्मनो विभुत्वे तन्निदर्शनादाकाशस्य विभुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चात्मनो विभुत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् नाप्याकाशस्य विभुत्वसिद्धिरिति साध्यविकलता तदवस्थैव। यच्च शब्दस्य गुणत्वसाधकमनुमानं तत्र 'सत्तासंबन्धित्वात्' इति हेतौ सत्तायाः तत्संबन्धित्वहेतोः समवायस्य चासिद्धत्वादसिद्धता, 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणस्य चासिद्धता, शब्दस्य द्रव्यत्वात्।

[प्रासङ्गिकं शब्दस्य द्रव्यात्मकत्वसाधनम्]

तथाहि-द्रव्यं शब्दः, क्रियावत्त्वात्, यद् यत् क्रियावत् तत् तद् द्रव्यम्, यथा शरः, तथा च शब्दः, तस्माद् द्रव्यम्। निष्क्रियत्वे श्रोत्रेणाग्रहणप्रसङ्गः, तेनानभिसंबन्धात्। तथापि ग्रहणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिः। तथा च 'प्राप्यकारि चक्षुः, बाह्येन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्' इत्यस्य श्रोत्रेणानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः। संबन्धकल्पनायां वा श्रोत्रं वा शब्ददेशं गत्वा शब्देनाभिसंबध्येत, शब्दो वा श्रोत्रदेशमागत्य तेनाभिसंबध्येत? न तावत् प्रथमः पक्षः, स्वधर्माऽधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोदेशलक्षणश्रोत्रस्य शब्दोत्पत्तिदेशे निष्क्रियत्वेन तथाप्रतीत्यभावेन च गत्यसम्भवात्। गत्यभ्युपगमे वा विवक्षितशब्दान्तरालवर्तिनामन्यान्यशब्दानामपि ग्रहणप्रसङ्गः, संबन्धाविशेषात्। अनुवात-प्रतिवात-तिर्यग्वातेषु च प्रतिपत्तृप्रतिपत्तीः प्रतिपत्तिभेदाभावप्रसङ्गश्च, श्रोत्रस्य गच्छतस्तत्कृतोपकाराद्ययोगात्। नापि शब्दस्य श्रोत्रदेशागमनसम्भवः, गुणत्वेन तस्य निष्क्रियत्वोपगमात् आगमने वा सक्रियत्वाद् द्रव्यत्वमेव।

अथापि स्यात् न आद्य एवाकाशतद्वेणुमुखसंयोगात् समवाय्यऽसमवायि-निमित्तकारणादुद्भूतः शब्दः श्रोत्रेणागतः संबध्यते येनायं दोषः स्यात्, अपि तु जलतरङ्गन्यायेनापरापरएवाकाश-शब्दादिलक्षणात् समवाय्यऽसमवायि-निमित्तकारणादुपजातस्तेनाभिसंबध्यत इति। नन्वेवं बाणादयोऽपि पूर्वपूर्वसमानजातीयक्षणप्रभवा अन्ये एव लक्ष्येणाभिसंबध्यन्त इति किं नाभ्युपगम्यते? तथा च क्रियायाः सर्वत्राभाव इति 'क्रियावद् द्रव्यम्' इति द्रव्यलक्षणं न कचिद् व्यवतिष्ठेत। अथ प्रत्यभिज्ञानाद् बाणादौ नित्यत्वसिद्धेर्नेयं कल्पना। नन्वेवं शब्देऽपि माभूदियम्, तत्राप्येकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य 'देवदत्तोच्चारितं शब्दं शृणोमि' इत्येवमाकारेणोपजायमानस्याऽबाधितस्वरूपस्यानुभवात्। न च लूनपुनर्जातकेश—नखादिष्विव सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत् प्रत्यभिज्ञानमिति वक्तुं शक्यम्, बाणादावपि तस्य तथात्वाविशेषात्।

अथ शब्दे बाधकसद्भावात् तथा तत्परिकल्पनम् न बाणादौ, विपर्ययात्। ननु न शब्दैकत्वविषयं प्रत्यक्षं तावदस्य बाधकम्, समानविषयत्वेन तस्य तद्बाधकत्वायोगात्। क्षणिकत्वविषयं तु शब्देऽन्यत्र वा विवादगोचरचारीति न तद्बाधकं युक्तम्। न चानुमानं प्रत्यभिज्ञानबाधकम्, प्रत्यभिज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्। तदेव ह्यनुमानस्यैकशाखाप्रभवत्वादेर्बाधकमुपलब्धम्, न पुनरनुमानं तस्य। अथ शब्दैकत्वग्राहकप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्य तदाभासत्वादनुमानं स्थिरचन्द्रार्कादिग्राहकस्येव देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनितानुमानवद् बाधकं भविष्यति, कथं पुनरस्य प्रत्यक्षाभासत्वम्? अनुमानेन बाधनादिति चेत्, तर्हि अनेनाप्यनुमानस्य बाधनादनुमानाभासत्वं किं न स्यात्? अथानुमानबाधितविषयत्वात् नैतदनुमानबाधकम्; अनुमानमप्येतद्बाधितविषयत्वात् नास्य बाधकमिति प्रसक्तम्। अथ साध्याविनाभाविलिङ्गजनितत्वाद्बाधानुमानमेतद्बाध्यम् प्रत्यक्षा-

...त्यानुमानमपि महर्षिमतप्राद्विप्रत्यक्षबाध्यं न स्यात्। अथ पक्षे एव व्यभिचाराद् न ...विनाभूतहेतुप्रभवत्वमेकशाखाप्रभवत्वानुमानस्य, तत् शब्दक्षणिकत्वानुमानेऽपि समानम्। न च शब्दक्षणिकत्वप्रसाधकमनुमानं पराभ्युपगमे संभवति। यच्च 'क्षणिकः शब्दः, अस्म[दादि]प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, यो योऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणः स क्षणिकः, यथा ज्ञानादिः, तथा च शब्दः, तस्मात् क्षणिकः' इत्यनुमानम्, तदेकशाखाप्रभव- ५ [त्वा]नुमानवद् मानसप्रत्यक्षाभिमतप्रत्यभिज्ञानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वात् कालात्ययापदिष्ट[हे]तुप्रभवत्वाद् न साध्यसिद्धिनिबन्धनम्। किञ्च, धर्मादेर्विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेऽपि न क्षणिकत्वमिति [हे]तोर्व्यभिचारः। तस्यापि पक्षीकरणे सर्वत्र व्यभिचारविषये पक्षीकरणाद् न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणमनर्थकम्, व्यवच्छेद्याभावात्। धर्मादेः क्षणिकत्वे च स्वोत्पत्तिसमयानन्तरमेव ध्वस्तत्वाद् न ततो जन्मान्तरफलप्राप्तिः। शब्दात् शब्दोत्पत्तिवद् १० धर्मादेर्धर्मोत्पत्त्यभ्युपगमबाधा 'परस्य अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोऽभिलाषोऽभिलषितु[का]र्याभिमुख्यक्रियाकारणमात्मविशेषगुणमारभते' इति, अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषत्वात्, आत्मनोऽनुकूलाभिमानजनिताभिलाषोत्पादित आत्मविशेषगुणो ... इत्यस्य च विरोधः, यतो योऽसौ पश्चादनुकूले[ष्व]नुकूलाभिमानजनिताभिलाषवत्' ... नासावभिलषितुर्याभिमुख्यक्रियाधा[र]णम्, तत्समानं तत्कारणत्वात्, यश्च तत्क्रियाकारणम् नासौ यथोक्ताभिलाषेणारब्ध इति। १५ तथा, 'प्रवर्तक-निवर्तकाविच्छा-द्वेषनिमित्तौ धर्माऽधर्मौ, अव्यवधानेन हिताहितविषयप्रा[प्]ति-परिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वात्, प्रवर्तक-निवर्तकप्रयत्नवत्' इत्यत्र हेतोर्व्यभिचारश्च, जन्मान्तरफलप्रदयोर्धर्माधर्मयोरव्यवधानेन हिताहितप्राप्ति-परिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वेऽपीच्छा-द्वेषजनितत्वाभावात्। किञ्च, धर्मादिवद् अपवर्ग- २० [स्यापि] ... प्रसङ्गश्च। ततो न शब्दात् शब्दोत्पत्तिवद् धर्माद् धर्मोत्पत्तिः, तस्य क्षणिकत्वे न जन्मान्तरे ततः फलमित्यक्षणिकत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यमनेन व्यभिचारी हेतुः।

अथास्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्य धर्मादावसंभवाद् न व्यभिचारः, असदेतत्, विपक्षविरुद्धं हि विशेषणं ततो हेतुं निवर्तयति, यथाऽहेतुकत्वविरुद्धं सत्ता[...] कादाचित्कत्वं निवर्तयति। न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वमक्षणिकत्वविरुद्धम्, अक्षणिकेष्वपि सामान्या- २५ [दिषु] भावात्, ततो यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षा अपि केचित् क्षणिकाः प्रदीपादयः, अपरेऽक्षणिका घटादयस्तथाऽस्मदादिप्रत्यक्षा अपि विभुद्रव्यविशेषगुणाः केचित् क्षणिकाः, अपरेऽक्षणिका भविष्यन्तीति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः। न [च] ... व्यावृत्तिसिद्धिः, अदर्शनस्यासर्वविदः ... परलोका[दौ] ... द्रव्यविशेषगुणत्वस्याक्षणिकेऽदर्शनात् ततो व्यावृत्तिसिद्धेः ... दोषः समानः, यदि पुनर्विपक्षे [...]हिंसाऽनैकान्तिकत्वात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात्। न च ... प्रकृतहेतोश्च तत्त्वाभावात्। तत्र विपक्षे हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणाभावात् हेतोरदर्शनमात्रादेव ततो व्यावृत्तिस्तथा सति

> "वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।
> वेदाध्ययनवाच्यत्वाद् अधुनाऽध्ययनं यथा" [श्लो० वा०, अ० ७ श्लो० ३६६]

इत्यत्रापि विपक्षेऽदर्शनात् ततो व्यावृत्तिसिद्धिरित्यपौरुषेयत्वसिद्धेः ... स्यात्।

धर्माधर्मयोरात्मसमवायित्वे 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टाः, देवदत्त[प्र]त्युपसर्पणवत्त्वात्, यद् यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तत् तद् देवदत्तगुणाकृष्टम्, यथा ग्रासादि, तथा च पश्वादयः, तस्माद् देवदत्तगुणाकृष्टाः' इत्यनुमानमसंगतं स्यात्, व्याप्तेरभावात्। ... तथाप्यनुमाने यदा कुत्रचिद् यत् किञ्चिद् ... तदा देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वेन ... गुणाकृष्टत्वेन व्याप्तिदर्शनात् ... देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य देवदत्तप्रयत्नसमाकृष्टत्वेन ... व्याप्तिनिश्चितिः ... देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य ... प्रासादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य ... ग्रासादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तेः ...

१-क्षणप(क्षेण)वा-भा०, क०। २-तस्मात्, प्रथम-भा०, क०। ३-ज्ञाने हि-भा०, क०।

यदि तेनैवानुमानेन, अन्योन्याश्रयदोषः-व्याप्तिसिद्धावनुमानम्, ततश्च व्याप्तिसिद्धिरिति। मानान्तरेण तत्प्रतिपत्तावनवस्था। प्रमाणान्तरेण च तत्प्रतिपत्तौ वैशेषिकस्य द्वे प्रमाणे, नैयायि चत्वारि प्रमाणानि इति प्रमाणसंख्याव्याघातः। ततो मानसप्रत्यक्षेण व्याप्तिर्गृह्यत इत्यभ्युपगन्त तथा च प्रयत्नसमानगुणस्य समाकर्षकस्य, तत्समाकृष्यमाणस्य च पश्चादेस्तत्प्रत्यक्षत्वमित्यस
५ प्रत्यक्षत्वं धर्मादेरपि परैरभ्युपगन्तव्यम्। यदि पुनः 'बाह्येन्द्रियप्रभवासदादिप्रत्यक्षत्वे इति हेतुर्विशिष्यते तदा साधनविकलता दृष्टान्तस्य, सुखादेस्तथाऽप्रत्यक्षत्वात्। विभुद्रव् यदि अस्माकादामसदायप्रत्यक्षं विवक्षितं तदा तद्वत् तद्गुणस्याप्यसदायप्रत्यक्षत्वमिति 'अस प्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणासिद्धिर्हेतोः, गुणिनोऽप्रत्यक्षत्वे तद्विशेषगुणस्याप्यप्रत्य प्रतिपादितत्वात्।

१० किञ्च, सिद्धे हि शब्दे गुणे तदाधारसिद्धिः-गुणस्याधारमन्तरेणानवस्थानात्-तत्सि तदाधारस्य नित्यत्वे सत्यसदादिप्रत्यक्षशब्दगुणाधारत्वेन विभुद्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च श क्षणिकत्वसिद्धिः क्रियावत्त्वप्रतिषेधेन द्रव्यत्वाभावं साधयेत्, ततश्च गुणत्वम्, ततो वि व्याश्रितत्वम्, ततोऽपि क्षणिकत्वम्, इति चक्रकमासज्येत। साधनशून्यश्च साधर्म्यदृष्टा बुद्धेरपि विभ्वात्मविशेषगुणत्वासिद्धेः। न च शब्ददृष्टान्तेन तत् साध्यते, तस्याप्यसिद्ध
१५ इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गतः। न च 'विभ्वात्मविशेषगुणो ज्ञानम्, तत्कार्यत्वात्, शब्दवत्' इत्य नुमानात् तस्य तद्विशेषगुणत्वसिद्धिः, कार्यत्वस्येश्वरनिराकरणे परप्रसिद्धयासिद्धत्वेन प्रतिप दितत्वात् इतरेतराश्रयदोषस्य च तदवस्थत्वात्-सिद्धे हि शब्दस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वे दृष्ट न्तत्वम्, ततो ज्ञानस्य तत्सिद्धिः, ततश्च शब्दस्य तत् इति कथं नेतरेतराश्रयदोषः इति साधनवि दृष्टान्तः। तथा साध्यविकलश्च, बुद्धेः क्षणिकत्वासंभवात्; तथात्वे वा तस्याः न ततः संस्का
२० तदभावाद् न स्मरणम्, तदभावाच्च न प्रत्यभिज्ञादिव्यवहारः। न हि विनष्टात् कारणात् का अन्यथा चिरतरविनष्टादपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। अनन्तरस्य कारणत्वे सर्वमनन्तरं तत्कारणमापद्ये
अथ कार्यसमवायिज्ञानमनन्तरं तत्कारणम्, न, ज्ञानस्यात्मनो भेदे समवायस्य सर्वत्राविशे प्रतिषिद्धत्वाच्च 'एकार्थसमवायि' इत्यसिद्धम्। विनष्टाच्च कारणात् कथमनन्तरं कार्यम् येन त्वयं कार्यकारणभावनिबन्धनत्वेन कल्प्येत? न हि तत् कारणम् नापि तत् तस्य का
२५ तद्भाव एव भावात्। न हि यदभावेऽपि यद् भवति तत् तस्य कार्यमितरत् कारण व्यवस्था, अतिप्रसङ्गात्। विनश्यदवस्थं कारणमिति चेत्, न, साऽपि विनश्यदवस्था यदि भिन्ना तर्हि तदा तदभिसंबन्धाभावादनुपकारात् 'विनश्यदवस्थम्' इति कुतो व्यप अतिप्रसङ्गादेव? उपकारे वा सोऽपि यदि ततो व्यतिरिक्तः, अतिप्रसङ्गोऽनवस्थाकारि अव्यतिरेके विनश्यदवस्थैव तेन कृता स्यात्। तामपि यदविनश्यदवस्थमेव कारणमु
३० त्पादयेत् किं प्रकृतेऽपि विनश्यदवस्थाकल्पनेन? विनश्यदवस्थं चेत् तां कुर्यात् अन्या त तस्योऽप्यन्तरभूता विनश्यदवस्था कल्पनीया। तथा तदभिसंबन्धाभावः, अनुपकारश्च उपकारे वा तद्वत्सङ्गः प्रसङ्गः अनवस्था च। तथा च्यापाराविनश्यदवस्थोत्पादनेनोपक्षी णत्वात् तदुत्तरकार्योत्पादनसमर्थं प्रसक्तम्। विनश्यदवस्थायामपि नाशसद्भावात् तद् वि श्यदवस्थाविनिर्मुक्तं वाच्यम्, विशिष्टोत्पत्तेः स्यात्। अथाभिन्ना तर्हि विनश्यदवस्थाकारणेऽशरीर
३५ संगता, एवं च विनश्यदवस्थं कारणं कार्यं करोतीति कोऽर्थः? स्वोत्पत्तिकाल एव करो त्यर्थः समायातः। तथा च कार्य-कारणयोः सदृशमेवविनाशकालत्वात् न कार्यकार भावः। तथापि तद्धर्मे सतः कार्यप्रवाहस्यैव प्रसक्तिरत्वम्।

अथ न संस्कारदेवात्योत्पन्नसमनन्तरप्रत्यक्षसमवायेन ज्ञानं क्षणिकत्वम्—देशान्तरे दोषः—वि षदप्रवृत्तिनिबन्धनमात्रत्वं तत्, ननु कालान्तरस्थायित्वे तथा प्रवृत्तिं कुर्वन् तदन्यस्य
४० ज्ञानस्थित्यपि नन्वं तं किं न कुर्यात्? अपि च, पूर्वपूर्वसंस्कारात् उत्तरोत्तरसंस्कारोत्पा विशेषोऽनुभूतत्वे तदेव ज्ञानस्थायित्वे क्षणिकत्वमापादितम्। अतोऽनुभवमि पूर्वसंस्कारजातविशे

[illegible]

[illegible]

इयत्तानवधारणात्; न हि अयं 'महान् शब्दः' इत्यवगच्छन् 'इयान्' इत्यवधारयति यथा द्रव्यान्तराणि बदराऽऽमलक-बिल्वादीनि इति वक्तुं शक्यम्; यतो वक्तव्यमत्र का पुनरियं शब्दस्य मन्दता तीव्रता वा? अवान्तरजातिविशेषः, कथम्? गुणवृत्तित्वात् शब्दत्ववत्। एतदेवोक्तं कणभक्षमतानुसारिणोलूक्येन "गुणे भावाद् गुणत्वमुक्तम्" [वैशेषिकद० अ० १, आ० २, सू० १३]
५अस्यायमर्थः—'यो यो गुणे वर्तते स स जातिविशेषः यथा गुणत्वमिति, असदेतत्; यतः क्व शब्दस्य गुणत्वसिद्धिर्येन तत्र वर्तमानतया जातिविशेषत्वं मन्दत्वादेः? अद्रव्यत्वादिति चेत्, तदपि कथम्? अल्प-महत्त्वपरिमाणाऽसंबन्धात्, सोऽपि गुणत्वात्। ननु तदेव पूर्वोक्तं चक्रकमेतत्। न गुणत्वात् तस्याल्प-महत्त्वपरिमाणासंबन्धं ब्रूमः-येनायं दोषः स्यात्-अपि तु द्रव्यान्तरवदियत्तानवधारणादिति चेत्, न; वायोरियत्तानवधारणेऽप्यल्प-महत्त्वपरिमाणसंबन्धसंभवादनैकान्तिकत्वम्,
१०न हि बिल्व-बदरादेरिव वायोरियत्ताऽवधार्यते। वायोरप्रत्यक्षत्वात् इयत्ता सत्यपि नावधार्यते, न शब्दस्य विपर्ययात्, न; उक्तमत्र 'स्पर्शविशेषस्य वायुत्वात्, तस्य च प्रत्यक्षत्वात्' इति। इयत्ता चेयं यदि परिमाणादन्या कथमन्यस्यानवधारणेऽन्यस्याभावः? न हि घटानवधारणे पटाभावो युक्तः। परिमाणं चेत् तर्हि 'इयत्तानवधारणात् परिमाणं नास्ति' इति किमुक्तम्? परिमाणं नास्ति परिमाणानवधारणात्। तस्मिन्नल्प-महत्त्वपरिमाणावधारणे कथं न तदवधारणम् बिल्वादावपि
१५तत्प्रसङ्गात्? मन्द-तीव्राभिसंबन्धादल्प-महत्त्वप्रत्ययसंभवे मन्दवाहिनि गङ्गानीरे 'अल्पमेतद्' इति प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्, तीव्रवाहिगिरिसरिन्नीरे 'महद्' इति च प्रतीतिप्रसङ्गः; न चैवम्, तस्मात् मन्द-तीव्रतानिबन्धनोऽयं प्रत्ययः अपि त्वल्प-महत्त्वपरिमाणनिमित्तः; अन्यथा घटादावपि तन्निबन्धनो न स्यात्। घटादीनां द्रव्यत्वेन तन्निबन्धनत्वे परिमाणसंभवात् तत्प्रत्ययस्य शब्देऽपि तथाविधत्वेन स तथाविधोऽस्तु, विशेषाभावात्। कारणगतस्याल्प-महत्त्वपरिमाणस्य शब्दे
२०उपचारात् तथा संप्रत्यय इत्यपि वैलक्ष्यभाषितम्, घटादावपि तथा प्रसङ्गात्। अपरे मन्यन्ते-"यथा अश्वजवस्य पुरुषे उपचारात् 'पुरुषो याति' इति प्रत्ययस्तथा व्यञ्जकगतस्याल्प-महत्त्वादेः शब्दे उपचारात् 'शब्दोऽल्पो महान्' इति च व्यपदेशः", तदप्यसारम्; शब्दाभिव्यक्तेरपौरुषेयत्वनिराकरणे प्रतिषिद्धत्वात्। ततो घटादाविवाल्प-महत्त्वपरिमाणसंबन्धः पारमार्थिकः शब्दे इति सिद्धं गुणवत्त्वम्।

२५ संयोगाश्रयत्वाच्च, तदपि वायुनाऽभिघातदर्शनात्-संयुक्ता एव हि पांश्वादयो वायुनाऽन्येन वाऽभिहन्यमाना दृष्टाः, तेन च तदभिघातः पांश्वादिवदेव देवदत्तं प्रत्यागच्छतः प्रतिकूलेन वायुना प्रतिनिवर्तनात्, तदप्यन्यदिगवस्थितेन श्रवणात्। ननु गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तस्तेन निवर्त्यन्ते, न च तेषां तेन संयोगः निर्गुणत्वात् गुणत्वेन, न; तद्वतो द्रव्यस्यैव तेन निवर्तनम्, केवलानां तेषामागमन-प्रतिनिवर्तनाऽसंभवात् निष्क्रियत्वेनोपगमात्। केवलागमन-प्रतिनिव-
३०र्तनसंभवे वा द्रव्याश्रितत्वमेतेषां गुणलक्षणं व्याहन्येत। न चात्रापि तद्वतो निवर्तनम्, आकाशस्यामूर्तत्व-सर्वगतत्वेन तदसंभवात् अन्यस्य चानभ्युपगमात्। तस्माच्छब्द एव तेन संयुज्यते लोष्टादिवदभ्युपेयम्। गुणत्वेन चासंयोगे चक्रकमुक्तम्। न चासंयुक्तस्यैव तेन निवर्तनम्, सर्वस्य निवर्तनप्रसङ्गात्। प्रतिक्षणं शब्दाच्छब्दोत्पत्तिः पूर्वमेव निरस्ता।

एकादिसंख्यासंबन्धित्वाच्च गुणवत्त्वम्, तदपि 'एकः शब्दः द्वौ शब्दौ बहवः शब्दाः' इति
३५प्रत्ययदर्शनात्। न चाधारसंख्यायास्तत्रोपचारात् तथा व्यपदेश इति वक्तुं युक्तम्, आकाशस्याधारत्वाभ्युपगमात् तस्य चैकत्वात् 'एकः शब्दः' इति सर्वदा प्रत्ययप्रसङ्गात्। कारणमात्रस्य संख्योपचारे 'बहवः' इति प्रत्ययः स्यात्, तस्य बहुत्वात्। विषयसंख्योपचारे 'गगनाऽऽकाश-व्योम'शब्दा बहुव्यपदेशभाजो न स्युः, गगनादिलक्षणस्य विषयस्यैकत्वात्, पश्वादिलक्षणस्य विषयस्य बहुत्वात् 'एको गोशब्दः' इति स्वेऽपि प्रत्ययः व्यपदेशो वा न स्यात्। यथाऽविरोधं
४०संख्योपचार इति बालजल्पितम्, स्वयं संख्यावत्त्वैवाविरोधात्। अत्रापि गुणत्वं निरस्यत इति

१ पृ० ११९ पं० १५। २ पृ० ११५ पं० २०। ३ पृ० २४ पं० ३३। ४-तद्वतोर्द्र-वि०, बां०। ५-सर्वगतत्वे-भां०, बां०। ६ पृ० ११५ पं० १५। ७ पृ० ११६ पं० २०।

न समञ्जसम्, इच्छादौ तदभावात् । ततः विशेषणत्वाद् गुणवत्वाच्च शब्दो द्रव्यम् इत्यतिदं 'प्रतिषिध्यमान-द्रव्यकर्मभावे' इति हेतुविशेषणम् ।

यच्चान्यद् 'शब्दो न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत्' इति । तत्र, यत्र किन्तु कोऽपि यदेकं तत् सिध्यति, अतिप्रसङ्गात् । 'एकद्रव्यत्वात्' इति च तत्र हेतुरसिद्धः । तथाहि-यदि 'एकं द्रव्यं संयोगि अवयवेनैकद्रव्यः शब्दः' इत्येकद्रव्यत्वं हेतुर्थेनोपादीयते तदा विरुद्धो हेतुः, ५ संयोगिद्रव्य द्रव्य एव भावात् । अथ 'एकं द्रव्यं समवायि अस्य इत्येकद्रव्यत्वादेव एकद्रव्यत्वम्' तदाऽसिद्धो हेतुः, समवायस्य-निषिद्धत्वात् विशेषणसामान्याद-अभावेनैकद्रव्यसमवायित्वासिद्धत्वात् । अपि च, गुणत्वे सिद्धे सति एकत्र समवायेन तस्य वृत्तिः सिध्यति, तत्सिद्धेश्च द्रव्यान्तरनिषेधे सति गुणत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् ।

यत् पुनरुक्तम् 'एकद्रव्यः शब्दः, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, १० रूपादिवत्' इति, तदपि प्रत्यनुमानेन बाधितम्-अनेकद्रव्यः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्, घटादिवत् । स्पर्शवत्त्वं साधयिष्यामः साधितम् । 'स्पर्शवत्त्वात्' इत्युच्यमाने परमाणुभिर्व्यभिचार इति तन्निरासार्थम् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणोपादानम् । 'अस्मदादि-प्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचार इत्युभयमुक्तम् ।

तथा, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वेऽपि वायुर्नैकद्रव्य इति व्यभिचारश्च, १५ तस्य तत्प्रत्यक्षत्वे न किञ्चिद् बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं स्यात् । दर्शन-स्पर्शनग्राह्यं घटादिकं तदिति चेत्,
[illegible] न प्रवेत्? स्पर्श एव तेन
[illegible] (च(वे)ने इति न द्रव्यप्रत्यक्षता
[illegible] 'स्पर्शो मृदुरुष्णः शीतो वायुर्न
जानाति' इति प्रतीतेस्तत्प्रत्यक्षता कल्प्यताम्, अविशेषात् । वायुर्वेदेन चास्मदादिभिः प्रतीयमाना-२० भ्यन्तरे च स्पर्शः सामान्यविशेषवत्त्वेऽपि नैकद्रव्याः । अस्मदादिपिलक्षणैर्बाह्येन्द्रियान्तरेण तत्प्रतीतौ शब्देऽपि तथा प्रतीतिः किं न स्यात्? अत्र तथाऽनुपलम्भोऽन्यत्रापि समानः । 'देशान्तरे कालान्तरे स्वरान्तरे च बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यः शब्दः, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वात्, रूपादिवत्' इति चेत्, असदेतत्, शब्दस्य गुणत्वेन निषिद्धत्वात् 'विशेषगुणत्वात्' इति हेतुरसिद्धः । चन्द्रादेरस्मदादिप्रत्यक्षत्वे प्रतीतिविरोधः इत्यालमेतत् । २१

'सत्तासंबन्धित्वात्' इत्यत्र च यदि 'स्वरूपसत्तासंबन्धित्वात्' इति हेतुस्तदाऽनैकान्तिकः सामान्य-समवायादिभिः, तथो प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति तथाभूतसत्तासंबन्धित्वेऽपि गुणत्वासिद्धेः । न च सामान्यादेः स्वरूपसत्ताऽभावः, स्वविषयज्ञानादेरविशेषप्रसङ्गादिति प्रतिपादितत्वात् । अथ 'भिन्नसत्तासंबन्धित्वात्' इति हेतुस्तदाऽसिद्धः, भिन्नसत्ताऽभावेन स्वरूपविषयादेरिव शब्दस्यापि तत्संबन्धित्वाऽसिद्धेः । यत्तु भिन्नसत्तासद्भावे तत्संबन्धात् सत्प्र-२० त्ययविषयत्वे च शब्दादेः प्रयोगद्वयमुपन्यस्तम् । तत्र यदेव चेतनस्य स्वरूपं तदेव यद्यचेतनस्यापि स्यात् तदा चेतनाचेतनयोः सत्प्रत्ययविषयत्वात् स्याद् भिन्नसत्तासंबन्धित्वम्, न च यदेव चेतनस्य स्वरूपं तदेवाचेतनस्य, तत्प्रत्ययस्याऽप्यन्यत्र भावादिति सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं प्रतिपादयिष्यन्तो निर्णेष्यामः । तदेवं शब्दस्य गुणत्वासिद्धेः नित्यत्वे सत्यक्रियावत्त्वाद्युपलभ्यमानगुणा-धिष्ठानत्वासिद्धेरव्यवस्थ, साधनविकलो दृष्टान्त इति स्थितम् । ३५

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम् 'ज्ञानं परममहत्त्वैकद्रव्यसमवेतम्, विशेषगुणत्वे सति प्रदेशावृत्ति-त्वात्, शब्दवत्' । अत्रापि ज्ञानस्य परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतत्वे सति ततः शब्दस्य तत्सिद्धिः, तत्सिद्धेश्च ज्ञानस्य परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषः । न च दृष्टान्तान्तरमस्ति यतोऽन्यतरप्रसिद्धिरप्यसदोषः स्यात् । ज्ञानस्य चात्मनोऽव्यतिरेकित्वे तथापि तत्, 'यत् यस्मादव्यतिरिक्तं तत् तत्स्वभावं यथाऽऽत्मस्वरूपम्, आत्माऽव्यतिरिक्तं ज्ञानम्, तस्मात्तथापि' इति न ४०

१ पृ० ११६ पं० १२ । २ पृ० ११८ पं० ४ । ३ पृ० १०६ पं० १० । ४ पृ० ११४ पं० ६ । ५ पृ० ११६ पं० २१ । ६-दमान इ-मु० । ७ पृ० ११६ पं० १४ । ८ पृ० ११० पं० ११ । ९-ज्ञाधासज्ञाचे स-वि० । १०-दत्वे च मु०, आ० । ११-पयाविस्तत्वे च वि०।-पयधिपयत्वे च धां० । १२ पृ० ११४ पं० १८-२० ।

प्रदेशावृत्तित्वम्। तथापि तद्वृत्तित्वे ज्ञानेतरस्वभावतयाऽऽत्मनः अनेकान्तसिद्धिः। व्यतिरेके आत्मगुणत्ववदन्यगुणत्वस्याप्यप्रतिषेधाद् विशेषगुणत्वासिद्धिः। व्यतिरेकाविशेषेऽप्यात्मन एव गुणो ज्ञानं नाकाशादेरिति किंकृतोऽयं विशेषः? समवायकृत इति चेत्, न; तस्यापि ताभ्यामर्थान्तरत्वे तदवस्थो दोषः, व्यतिरेके समवायस्य सर्वत्राविशेषाद् न ततोऽपि विशेषः। ५अव्यतिरेके तस्यैव अभाव इति न ततो विशेषः। न च समवायः संभवति इति प्रतिपादितम्। न चात्मनो व्यापित्वे नित्यत्वे च ज्ञानादिकार्यकारित्वमपि संभवति। तत्र तत्कार्यत्वादपि तद्विशेषगुणो ज्ञानम्। न चात्मनः प्रदेशाः सन्ति येन प्रदेशवृत्तित्वं ज्ञानस्य सिद्धं स्यात्। कल्पिततत्प्रदेशाभ्युपगमे च तद्वृत्तित्वमपि हेतुः कल्पित इति न कल्पितात् साधनात् साध्यसिद्धिर्युक्ता, सर्वतः सर्वसिद्धिप्रसङ्गात्। सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं च हेतोः विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्रापि १०समानमिति।

तथा, स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्तात्मकस्य 'अहम्' इति स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्यात्मनो विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्यमानः सर्व एव हेतुः प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः। सप्रतिपक्षश्चायं हेतुरित्यसत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य लक्षणमसिद्धम्। स्वदेहमात्रात्मप्रसाधकश्च प्रतिपक्षहेतुरग्रे प्रदर्शयिष्यते। तथातोऽपि हेतोरात्मनो विभुत्वसिद्धिः।

१५ यदप्यात्मनो विभुत्वसाधनं कैश्चिदुपन्यस्तम्-"अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते, एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्, यो य एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणः स स स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते यथा वेगः, तथा चादृष्टम्, तस्मात् तदपि स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते इति। न चासिद्धं क्रियाहेतुगुणत्वम्, 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम्, कार्यत्वे सति देवदत्तस्यो२०पकारकत्वात्, पाण्यादिपरिस्पन्दवत्, एकद्रव्यत्वं चैकस्मात्मन्समवायात्, एकद्रव्यमदृष्टं विशेषगुणत्वात्, शब्दवत्'। 'एकद्रव्यत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थम् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युक्तम्। 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने मुसलहस्तसंयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिचलनहेतुना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणम्। 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेन २५व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'गुणत्वात्' इत्यभिधानम्" [ ]

एतदपि प्रत्यक्षबाधितप्रतिज्ञानन्तरप्रयुक्तत्वेन पूर्ववदनुमानाभासम्। 'एकद्रव्यत्वे' इति च विशेषणं किमेकस्मिन् द्रव्ये संयुक्तत्वात्, उत तत्र समवायात्? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, संयोगगुणेनाऽदृष्टस्य गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वप्रसक्तेः 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्येतस्य चाऽभावप्रसङ्गात्। अथ द्वितीयः, तदा द्रव्येण सह कथञ्चिदेकत्वमदृष्टस्य प्राप्तम्, न ह्यन्यस्तत्र ३०समवायः, घट-कपालादिषु तथा तथाभूतसंयोगप्रतीतेः। न हि यद्यद् कार्यम्, [illegible] [illegible] समवायश्च नित्यः प्रतीतिगोचरः, अपि तु कथञ्चित् [illegible] [illegible] कार्यस्य प्रतीतिगोचरचारित्वोऽनुभूयते, अन्यथा गुण-गुणिभावेऽपि [illegible] [illegible] स्युः। [illegible] प्रतीतिः इत्यादि प्रतिविहित- [illegible]। [illegible] वादि-प्रतिवादि [illegible] ३५ [illegible] सिद्धिः।

अथ गुणिनो [illegible]

[illegible]

[illegible]

...वि देशा यदि ततो भिन्नास्तर्हि न तथैव वर्तते इत्यनवस्था । अभिन्नाश्चेत् उक्तो दोषः ।
...रक्षे परवाद एव समर्थितः स्यादित्यात्मना सहादृष्टस्य कथञ्चिदनन्यभाव एव एकद्रव्य-
...विभुत्वात् गुणानां तद्व्यतिरिक्तस्यात्मनोऽप्यविभुत्वमिति विपक्षसाधकत्वादेकद्रव्यत्व- ५
...स्य हेतुविशेषणस्य विरुद्धत्वम् ।
...क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यत्रापि यदि देवदत्तसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्तिषु
...फलादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, तदयुक्तम्, अतिदूरत्वेन द्वीपान्तरवर्तिभिर्मणि-
...मानभिसंबन्धित्वेन तत्र क्रियाहेतुत्वायोगात्, तथापि तद्धेतुत्वे सर्वत्र स्यात्, अविशेषात् ।
...मानभिसंबन्धाविशेषेऽपि यदेव योग्यं तदेव तेनाकृष्यते न सर्वमिति नातिप्रसङ्गः, न, चक्षुषोऽ-
...प्यकारित्वेऽपि यदेव योग्यं तदेव तत्कारणमिति यदुक्तं परेण–"अप्राप्यकारित्वे चक्षुषो १०
...व्यवस्थितस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः" [ ] इत्ययुक्तं स्यात् । अथ स्वाश्रयसंयोग-
...संबन्धसम्भवात् 'अनभिसम्बन्धात्' इत्यसिद्धम् । तथाहि–यमात्मानमाश्रितमदृष्टं तेन संयुक्तानि
...द्वीपान्तरवर्तिमुक्ताफलादीनि देवदत्तं प्रत्याकृष्यमाणानि, न, सर्वस्याऽऽकर्षणप्रसङ्गात्, तेनाभि-
...संबन्धाविशेषात् । न च यददृष्टेन यदन्यते तत् तेनाकृष्यत इति कल्पना युक्तिमती, देवदत्त-
...शरीरारम्भकपरमाणूनां तददृष्टाजन्यत्वेनाऽनाकर्षणप्रसङ्गात् । तथाप्याकर्षणेऽतिप्रसङ्गः प्रतिपादितः १५
एव । यथा च कारणत्वाविशेषे घटदेशादौ नियमितमेव दण्डादिकं घटादिकार्यं जनयति अदृष्टं
...त्यन्यथेत्यभ्युपगमस्तथा घ्राणेन्द्रियत्वाविशेषेऽपि इत्यनिन्द्रियं प्राप्तमर्थमवभासयति श्रोत्रं
...त्यन्यथेत्यभ्युपगमः किं न युक्तः ?
नापि द्वीपान्तरवर्तिमुक्तादिसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्तमानं तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, विरुद्धत्वानुपपत्तेः ।
तथाहि–यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवान् अन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुस्तथा २०
यददृष्टमपि तं प्रत्युपसर्पत् स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, तथा सत्यदृष्टस्य गुणत्वेऽपि तथैव
तं प्रत्युपसर्पणाविरोधात् धर्मधर्माधर्मपरिकल्पनम् । तथाभ्युपगमे च 'यत् देवदत्तं प्रत्युपसर्पत्यद्दष्ट-
देवदत्तगुणाकृष्टं तं प्रत्युपसर्पणात्' इति हेतुरनैकान्तिकः अदृष्टेनैव । वायुरपि सांनिध्यवतः
गुणत्वं चापते । ...परस्योपपादकमदृष्टं निमित्तकारणं तद्गत्या ... अदृष्टान्तरात् तत्र तं १५
परमित्यनवस्था । अन्यथा ...ऽपि क्रिमदृष्टान्तरमन्तरेण निमित्तपरिकल्पनया ? अदृष्टान्तरात् ...
प्रत्युपसर्पणे तदन्यदृष्टान्तरे तं प्रत्युपसर्पणदृष्टान्तरात्, तदपि न युक्तम् । अन्यच्च प्रयत्नाधारानुगुणे
अथ तत्रस्यमेव तत् तेषां न प्रत्युपसर्पणे हेतुः, तदपि न युक्तम् । अन्यच्च ... इत्यादिसंबन्धहेतुर्गत्यादिकं
तथाऽदर्शनात्, न हि प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्य एव ... अथ प्रयत्नवैशिष्ट्यदृष्टस्य-
देवदत्तमुखं प्रति प्रापयन् दृष्टः, अन्तरालप्रयत्नवैकल्यप्रसङ्गात् । अथ प्रयत्नवैशिष्ट्यं द्यान्तरेऽपि ... २५
त्वया कल्पनम् । तथाहि-कश्चित् प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशगमनाय क्रियाहेतुर्यथा ... गतदेशान्तरासि-
अपरथान्यथा यथा ... संयुक्तात्मप्रदेशस्य एव शरीर(ग?)मेदनां स्वाश्रयसंयुक्तद्रव्यक्रियाहे-
क्रियाहेतुः । यदेवम्, एवं चिन्त्यता एकद्रव्याणां क्रियाहेतुगुणानां स्वाश्रयसंयुक्ताऽसंयुक्तद्रव्येषु
गुणेन किं ... विविधकालिकार्थं भावानाम् ? तथाऽदर्शनेति गौरवम्, अपरथान्यथा ...
... स्वाश्रयाऽसंयुक्तेऽपि द्रव्ये क्रियाहेतुत्वदर्शनात् । अथ द्रव्यं क्रियावत् न इत्यादिगुण-
... तस्य स्वाश्रयसंयुक्तेऽपि द्रव्ये क्रियाहेतुत्वदर्शनात् । अथ द्रव्यं क्रियावत्संयोगविभागकारणम्, तत्र
द्रव्यरहितमर्थं क्रियाहेतुत्वदर्शनात्, न, वेगस्य क्रियाहेतुत्वम्, क्रियायाश्च संयोगविभागकारणत्वात् । अथ द्रव्यस्य ... क्रियाहे-
च द्रव्यवत्त्वादं तत एव न स्यात्, तथा च 'वेगवत्' इति ... इत्यादौ ... द्रव्येण एतदुक्तं ...
वेगादिरहितमपि ... इत्यादिरहितमपादानः ... लोहद्रव्यविलोचनादुक्तं ... हेतुः ।
...लोहादिवत् तत्साधनोत्पत्तं दर्शयति लोहद्रव्यक्रियादेतुगुणत्वात्' इति व्यभिचारी हेतुः ।
...यमसिद्धिः । तद्रहितस्य ... सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति ...
अविशेषात् । एवं सति 'एक द्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' ...

१–त्वयि तथै-मु० । २ अत्र ... ३ अत्र ... ६० ११ पं० २४ । ४–... ५० ११ । ...
... ६० ... १५ । ...
... ७ ...
... इत्यत्र ... । ...
...

एनेन यदुक्तं परेण-"अदृष्टमेवायस्कान्तेनाकृष्यमाणलोहदर्शने सुखदुःखो
तत्क्रियाहेतुः" [ ] इति तन्निरस्तम्, सर्वत्र कार्यकारणभावेऽस्य व्याप्त्य
अदृष्टमेव कारणं स्यात्, यस्य शरीरं सुखं दुःखं चोत्पादयति तददृष्टमेव तत्र हेतुरिति
स्मकाधयवक्रियासंयोगादयः। अपि च, तददृष्टस्य कथं तद्धेतुत्वम्? तस्य भावे
५धादिति चेत्, किं पुनरयस्कान्तदर्शनाभाव एव तत्क्रिया दृष्टा येनैषां तत्र कारणत्वा
ततो न दृष्टानुसारेण तत्सम्बन्धियादृष्टस्य तं प्रति तत्क्रियाहेतुत्वम्। प्रयत्ने
हेतोरनैकान्तिकत्वम्।

अथ सर्वत्रादृष्टस्य वृत्तिस्तर्हि सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वम्। यददृष्टं यद् द्रव्यमुत्पादयति त
क्रियामुपरचयतीत्यभ्युपगमे शरीरारम्भकेषु परमाणुषु ततः क्रिया न स्यादित्युक्तम्। न च
१०मप्यदृष्टस्य सिद्धमिति 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। अथ 'अदृष्टं गुणः, प्रतिषि
द्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात्, रूपादिवत्' न च प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वमसिद्धम्। तथ
'न द्रव्यमदृष्टम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत्' इति, असदेतत्; एकद्रव्यत्वस्यानिष्टत्वात्तिस
सत्तासंबन्धित्वस्य चेति। यदपि तद्गुणत्वसाधनमुक्तम् 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो दे
विशेषगुणाकृष्टाः, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्, ग्रासादिवत्' इति, तदप्ययुक्तम्; यतो यथा त
१५गुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्तो ग्रासादयः समुपलभ्यन्ते तथा नयनाञ्जनादि
विशेषेणापि समाकृष्टाः स्त्र्यादयस्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्त एव, ततः 'किं प्रयत्नसध
केनचिदाकृष्टाः पश्वादयः, उत नयनाञ्जनादिसधर्मणा' इति संदेहः, शक्यते ह्येवमनुमानमप्य
परेणापि-'नयनाञ्जनादिसधर्मणा विवादगोचरचारिणः पश्वादयः समाकृष्टा देवदत्तं प्रत्युपसर्प
तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्, स्त्र्यादिवत्'। अथ तदभावेऽपि प्रयत्नादपि तददृष्टस्यैकान्तिकत्व
२०प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेऽप्यञ्जनादेरपि तददृष्टमेवदीयहेतोरनैकान्तिकत्वम्। न चात्रानुमीयमान
प्रयत्नसधर्मणो हेतोः सद्भावादव्यभिचारः, अन्यत्राप्यञ्जनादिसधर्मणोऽनुमीयमानस्य सद्भावेना
भिचारप्रसङ्गात्। तत्र प्रयत्नसामर्थ्यादस्य वैफल्येऽन्यत्राप्यञ्जनादिसामर्थ्याद् वैफल्यं समान
अथाञ्जनादेरेव तद्धेतुत्वे सर्वस्य तद्वतः स्त्र्याद्याकर्षणप्रसक्तिः, न चाञ्जनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद
सर्वान् प्रति तदागमनम्, ततोऽवसीयते 'तदविशेषेऽपि यद्वैकल्यात् तन्नेति तदपि कारणम् ना
२५नादिमात्रम्' इति। तदेतत् प्रयत्नकारणेऽपि समानम्; न हि सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासाद
उपसर्पन्ति, तदपहारादिदर्शनात्। ततोऽत्राप्यन्यत् कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेऽपि
अविशेषात्। ततः प्रयत्नवदञ्जनादेरपि तं प्रति तदाकर्षणहेतुत्वात् कथं न संदेहः? अञ्जनादे
रूपाद्याकर्षणं प्रत्यकारणत्वे गन्धादिवत् तदर्थिनां न तदुपादानम्। न च दृष्टसामर्थ्यस्याप्यञ्जनादेः
३०तत्कारणं न केवलमिति, नन्वेवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्र कारणत्वम्, ततः संदेह एव 'किं
ग्रासादिवत् प्रयत्नसधर्मणाऽऽकृष्टाः पश्वादयः, किं वा रूपादिवदञ्जनादिसधर्मणा तत्संयुक्तेन
द्रव्येण' इति संदिग्धं 'गुणत्वात्' इत्येतत् साधनम्। सपरिस्पन्दात्मप्रदेशमन्तरेण ग्रासाद्याकर्षण
हेतोः प्रयत्नस्यापि देवदत्तविशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता चात्र दृष्टान्तस्य।

यच्च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति' इत्युक्तं तत्र कः पुनरसौ देवदत्तशब्दवाच्यः? यदि शरीरम्,
३५तदा शरीरं प्रत्युपसर्पणात् शरीरगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणा
कृष्टत्वस्य साधनाद् विरुद्धो हेतुः। अथात्मा, तस्य समाकृष्यमाणपदार्थदेश-कालाभ्यां सदाऽभि
संबन्धाद् न तं प्रति कस्यचिदुपसर्पणम्, अन्यदेशं प्रत्यन्यदेशाद्योपसर्पणदर्शनात्, अन्यकाले
प्रलम्बकालस्य च, यथाङ्कुरं प्रत्यपरापरजातिपरिणामप्राप्तेर्बीजादेः। न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वा
त्स्यात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते संभवति अतो 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति धर्मिविशेषणम्,
४०'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः, 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति साधनधर्मः, एतत् सर्व
'विरुद्धमेव'। न च शरीरसंयुक्त आत्मा सः, तस्यापि नित्यव्यापित्वेन तत्र संनिधानेनानियार

१-यस्माग-ब०, भा०। २-आदे-भा०, मा०। ३ पृ० १२१ पं० १४। ४ पृ० १२१ पं० ८। ५ पृ०
१२१ पं० १४। ६ पृ० ११४ पं० १०। ७ पृ० ११४ पं० १६। ८-रूपादिभिरपि-भा०, मा०। ९—वि-
विरुद्ध-भा०, आ०।

मात्, न हि घटयुक्तमाकाशं मेघादौ न सन्निहितम्। अथ शरीरसंयुक्ता आत्मप्रदेशा देवदत्तस्य, ते काल्पनिकाः, पारमार्थिका वा? काल्पनिकत्वे 'काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयः, तथाभूता-त्मप्रदेशं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं साधयेत्। तथा च तीव्रकर्मोप-तद्गुणकृतः प्रत्यभावोऽपि न पारमार्थिकः स्यात्, न हि काल्पनिकस्य पावकस्य रूपादयः तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम्। पारमार्थिकत्वे तेऽप्यात्मप्रदेशाः, तेऽपि यदि ततोऽभिन्नास्तदात्मैव ते इति न पूर्वोक्तदोषपरिहारः। भिन्नाश्चेत् तर्हि तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इति तेषामेवात्मत्वप्र-सक्तिरित्यन्यात्मपरिकल्पना व्यर्था। तेषां च न द्वीपान्तरवर्तिमणिमुक्तादिभिः संयोग इति 'अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्तेऽन्यत्र क्रियाहेतुः' इति व्याहतम्। संयोगे वा आत्मवत् इत्यनिष्टो व्याघातः। अथ तेषामप्यपरे शरीरसंयुक्ताः प्रदेशाः देवदत्तसम्बन्धिनः, तथाप्यनन्तरदूषणमनवस्थाकारि। अथा-त्मानमन्तरेण कस्य ते प्रदेशाः स्युरिति तत्प्रदेशवत् आत्माऽभ्युपगमनीयम्। तत्पर्यन्तासम्भूताये आत्मनः कथं 'तस्य ते' इति व्यपदेशः? अथ तेषु तस्य वर्तनात् तथा व्यपदेशः, न, सर्वगत्, तथाऽभ्युपगमेऽप्ययविपक्षभाविदूषणावकाशात्। यथा च तेषां सदूषणत्वं तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते चेत्यास्तां तावत्। तत्र परस्य देवदत्तसम्बन्धिनः कश्चिदस्ति यं प्रत्युपसर्पणवन्तः पश्वादयः स्वक्रियाहेतोर्गुणत्वं साधयेयुः। अतो नैतदपि साधनमात्मनो विभुत्वप्रसाधकम्।

यदपि 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्, आकाशवत्' इति साधनम्, तदप्य-चारु; यतो यदि 'स्वशरीरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' इति हेतुस्तथा सति तत्रैव तद्गुणस्य सर्वगतत्वसिद्धेर्विरुद्धो हेत्वाभासः। अथ स्वशरीरवत् परशरीरे अन्यत्र चोपलभ्यमानगुणत्वं हेतु-स्तदाऽसिद्धः, तथोपलम्भाभावात्—न हि बुद्ध्यादयस्तद्गुणास्तथोपलभ्यन्ते, अन्यथा सर्वस्य सर्वज्ञता-प्रसङ्गः। अथैकनगरे उपलब्धा बुद्ध्यादयो नगरान्तरेऽप्युपलभ्यन्ते, मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरेऽपीति कथं न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्? न, वायोरपि स्पर्शविशेषगुण एकत्रैकदोपलब्धोऽन्यत्रान्य-दोपलभ्यमानस्तस्यापि सर्वगतत्वं प्रसाधयेत्, अन्यथा तेनैव हेतोर्व्यभिचारः। अथ तांस्तान् देशान् क्रमेण गतस्य तस्य तद्गुण उपलभ्यते, आत्मनोऽपि तथैव तद्गुणस्योपलम्भः इति समानं पश्यामः। न च तद्वत् तस्यापि सक्रियत्वप्रसक्तेरयुक्तमेवं कल्पनमिति वाच्यम्, इष्टत्वात्।

अथ लोष्टवत् ततो मूर्तत्वप्रसङ्गस्तस्य दोषः। ननु केयं मूर्तिः? असर्वगतद्रव्यपरिमाणं सेति चेत् नायं दोषः, असर्वगतात्मवादिनोऽभीष्टत्वात्। रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वं सेति चेत्, न, तादृशीं मूर्तिमात्मनः सक्रियत्वं साधयति, व्याप्त्यभावात्, रूपादिमन्मूर्त्यभावे सक्रियत्वात्। 'यो यः सक्रियः स रूपादिमन्मूर्तिमान्, यथा शरः, तथा चात्मा, तस्माद् रूपादिमन्मूर्तिमान्' इति कथं न व्याप्तिसंभवः? असदेतत्, मनसाऽपि व्यभिचारात्। न च तस्यापि पक्षीकर-णम्, 'रूपादिविशेषगुणानधिकरणं सद् मनोऽर्थं प्रकाशयति, शरीरावयवान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वात्, आत्मवत्' इत्यनुमानविरोधप्रसङ्गात्। न च सक्रियत्वं रूपादिमन्मूर्त्य-भावेन विरुद्धं यतः ततस्तद्विपर्ययमानमात्मनि तथाविधां मूर्तिं साधयेत्। न च तथाविधमू-र्तिरहितेऽम्बरादौ तददर्शनात् सिद्धो विरोधः, एकशाखाप्रभवत्वस्याप्यन्यत्र पक्षेऽदर्शनाद् वि-रोधसिद्धिप्रसक्तेः। यत्र यत्र व्यभिचारदर्शनात् सा तत्र नेति चेत्, न, सक्रियत्वस्यापि तथा व्यभिचारः समानः, पक्षीकृत एवात्मनि रूपादिमन्मूर्तिरहिते तद्दर्शनात्। अनेनैव तत्साधनाद् न व्यभिचार इत्येकशाखाप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम्। प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशान-न्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वमुभयत्र तुल्यम्। तत्र सक्रियत्वमात्मनो रूपादिमन्मूर्तित्वं साधय-तीति व्यवस्थितम्।

अथ सक्रियत्वे तस्यानित्यत्वम्। तथाहि—'यत् सक्रियं तद् अनित्यम्, यथा लोष्टादि, तथा चात्मा, तस्मादनित्यः' इति, एतदपि न सम्यग्, परमाणुभिरनैकान्तिकत्वात्, कथञ्चिदनित्यत्वस्ये-

---

१ पृ० १४४ पं० ४१। २ पृ० १४२ पं० १५। ३ प्र० पृ० पं० २। ४ पृ० १०२ पं० ११। ५-भावेऽपि न भां०, मां०। ६-तः तद्विप-आ०, वि०, डा०। ७-रहिताम्ब-आ०, वि०, डा०, मां०, भ०। ८-न्यथा प-मां०, भां०।-न्यत्राप-वि०। ९-धशाखित्र-डा०, वा० विना।

एत्वात् सिद्धसाधनं च। सर्वात्मनाऽनित्यत्वस्य लोकादावप्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता दृष्टान्तस्य। तन्न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनः सिद्धम्।

अपरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनोऽतोऽनुमानात् साधयन्ति–"देवदत्तोपकरणभूतानि मणि-मुक्ताफलादीनि द्वीपान्तरसंभूतानि देवदत्तगुणकृतानि, कार्यत्वे सति देवदत्तोपकारकत्वात्, ५ शकटादिवत्। न च तद्देशेऽसन्निहिता एव तद्गुणास्तान् उत्पादयितुं समर्थाः, न हि पटदेशेऽसन्निधानवन्तस्तन्तु-तुरि-कुविन्दादयः पटमुत्पादयितुं क्षमाः। आत्मगुणानां च तद्देशसन्निधानं न तद्गुणिसन्निधिमन्तरेण संभवि, अगुणत्वप्रसक्तेः, ततस्तस्यापि तद्देशत्वम्" [ ]असदेतत्; तत्कार्यत्वेऽपि तेषां न 'अवश्यतया कार्यदेशसन्निधिमद् निमित्तकारणम्' इति नियम उपलब्धिगोचरः, अन्यदेशस्यापि ध्यानादेरन्यस्थितविषापनयनकार्यकर्तृत्वस्योपलब्धिविषयत्वात्। तथा-१० तोऽपि सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसिद्धिरित्यसिद्धो हेतुः।

एतेन 'विभुत्वाद् महानाकाशः तथा चात्मा' इति निरस्तम्, विभुत्वस्यात्मन्यसिद्धेः। तथाहि–सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोगो विभुत्वम्। न च सर्वमूर्त्तिमद्भिर्युगपत्संयोगस्तस्य सिद्धः। अथैकदेशवृत्तिविशेषगुणाधारत्वात् तस्य सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोग आकाशस्येव सिद्धः, असदेतत्; एकदेशवृत्तिविशेषगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनस्य सर्वमूर्त्तिमत्संयोगाधारत्वस्य च साध्यस्याकाशेऽप्यसिद्धेरुभय-१५ विकलो दृष्टान्तः। न चात्मदृष्टान्तादाकाशे साध्य-साधनोभयधर्मसम्बन्धित्वं सिद्धमिति शक्यं वक्तुम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्।

यदपि 'विभुरात्मा, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यद् यद् अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यं तत् तद् विभु, यथाऽऽकाशम्, तथा चात्मा, तस्माद् विभुः' इति, तदप्यसारम्; तन्नित्यत्वासिद्धेर्हेतोरसिद्धत्वात्, अणुपरिमाणानधिकरणत्वस्य च विशेषणस्यात्मनो २० द्रव्यत्वासिद्धेरसिद्धिः, तदसिद्धिश्च इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि–अणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वे सिद्धेऽनाधारस्य तस्यासम्भवादात्मनो गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदाश्रितत्वेनाणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। न चाकाशस्याप्यणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं विभुत्वं च सिद्धमिति साध्य-साधनविकलो दृष्टान्तः। न चात्मदृष्टान्तबलात् तस्य तदुभयधर्मयोगित्वं सिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, अत्रापीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गस्य २५ व्यक्तत्वात्। अपि च, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं च भविष्यत्यविभुत्वं च, विपक्षे हेतोर्बाधकप्रमाणासत्त्वेन ततो व्यावृत्त्यसिद्धेः सन्दिग्धानैकान्तिकश्च हेतुः। न च विपक्षे हेतोरदर्शनं बाधकं प्रमाणम्, सर्वाऽऽत्मसम्बन्धिनस्तस्यासिद्धाऽनैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्।

अपि च, आत्मनः स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन सुख-दुःखादिपर्यायाक्रान्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् तद्विभुत्वसाधकस्य हेतोरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम्। ३० अन्यस्य च 'अहम्' इत्यध्यक्षसिद्धस्य प्रमाणाविषयत्वेनाऽसत्त्वादाश्रयासिद्धो हेतुरिति। अनया दिशाऽन्येऽपि तद्विभुत्वसाधनायोपन्यस्यमाना हेतवो निराकर्त्तव्याः, अस्य निराकरणप्रकारस्य सर्वेषु तत्साधकहेतुषु समानत्वात्। तन्नात्मनः कुतश्चिद्विभुत्वसिद्धिः।

अथापि स्यात् यथास्माकं तद्विभुत्वसाधकं प्रमाणं न सम्भवति तथा भवतामपि तदविभुत्वसाधकप्रमाणाभाव इति नानुपमसुखस्थानोपगतिस्तेषां सिद्धेति तदवस्थं चोद्यम्, न हि परपक्षे ३५ दोषोद्भावनमात्रतः स्वपक्षाः सिद्धिमुपगच्छन्ति अन्यत्र स्वपक्षसाधकत्वलक्षणपरप्रयुक्तहेतुविरुद्धतोद्भावनात्, न चासौ भवता प्रदर्शितेति, न सम्यगेतत्; तदभावासिद्धेः। तथाहि–'देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरमात्रव्यापकः, तत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणत्वात्, यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापकः, यथा देवदत्तस्य गृहे एव व्याप्त्योपलभ्यमानभास्वररूपादिगुणः प्रदीपः, देवदत्तशरीर एव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणस्तदात्मा' इति। तदात्मनो हि ज्ञानादयो गुणास्ते च ४० तद्देह एव व्याप्त्योपलभ्यन्ते, न परदेहे, नाप्यन्तराले।

अत्र केचिद्धेतोरसिद्धतामुद्भावयन्तः "शरीरान्तरेऽपि तदङ्गनाम्संयोगिनि तद्गुणा उपलभ्यन्ते इत्यसिद्धता। तथाहि–'देवदत्ताङ्गनाङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकम्, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्,'

१–तत् कार्य–भा॰ म॰ विना। २–स्थस्थित–भा॰, मा॰। ३ चात्मद–मा॰।

[illegible]यत्' । कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जनने व्याप्रियतेऽन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति तदङ्गना-
[illegible]र्यदेशे तत्कारणतद्गुणसिद्धिः । तथा, तदन्तराले च प्रतीयन्ते । तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्,
[illegible]तिर्यक् पवनं तद्गुणपूर्वकम्, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्, पटादिवत् । यत्र च तद्-
[illegible]त्र तद्गुणप्रत्यनुमीयत इति 'स्वदेह एव देवदत्तात्मा' इति प्रतिज्ञा अनुमानबाधिता ।
[illegible]ऽनुमानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः" [ ]

ननु केऽत्र देवदत्तात्मगुणा ये तदङ्गनादेः तदन्तराले च प्रतीयन्ते ? यदि ज्ञान-दर्शन-सुख-
[illegible]र्यस्वभावाः-"तद्धर्मिणो गुणाः" [ ] इति वचनात्-इति पक्षः, स न युक्तः,
[illegible]ज्ञान-दर्शन-सुखानि स्वसंवेदनरूपाणि न तदङ्गनाजन्मनि व्याप्रियमाणानि प्रतीयन्ते, नापि
[illegible]तदात्मप्रदेशे प्रतीतिगोचराणि । वीर्यं तु शक्तिः क्रियानुमेया, साऽपि तद्देह एवानुमीयते,
तत्रैव तत्क्रियाभूतपरिस्पन्ददर्शनात् । तस्माच्च तदङ्गनादेहनिष्ठा देवदत्तस्य भार्या दुहिता स्यात् ।
[illegible]तदनुमानादेतद्देह एव तत्कार्यजननविमुखस्य धर्मादेः प्रत्यक्षतः सद्भाधितकर्मनिर्देशानन्तर-
प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतुः ।

अथ धर्माऽधर्मौ तदङ्गनादिकार्यनिमित्तं तद्गुणः, तदयुक्तम्, न धर्माऽधर्मौ तदात्मनो
गुणौ, अचेतनत्वात्, शब्दादिवत् । न सुखादिना व्यभिचार, तत्र हेतोरवर्तनात्-तस्येह स्वसं-
वेदनलक्षणचैतन्येन तस्य व्याप्यत्वात् अभिमतपदार्थस्वरूपमत्र एव स्वसंवेदनस्वभावात्मा-
[illegible]तदात्मनोऽनुभवात्, अन्यथा सुखादेः स्वयमननुभवात् अनवस्थादोषप्रसङ्गात् अन्यकालेना-
नुभवे सुखस्य परलोकप्रत्यक्षतापत्तिः । प्रसाधितं चैतत् प्राक् ।

न चासिद्धता 'अचेतनत्वात्' इति हेतोः । तथाहि-अचेतनौ तौ, स्वपरपरिच्छेदात्मत्वात्,
[illegible]स्वसंवेदनसाधनात्-'स्वप्रकाशाभिन्ना बुद्धिः, अर्थ-
[illegible] ग्रहणात्मत्वात्, यथा घटः' इति ।
न तु सुखाऽन्य व्यभिचारः, अतः स्वसंवेदनाभावात्, यत् स्वग्रहणात्मकं न भवति न तद् अर्थग्रहणात्मकम्, [illegible]
[illegible] स्वग्रहणात्मकत्वादसिद्धो हेतुरिति
व्यतिरेकी हेतुः ।

न च धर्माऽधर्मयोर्गमकत्वात् चैतन्यत्वात् ज्ञानस्य च स्वग्रहणात्मकत्वात् । अपि चात्मा अनुमानो-
[illegible]स्वग्रहणात्मकत्वे गुणादाविव क्रियादावप्रसङ्गः । 'प्रत्यक्षं कर्म' इति व्यवहाराभिद्रम् ।
[illegible] न च लौकिक-परीक्षकयोः तयोर्विचारः शक्तिरूपादिवत्, तथाऽविप्रतिपत्तेः
[illegible]अन्यथानुपपत्तेः स्वग्रहणात्मकत्वेऽपि तयोर्विचारः शक्तिरूपविषयं जगत् अनुमापकः, तथाऽविप्रतिपत्तेः
न चाविकल्पबोधविषयत्वात् स्वग्रहणात्मकत्वेऽपि तयोर्विचारः [illegible]
[illegible]ऽतिप्रसङ्गात् । तथाहि-अविकल्पकाध्यक्षविषयत्वात् । न च सुविचारितं विपरिवारणम् तदङ्गनायां तस्य तदैव तत्कार्यमिति
[illegible] निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वात् । न च गुणिकार्यत्वं तत्कार्यसमये तस्य तदेव तत्कार्यमिति
[illegible] तद्दोषव्यपदेश इति, स्वकालसमये तत्कार्यजनकत्वस्य भावः ।
[illegible] अन्यदा तु स एव नास्तीति गुणस्य तस्य भावः ! [illegible]
[illegible] तद्बुद्धिप्रसक्तेः अन्यथा तु स एव नास्तीति [illegible] को विशेषः ? अचेतनस्य चेतनात्मगुणत्वविरोधः ।
न च धर्माऽधर्मयोः [illegible]

अथ तयोश्चेतनत्वेऽपि तदात्मगुणत्वे को विशेषः ? अन्यथा तद्योगात् सुखादिवत् । न च धर्माऽधर्मयोः
[illegible]देशस्य तदात्मा स्वपरप्रकाशकत्वात् अन्यथा तद्योगात् सिद्धः । तथाहि-चेतनस्य स्वपरप्रकाशकत्वात्, प्रसङ्गः-
भावादाद्यसिद्धो हेतुः, अनुमानतयोः सिद्धः, अतो विरोधः इति तत्स्वरूपात्, [illegible]
[illegible]तत्कार्याधर्मप्रदेशः तदायत्तत्वादिरूपेण, अतो द्रव्यविशेषो धर्मादिरिति ।
[illegible]ध्यानप्रवेशनम्, योऽसावन्दः स द्रव्यविशेषो धर्मादिरिति ।

न च कश्चित् पूर्वोक्तनीत्या शरीरान्तरात्मसमाभावात् तत्प्रदेशेऽतिद्धिः, अत एव, [illegible]
[illegible]सिद्धः । तथाहि-तदङ्गनास्य तत्कार्ये प्रवृत्तिस्तदभावपूर्विका, तत्र तत्र प्रविष्टत्वम् । सुखस्य
यथा च परलोकादावपि अनुमानात् लिङ्गदुपलब्धेऽपि तथा तत्र प्रविष्टत्वम् । [illegible]
[illegible]

१ पृ० १२१ पं० १० । २ तद्देशस्य-भा०, ब० । ३-तद्गुणो इ० । ४-स्वदेहैव भा०, ब० [illegible]
५-गुणानाम् भा०, पु०, ब० । ६-स्वसिद्धिः । भा०, ब० । ७-सर्वदेशस्था-इ०, भा०, [illegible] । ८-अनेकान्त-
[illegible] ९-तदात्मत्वे आ-पु०, भा० । १०-त्रयवत्वे आ-भा०, ब० । ११ पृ० ४४ प० ११-पृ० [illegible]
१२-तत्परात्मत्वे आ-पु०, भा० । १३-अन्यत्वे-भा०, ब० ।
१४-न हाचेतनस्य भा०, ब० ।

कर्तृपूर्वकत्वेन प्राक् प्रसाधितत्वात् नात्र प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः। अत एव स्तनादिप्रवृत्तेरभिलाषः सिद्धिमासादयन् सङ्कलनाज्ञानं गमयति तदपि स्मरणम्, तच्च सुखादिसाधनपदार्थदर्शनम्। 'कारणव्यतिरेकेण कार्योत्पत्तौ तस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तिः' इति अत्र विपर्ययबाधकं प्रमाणं व्याप्ति-निश्चायकं प्रदर्शितम्। अपूर्वप्राणिप्रादुर्भावे च सर्वोऽप्ययं व्यवहारः प्रतिप्राणिप्रसिद्धः उत्सीदेत्,
५ तज्जन्मनि सुखसाधनदर्शनादेरभावात्, न हि मातुरुदर एव स्तनादेः सुखसाधनत्वेन दर्शनं यतः प्रत्यग्रजातस्य तत्र स्मरणादिव्यवहारः सम्भवेदिति पूर्वशरीरसम्बन्धोऽप्यात्मनः सिद्धः।

न च मध्यावस्थायां सुखसाधनदर्शनादिक्रमेणोपजायमानोऽपि प्रवृत्त्यन्तो व्यवहारो जन्मा-दावन्यथा कल्पयितुं शक्यः विजातीयादपि गोमयादेः कारणाच्छालूकादेः कार्यस्योत्पत्ति-दर्शनादिति वक्तुं शक्यम्, जलपाननिमित्तवृड्विच्छेदादावप्यनलनिमित्तत्वसम्भावनया तदर्थिनः
१० पावकादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गात् सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः।

अथ 'देहिनो देहाद् देहान्तरानुप्रवेशस्तदभिलापपूर्वकः, गृहाद् गृहान्तरानुप्रवेशवत्' इत्य-तोऽन्यथासिद्धो हेतुरिति न द्रव्यविशेषं साधयति। तदुक्तं सौगतैः—

"दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वाऽवन्ध्यकारणम्।
जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति" [ ]

१५ इति, असदेतत्, इह जन्मनि प्राणिनां तदभिलापस्य परलोकेऽभावात्र ततः स इति युक्तम्। नापि मनुष्यजन्मा हीनशुन्यादिगर्भसम्भवमभिलपति यतस्तत्र तत्सम्भवः स्यात्। तदेवं धर्माऽधर्मयो-स्तदात्मगुणत्वनिषेधात् तन्निषेधानुमानबाधितमेतत् 'पावकादूर्ध्वज्वलनादि देवदत्तगुणका-रितम्' इति।

यत् पुनरुक्तम् 'गुणवद् गुणी अप्यनुमानतस्तद्देशोऽस्तीत्यनुमानबाधितस्वदेहमात्रव्यापकात्म-
२० कर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनाबाधो हेतुः कालात्ययापदिष्टः' इति, तदपि निरस्तम्; तत्र तत्सद्भावा-सिद्धेः। यच्चान्यत् 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति, तत्र किं तद्गुणपूर्वकत्वाभावेऽपि तदुपकारकत्वं दृष्टं येन 'कार्यत्वे सति' इति विशेषणमुपादीयेत सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणो-पादानस्यार्थवत्त्वात्? कालेश्वरादौ दृष्टमिति चेत्, न; कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकम्, कार्यमपि किञ्चिदन्यपूर्वकं तदुपकारकं स्यादिति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद-
२५ नैकान्तिको हेतुः। सर्वज्ञत्वाभावसाधने वागादिवन्निर्विशेषणस्यैव तस्याभिधाने को दोषः? व्यभिचारः कालेश्वरादिनेति चेत्, न; नित्यैकस्वभावात् कस्यचिदुपकाराभावात्। अपि च, शत्रुशरीरप्रध्वंसाभावस्तद्विपक्षस्योपकारको भवति सोऽपि तद्गुणनिमित्तः स्यात्। तदभ्युपगमे वा तत्र कार्यत्वासम्भवेन सविशेषणस्य हेतोरवर्त्तनाद् भागासिद्धो हेतुः। अतद्गुणनिमित्तत्वे तस्यान्य-दप्यतद्गुणपूर्वकं तदुपकारकं तद्वदेव स्यादिति न तद्गुणसिद्धिः।

३० यत् पुनः 'ग्रासादिवत्' इति निदर्शनम्, तत्र यदि तदात्मगुणो धर्मादिर्हेतुः, साध्यवत्प्रसङ्गः। प्रयत्नश्चेत्, न, तत्स्वरूपासिद्धेः–शरीराद्यवयवप्रविष्टानामात्मप्रदेशानां परिस्पन्दस्य चलन-लक्षणक्रियारूपत्वान्न गुणत्वम्, तत्त्वे वा गमनादेरपि तत्त्वात् न कर्मपदार्थसद्भावः क्वचिदपीति न युक्तं 'क्रियावत्' इति द्रव्यलक्षणम्। निष्क्रियस्यात्मनो न स इति चेत्, कुतस्तस्य निष्क्रियत्वम्? अमूर्त्तत्वादिति चेत्, प्रत्यक्षनिराकृतमेतत्–प्रत्यक्षेण हि देशाद्देशान्तरं गच्छन्तमात्मानमनुभवति
३५ लोकः। तथा च व्यवहारः–'अहमद्य योजनमात्रं गतः' न च मनः शरीरं वा तद्व्यवहारविषयः, तस्याहंप्रत्ययाविषयत्वात्। तदेवं परस्य साध्यविकलं निदर्शनमिति स्थितम्।

तेन यदुक्तम् 'यस्मात् तदात्मनो गुणा अपि दूरदेशभाविनि तदङ्गनाङ्गे अन्तराले चोपलभ्यन्ते तस्मात् सिद्धं तस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, अतः 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपल-भ्यमानगुणत्वात् आकाशवत्' इत्यनुमानबाधिता तदात्मस्वशरीरमात्रप्रतिज्ञा' इति, तन्निर-
४० स्तम्; सर्वेषां सर्वगतात्मप्रसाधकहेतूनां पूर्वमेव निरस्तत्वात्। अतो न स्वदेहमात्रव्यापकात्म-प्रसाधकहेतोरपसिद्धिः। नाप्यनुमानेन तत्पक्षबाधा। न च तद्देहव्यापकत्वेनैवोपलभ्यमानगुणोऽपि

---

१ पृ० ७६ पं० २२। २ न तु म–मां०, मां०। ३ पृ० १४७ पं० २३। ४ पृ० १४७ पं० २। ५ पृ० १४७ पं० ४। ६ पृ० १४६ पं० १०। ७ पृ० १४६ पं० २२। ८ पृ० १४७ पं० १। ९ पृ० १४७ पं० ४।

...ना सर्वगतो नित्यद्रव्यत्वाद्विभो स्यात् तदविरोधात् शब्दिस्पर्शविषयज्ञानविषयत्वाद्योका-
...को हेतुः इति युगपत्। घटवादापि तथाभावप्रसङ्गात् प्रतिनियतदेशसर्वगमनाधोधयदारोप्ये-
...सत्वेन। यथाहि-यद् यथा प्रतिभाति तत् तथैव सद्व्यवहारपथमवतरति, यथा प्रतिनियत देश
...कालाऽऽकारतया प्रतिभासमानो घटादिरर्थो, अन्यथा प्रतिभासमानमनियतदेश कालाऽऽका-
...रपरामर्शिज्ञानगुणोऽपि वायुः सर्वगतः स्यात्। न चात्र प्रत्यक्षबाधः, येन तस्य परोक्षत्वोपवर्णनात्। ५

यदि च स्वदेहैकदेशस्थितः, कथं तत्र सर्वत्र सुखादिगुणोपलब्धिः ? इत्यथा सर्वत्रो-
पलभ्यमानगुणोऽपि वायुरेकपरमाणुमात्रः स्यात्। न च क्रमेण सर्वत्रैवमगमनात् तस्य तथा
तत्रोपलब्धिः, युगपत् तत्र सर्वत्र सुखादिगुणस्योपलम्भात्। न चानुभूतेर्यौगपद्याभिमानः,
अन्यत्रापि तथाप्रसक्तेः-तथाहि यत्र घटादिरप्येकाधयपवृत्तिः आनुपूर्वेर्युगपत् सर्वत्रयय-
वेषु प्रतीयते इति। अत एव सौगतोऽपि तथैव निरेतं ज्ञानं कल्पयन्निरस्तः, प्रत्ययपरमनेकपुरुषा-१०
[illegible] सन्तानान्तरवत् परस्परमसङ्क्रमात् अनुस्यूतैकप्रतीतिविलोपः 'सर्वत्र शरीरे मम सुखम्'
इति। अथ युगपदवधिभिरेकशरीरवर्तिभिरनेकनिर्विकल्पविकल्पैकापसमावे घायांकाभिसतैक-
समादयमदोषः, असदेतत्। अनेकोपादानस्य परामर्शविकल्पस्यासम्भवात्। ततो यदुक्तं
शरीरव्यापकैकमानेकपरमाणुपादानानेकविज्ञानभावेऽपि तद्विकल्पसम्भवात्। सन्तानान्तरव्येकपरामर्शा-१५
धर्मकीर्तिना तं प्रति "अनेकपरमाणूपादानमनेकं चेद् विज्ञानं [illegible]
[illegible]य:" [ ] इति, तत् तस्य न शुभाषितं स्यात्।

यच्च 'सावयवं शरीरम् प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्, तथा, पटवत् समान-
जातीयारब्धत्वाच्च तद्वद् विनाशश्चास्य स्यात्' इति, तदपि न सम्यक्। घटादिना व्यभिचारात्-
घटादिर्हि सावयवोऽपि न तन्तुवत् प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वकः, मृत्पिण्डात्
प्रथममेव स्वावयवरूपाधारमनः प्रादुर्भावादिति निरूपयिष्यमाणत्वात्। अपि च, यदि तथात्मनः २०
कथञ्चिद्विनाशः प्रतिपादयितुमिष्टः समानजातीयावयवारब्धत्वात् तदा सिद्धसाधनम्, तदभि-
[illegible] तद्रूपतया तस्यापि नष्टत्वात्। अथ सर्वात्मना सर्वथा नाशः, स घटादाप-
[illegible] दसंसादेर्वयस्याविनाशेन [illegible] यदि च तदद्वर्शनयालात्मा प्रागेकान्तेनाऽसंस्थाऽवयवैरा-
[illegible] व्यसिद्ध इति सार्ध्यविकलो दृष्टान्तः। यदि च तदभिलाप-प्रत्यभिज्ञान-स्मरण-दर्शनादेरभावात्। तदारब्ध-
रभ्येत तदा सतादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, तदभिलाप-प्रत्यभिज्ञान-स्मरण-दर्शनादिकमिति चेत् तर्हि तेषामेव तदद्जातवेलायां तन्वन्त-
कारणानां प्राक्सतां विषयदर्शनादिकमिति चेत् न, कारणगमने तस्यापि सर्वत्र सा [illegible]
[illegible]मेव तत्र प्रवृत्तिः स्यादात्मनः, स्मरणाद्यभावात्। [ ] इति वचनात् न तस्य विषयानुभवा[illegible]
[illegible]रणसंयोगिना कार्यमवद्यं संयुज्यते" [[illegible]
[illegible]देकान्ते चास्याः प्रक्रियायाः समवायनिषेधेन निषेधात्।

अथ कारणगुणप्रक्रमेण तत्र दर्शनादयो गुणा यथर्थस्ते, तेऽपि प्रागसन्त एव जायन्[illegible]
पथमपि न किञ्चिद् परिहृतम्। एतेन "अवयवेषु क्रिया, क्रियातो विभागः, ततः संयोग[illegible]
ततोऽपि द्रव्यविनाशः" [ ] इति परस्परीकृतं पूर्वमवादे तथा तद्विनाशो आ[illegible]
स्मरणाद्यभावप्रसङ्गाधिरस्तम्। न चायमेकान्तः—कटकस्य केयूरादौ कुर्वञ्चिद् भागो[illegible]
विभागः, संयोगविनाशः, द्रव्यनाशः, पुनस्तदवयवा। केवलाः, तदनन्तरं कर्म-संयोगक्रमेण [illegible]
प्रमाणगोचरचारी। केवलं सुवर्णकारव्यापारात् कटकस्य केयूराकारं पर्यायः, आ[illegible]
प्रसक्तविरोधः। न हि पूर्वं विभागः ततः संयोगविनाश इति, तद्देशानुपलक्षणाधीनत्[illegible]

१-व्यन्ध-बा०, बा०। २-भिरेव दा-मा०, भो०। ३-ज्ञानमात्रे-मो०, भो०। ४-
आ० विना। अत्र स्थले प्रमेयक०मार्तण्डे एवं पाठः-"यदप्युक्तम् सावयवं शरीरम् प्रत्यवयवमनुप्रवि[illegible]
स्यात् तथा च घटादिवत् समानजातीयावयवारब्धत्वम्, समानजातीयत्वं चावयवानामात्मनाभिसंबन्ध[illegible]
न्तात्संसिद्धिः यथा च अवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशात् घटविनाशस्तथाऽऽत्मविनाशोऽपि स्या[illegible]
पृ० ४। ५-व्यभिचारतः दृष्टान्तस्य आ०, बा०, गु०। ६ परिवृतम्। बा०, बा०[illegible]
प्रशस्तपादभाष्ये हव्यगुणदर्शनम्—"पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम्-घटादेरामद्र[illegible]
[illegible]-नारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविना[illegible]
[illegible] पृ० १६२ पृ० ११। ८-[illegible] -बा०, बा०, बा०।

न चैकान्तेन तस्याऽसिद्धिरन्ते [illegible]
चैतन्यं तावत् । ततो नानैकान्तिको हेतुः, विशेषणत्वात् । [illegible]
भवतः सर्वदेहस्थितात् [illegible]
रिति सार्धम्- 'ज्ञानमनोयत्नसुखदुःखगतायाम्' इति ॥

५

[मुक्तिवादः]

[पूर्वपक्षः—दुःखानां आत्यन्तिकविशेषगुणोच्छेदस्य असम्भवः]

यदपि 'आत्यन्तिकदुःखादिविशेषगुणोच्छेदविशिष्ट आत्मा मुक्तिः' इति, तदयुक्तम्; अत्र तथाभूतमुक्तिप्रतिपादकं प्रमाणं विद्यते । तथाहि—नैवात्मनोऽत्यन्तविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तम् उच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तं नोच्छिद्यते, यथा प्रदीपसन्तानः, तथा १० चायं सन्तानः, तस्मादत्यन्तं नोच्छिद्यते इति । सन्तानत्वञ्च चात्मा बुद्ध्यादिषु [illegible] पक्षधर्मतयाऽप्रसिद्धम् [illegible] । तत्समानधर्मत्वे धर्मिणि प्रदीपादावुच्छेददर्शनात् [illegible] । न च विपक्षे प्रमाणाद्व्यावृत्तेरनैकान्तिकत्वाशङ्का, [illegible] पक्षत्वात् न बाधितविषयत्वम्, न चायं सत्प्रतिपक्ष इति पञ्चरूपत्वात् प्रमाणम् ।

न च निर्हेतुकविनाशप्रतिषेधात् सन्तानोच्छेदे हेतुर्वाच्यः यतः समुच्छिद्यते इति, तत्त्व-१५ ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानव्युच्छेदकत्वेन निःश्रेयसहेतुत्वेन प्रतिपादनात् । तत्त्वार्थं च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं मुक्तिकाले—न च मिथ्याज्ञानेनानुत्पन्नकालादिना सम्यग्ज्ञानस्य विरोधः सम्भवति, सन्तानोच्छित्तेर्विवक्षितत्वात् । यथा हि सम्यग्ज्ञानात् मिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदः नैवं मिथ्याज्ञानात् सम्यग्ज्ञानसन्तानस्य, तस्य तत्त्वार्थत्वेन बलवत्त्वात्-निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद् रागादयो न भवन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादात्, रागाद्यभावे च तत्पूर्वा २० प्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः, आरब्धशरीरयोश्चोपभोगात् प्रक्षय इति सञ्चितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादेव । तदुक्तम्—

> "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।
> ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" ॥ [भग० गी० अ० ४. श्लो० ३७]

अथोपभोगादपि प्रक्षये "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इत्यय-२५ मोऽस्ति, तथा च मिथ्याज्ञानादुत्पन्नकर्माणि कथं ज्ञानात्क्षयम्? उच्यते—[illegible] मपि कुर्वन्ति—'पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, यद् यत् कर्म तत् तद् उपभोगादेव क्षीयते, यथाऽऽरब्धशरीरं कर्म, तथा चैतत् कर्म, तस्मादुपभोगादेव क्षीयते' इति । न चोपभोगात् प्रक्षये कर्मान्तरस्योत्पादनात् संसारानुच्छेदः, [illegible] त्वादियुगपद्देहोत्पादोपभोगार्थं [illegible] कर्मान्तरोत्पत्तिविनिवृत्तमिथ्याज्ञानस्य तत्त्वज्ञानबलात् ३० विच्छेदस्य कर्मान्तरोत्पत्त्यनुपपत्तेः । न च मिथ्याज्ञानाभावेऽपि [illegible] सम्भवात् भोगानुपपत्तेः तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेर्वाऽदोषोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेः [illegible] घायावत्, ज्ञानस्यैव [illegible] कर्मणां विनाशो व्यापारद्वारेणेत्यर्थः इति व्याख्येयम्, न तु साक्षात् । न चैतद् वाच्यम्-तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानात् इतरेषां तूपभोगादिति, ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात् । न च मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य ३५ सहकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरारम्भकाणीति इत्यभ्युपगमः श्रेयान्, अनुत्पादितकार्यस्य कर्मणः सहकारिवैकल्येऽप्यप्रक्षयात् [illegible] ।

अथ अनागतयोर्धर्माधर्मयोरभ्युपगमनिषेधे तत्त्वज्ञानिनो नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानं कथम्? प्रत्यवायपरिहारार्थम् । तदुक्तम्—

> "नित्य-नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
> ४० ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ [ ]

१-[illegible] २ पृ० ११३ पं० २५ । ३ पृ० ११३ पं० २७ । [illegible]
[illegible]

"अध्यात्मात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः ।
कैवल्ये काम्ये निषिद्धे च प्रवृत्तिर्मतिरेधतः" ॥ [   ]

तदुक्तम्—

"नित्य-नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्य-निषिद्धयोः" ॥ [   ]   ५

अत एव विपर्ययज्ञानध्वंसादिक्रमेण विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्तपक्षपक्षेऽपि न सत्यज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्, विशेषगुणोच्छेदस्य प्रध्वंसत्वात्, तदुपलक्षितात्मनश्च नित्यत्वादिति, कार्यवस्तुनश्चानित्यत्वम् । न च सुखादिविनाशो मुक्तिस्तथाभावः, तस्य तत्तादात्म्याभावात् ।

अथ मोक्षावस्थायां चैतन्यस्यानुच्छेदात्र इत्युच्यते तत्र प्रवर्तन्त इत्यानन्दरूपात्मस्वरूप एव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः । यथा तस्य चित्स्वभावता नित्या तथा परमानन्दस्वभावताऽपि । न चात्मनः १०
सुखादिभिन्नस्वभावत्वमानन्दस्वभावत्वं वाच्यम्, अनन्यत्वेन श्रुतौ श्रवणात् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृहदा० उ० अ० ३, ब्रा० ९, मं० २८] इति । तस्य तु परमानन्दस्वभावत्वस्य संसारावस्थायामविद्यासंसर्गाद्प्रतिपत्तिरित्यतोऽव्यतिरिक्तत्वात्, यथा रज्ज्वादेर्द्रव्यस्य तत्त्वाग्रहणाऽन्यथाग्रहणाभ्यां स्वरूपं न प्रकाशते यदा त्वविद्यानिवृत्तिस्तदा तस्य स्वरूपेण प्रकाशनम्, एवं ब्रह्मणोऽपि तत्त्वाग्रहाऽन्यथाग्रहाभ्यां भेदप्रपञ्चसंसर्गादानन्दादिस्वरूपं न प्रकाशते मुमुक्षुप्रयत्नेन तु यदाऽनाद्यविद्यानिवृत्ति- १५
स्तदा स्वरूपप्रतिपत्तिः, सैव मोक्षः । अत एवोक्तम्—

"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" । [   ] इति, 'ब्रह्मणः' इति च षष्ठ्या व्यतिरेकाभिधानेऽपि न भेदस्तन्मतत्वम्, संसारावस्थायां व्यप्रतिभासनात् तथा तस्य व्यतिरेकाभिधानम् । यथा आत्मनो महत्त्वं निजो गुणो न च संसारावस्थायामात्मग्रहणेऽपि प्रतिभाति तद्वन्नित्यं सुखमविद्यासंसर्गात् मुक्तेः पूर्वमात्मनोऽव्यतिरिक्तं तद्धर्मो वा न प्रतिभाति । २०
महत्त्वम् सर्वगतत्वं तस्य प्रभुत्वं इत्यसङ्कुचितत्वं च प्रत्यक्षवाद्यमपि न प्रकाशते अविद्यासंसर्गात् । अनाद्यविद्योच्छेदे तु स्वरूपावस्थे ब्रह्मणि तेषां प्रतिभासस्तद्वत् परमानन्दस्वभावत्वस्यापीति ।

असदेतत्, अप्रमाणकत्वात् । तथाहि—न तावदेवंविधोऽभ्युपगमः प्रेक्षावताऽप्रमाणकोऽङ्गीकर्तुं युक्तः अतिप्रसङ्गात् । प्रमाणचर्चा च प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमेभ्योऽन्यतमद् वक्तव्यम् । तत्र न तावत् प्रत्यक्षं एतदर्थव्यवस्थापकम्, अस्मदादीन्द्रियजन्यप्रत्यक्षस्यात्र वस्तुनि व्यापाराऽनु- २५
पलम्भात् । 'योगिप्रत्यक्षं स्वैरं प्रवर्तते तत्तान्यथा' इति अत्रापि विवादगोचरम् ।

किञ्च, नित्यस्य सुखस्य मुक्तावस्थायामभिव्यक्तिर्यदयं संवेदनम्—अन्यथाऽभिव्यक्त्यभावात्—तत्र च विकल्पद्वयम्—नित्यमनित्यं वा तद् भवेत् ? नित्यत्वे तस्य मुक्ति-संसारावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः—संसारावस्थायामपि नित्यसुखसंवेदनस्य नित्यत्वात् मुक्तावस्थायामपि तत्संवेदनादेव सुखत्वम्, तच्च संसारावस्थायामप्यविशिष्टम् । अपि च, कारणत्वेन सुखेन साहचर्यं संसारावस्थायां ३०
तस्य गृहीत तत्र सुखदर्शनस्य सर्वदा भवेत् । अथ धर्माधर्मफलेन सुखादिना नित्यसुखसंवेदनस्य संसारावस्थायां प्रतिबद्धत्वान्नानुभवः, शरीरादिना वा प्रतिबन्धात् तस्यानुभूयते तेन न दर्शनमन्यथाऽऽपद्यते । नापि सुखस्य सुखदर्शनलम्भः, अयुक्तमेतत्, शरीरादेर्भोगार्थत्वात् तदेव नित्यसुखानुभवप्रतिबन्धकत्वम् । न हि यद् यदर्थं तद् तदेव प्रतिबन्धकं दृष्टम् । न च वैशेषिकसुखानुभवेन नित्यसुखानुभवप्रतिबन्धः सम्भवति । तथाहि—न तावत् सुखस्य नापि तदनु- ३५
भवस्य प्रतिबन्धोऽनुपपत्तिरूपो विनाशात्मको वा युक्तः, द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि संसारावस्थायां कारणविषयव्यासङ्गाद् विषमात्मसम्बन्धानुभवस्यासंवेदनम्, तदभावात् मोक्षावस्थायां संवेदनमित्यत्रापि विशेषः, नित्यसुखे तदनुभवस्यापि नित्यत्वात् व्यासङ्गानुपपत्तेः । तथाहि—आत्मनो करणादिविषयसम्बन्धो विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्गः, यदिन्द्रियमनसोर्योगस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वं व्यासङ्गः । न चैवमात्मनो इन्द्रियविषय- ४०
सम्बन्धो नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्तिः, तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् । शरीरादेस्तु सुखानुभवप्रतिबन्धकत्वा-

१–हृदिदेवो सि०, च०, च० । २–दग्धौ न ब०, क० । ३–वा भवत्यः स–क० । ४–शास्त्रदर्शि–च०, च० । ५–प्रबलर्यदि–क० । ६–न: तद्–(तद्–) क०, भ० ।

भ्युपगमे तत्प्रहन्तुर्हि गाढत्वं न स्यात् । तथाहि–प्रतिबन्धविगमकृदुपकारक एवेति दृष्टान्तेन
नित्यसुखसंवेदनप्रतिबन्धकस्य शरीरादेर्हन्तुर्हि साफल्याभावः ।

अथानित्यं तत्संवेदनं तदा तदवस्थायां तस्योत्पत्तिकारणं वाच्यम् । अथ योगजधर्मापेक्षः पुरु-
षान्तःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणम्, न; योगजधर्मस्यात्यनित्यतया विनाशे अपेक्षाकारणाभा-
५वात् । अथायं योगजधर्मादुपजातं विज्ञानमपेक्ष्योत्तरं विज्ञानं तस्मात्योत्तरमिति सन्तानत्वम्,
तन्न; प्रमाणाभावात् । तथा च शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेवात्मान्तःकरणसंयोगस्यापेक्षाकारण-
मिति न दृष्टम्, न च दृष्टविपरीतं शक्यमनुज्ञातुम् । आकस्मिकं तु कार्यं न भवत्येव । अथ
मतम्–शरीरादिरहितस्यापि तस्यामवस्थायां योगजधर्मानुग्रहात् सुखसंवेदनमुत्पद्यते । तथाहि–
मुमुक्षुप्रवृत्तिरिष्टाधिगमार्था [illegible]
१०तेषां शास्त्रीय उपदेश [illegible]
"गोमयमनर्थकम्" [[illegible]
एतच्चायुक्तम्; प्रवृत्त्युपदेशयोरन्यथासिद्धत्वात् । भवेत् साध्यसिद्धिर्यथोक्तहेतुद्वयात् यद्येकान्ते-
नैव प्रवृत्तेरुपदेशस्य च इष्टाधिगमार्थत्वं भवेत्, तयोस्त्वन्यथाऽपि दर्शनात् नाभिमतसाध्यसा-
धकत्वम् । तथाहि–आतुराणां चिकित्साशास्त्रार्थानुष्ठायिनामनिष्टप्रतिषेधार्था प्रवृत्तिर्दृश्यते उपदे-
१५शश्च, अतः कथमिष्टप्राप्त्यर्थता प्रवृत्त्युपदेशयोः ? किञ्च, इष्टानिष्टयोः साहचर्यमवश्यम्भावि, अतो
यदीष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिस्तदा बलात् तस्यामवस्थायामनिष्टसंवेदनमापतति, न हीष्टमनिष्टाननुषक्तं
क्वचिदपि विद्यते । तस्मादनिष्टहानार्थायामपि प्रवृत्तावनिष्टं हातव्यम्, तयोर्विवेकहानस्याशक्यत्वात् ।
किञ्च, दृष्टबाधश्च तुल्यः । तथाहि–यथा मुक्तावस्थायामनित्यं सुखमतिक्रम्य नित्यमुपेयते प्रमाणशून्यं
तद्विरुद्धं च तथा शरीरादीन्यपि नित्यसुखभोगसाधनानि वर कल्पितानि, एवं मुक्तस्य नित्यसुख-
२०प्रतिपत्तिः साध्वी स्यात् । अथ शरीरादीनां कार्यत्वात् कथं नित्यता प्रमाणबाधितत्वाच्छरीरादीनां
नित्यत्वमशक्यं साधयितुम् ? नन्वेतत् सुखेऽपि समानम्, दृष्टस्य सुखस्योपजनाऽपायधर्मकस्य
तद्वैकल्यं प्रमाणबाधितत्वात् कथं परिकल्पयितुं शक्यम् ? अथ स्यादेष दोषः यदि दृष्टस्यैव सुखस्य
नित्यत्वमस्माभिरुपेयेत यावता दृष्टसुखव्यतिरिक्तमात्मधर्मत्वेनाभिमतं नित्यं ततश्च कथं दृष्टविरोधः ?
असदेतत्; तत्र प्रमाणाभावादित्युक्तत्वात् । यदप्यनुमानं तत्सिद्धये प्रदर्शितं तदपि प्रवृत्तेरनिष्ट-
२५प्रतिषेधार्थत्वादनैकान्तेनाभिमतसाध्यसाधकम् ।

मा भूदनुमानम्, आगमस्तु नित्यसुखसाधकस्तस्यामवस्थायां भविष्यति, तथा च पूर्वमुक्तम्
"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति, असदेतत्; तदागमस्यैतदर्थत्वासिद्धेः । अथापि कथञ्चिद् नित्यसुख-
प्रतिपादकत्वं तस्याभ्युपगम्यते तथाप्यात्यन्तिके संसारदुःखाभावे सुखशब्दो गौणः, न तु नित्य-
सुखप्रतिपादकत्वाद् मुख्यः । अथ कथं दुःखाभावे सुखशब्द उपेयते ? लोकव्यवहाराद्धि शब्दार्थ-
३०सम्बन्धावगमः, सुखशब्दश्च दुःखाभावे लोके अनवगतसम्बन्धः कथमागमे दुःखाभावं प्रतिपादयति ?
नैष दोषः; न हि लोके मुख्य एवार्थे प्रयोगः शब्दानां किन्तु गौणेऽपि । तथाहि–दुःखाभावेऽपि
सुखशब्दं प्रयुञ्जाना लोका उपलभ्यन्ते; यथा ज्वरादिसन्तप्ता यदा ज्वरादिभिर्विमुक्ता भवन्ति
तदाऽभिदधति 'सुखिनः संवृत्ताः स्मः' इति । किञ्च, इष्टार्थाधिगमार्थायां च मुमुक्षोः प्रवृत्तौ रागनि-
बन्धना तस्य प्रवृत्तिर्भवेत्; ततश्च न मोक्षावाप्तिः, क्लेशानां बन्धहेतुत्वात् ।

३५ {अथ यदेतत् यथा सुखरागनिबन्धनायां प्रवृत्तौ रागस्य बन्धनहेतुत्वाद् मोक्षाभावस्तथा दुःखा-
भावार्थायामपि, तत्रापि दुःखे तत्साधने वा दोषदर्शनाद् द्विष्टस्तदभावाय प्रवर्त्तते । यथा च
रागक्लेशो बन्धनहेतुस्तथा द्वेषोऽपीत्यविशेषः । यच्चोक्तम् 'दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगात् तदभाव
एव सुखम्' तदयुक्तम्; युगपत् सुख–दुःखयोरनुभवात् यथा ग्रीष्मे सन्तापवतस्य क्वचिच्छीते ह्रदे
निमग्नार्द्धकायस्यार्द्धे निमग्ने सुखमन्यत्र दुःखम् । अथ मतम्–यत् तदर्द्धे निमग्ने तद् दुःखाभावः
४०सुखम् अन्यत्र दुःखमिति, तर्हि नारकाणां सुखित्वप्रसङ्गः, क्वचिन्नरके दुःखानुभवादन्यनरकसम्बन्धि-
दुःखाभावाच्च । तथा, अनेकेन्द्रियद्वारस्य दुःखस्य केनचिदिन्द्रियेण दुःखोत्पादेऽन्येनाजनने सुखित्व-

---

१–यदाशी–भां०, मां०, वा०, बा० । २ वा० भा० अ० १, आ० १, सू० २२ । ३–स्वसुखप्रतिपत्तिरपे–भां० मु० । ४ पृ० १५१ पं० २५ । ५ अ० पृ० पं० १ । ६ पृ० १५१ पं० ११ । ७ अ० पृ० पं० ३१ ।

प्रसङ्गः, अपि च, अदुःखितस्यापि विशिष्टविषयोपभोगात् सुखं दृष्टं तत्र कथं दुःखाभावः सुखम्? यत्रापि दुःखसंवेदनपूर्वं यथा क्षुद्दुःखे भोजनप्राप्तौ सुखस्य तद्विनिवृत्तेः तत्राप्यन्न-पानयोर्विशेषात् सुखविशेषो न भवेत्, दृश्यते च लौकिकानां तदर्थमन्नादिविशेषोपादानम्। अन्यथा येन केनचिद् अन्नभावेन च क्षुद्दुःखनिवृत्तौ नान्न-पानविशेषं लौकिका उपाददीरन्। सुखस्य च भावरूपत्वात् सातिशयत्वे तत्साधनविशेषो युज्यते, दुःखाभावस्य तु सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् किं साधनविशेषेण? ५

येऽप्येवमुपागमन् "यदाऽपि पूर्वं दुःखं नास्ति तदाप्यभिलाषस्य दुःखस्वभावत्वात् तन्निबर्हणमात्रं सुखम्" [ ] तेऽपि न सम्यक् प्रतिपन्नाः; यतोऽनभिलाषस्य विषयविशेषसंवित्तौ न सुखिता स्यात्, दृश्यते तस्यामप्यवस्थायां रमणीयविषयसम्पर्के ह्लादोत्पत्तिः।

तत्रैतत् स्यात् यस्यैवाभिलाषः स एव विषयोपभोगेन सुखी नान्यः, तदभिलाषनिवृत्त्यैव विषयाः सुखवितारोऽन्यथा यदेकस्य सुखसाधनं तदविशेषेण सर्वेषां स्यात्। यदा तु कामनिवृत्त्या सुखित्वं १० तदा यस्यैवाभिलाषो यत्र विषये स एव तस्य सुखसाधनं नान्यः, अतश्च यदुक्तम् 'अकामस्यापि क्वचिद्विषयोपभोगे सुखित्वदर्शनाच्च कामाख्यदुःखनिवृत्तिरेव सुखम्' तदयुक्तम्; तथाकामस्यापि विशिष्टविषयोपभोगात् कामाभिव्यक्तौ तन्निवृत्तेरेव सुखत्वादिति।

एतदप्ययुक्तम्।

यतो नावश्यं विषयोपभोगोऽभिलाषनिबर्हणः। यथोक्तम्— १५

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते" ॥ [महाभा० आदिप० अ० ७९, श्लो० १२]

तथा तत्र भगवता पतञ्जलिनाऽप्युक्तम्-"भोगाभ्यासमनुवर्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणाम्" [पात० यो० पा० २, सू० १५ व्यासभा०] इति। अपि च, अन्यथाप्यभिलाषनिवृत्तिर्दृष्टा यथा विषयदोषदर्शनात्, तत्रापि भवतां मते विषयोपभोगतुल्यं सुखं भवेत् तुल्ये चाभिमतार्थलाभे सुखविशेषो २० न स्यात् अभिलाषनिवृत्तेरविशेषात्।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] २५

तदसमीचीनम्; न हि अस्माकं दुःखाभाव एव सुखम्-तथा च भाष्यकृता तत्र तत्राभिहितम्— "न सर्वलोकसाक्षिकं सुखं प्रत्याख्यातुं शक्यम्" [ ]। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्-"न प्रत्यात्मवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्" [ ]। एवं चाभ्युपगतस्य पक्षस्योप (पा) लम्भः, प्रकृते तु सुखे प्रतिपादने दुःखाभावमात्रे सुखशब्दो न तु सुखे एव, तस्य प्रमाणतोऽनुपपत्तेः। तथा च मुक्तस्य नित्यसुखाभिव्यक्तौ प्रत्यक्षाऽनुमानयोर्निषेधे आगममात्रमवशिष्यते तस्य च गौणत्वे- ३० नाप्युपपत्तेर्न मुख्यस्य सुखस्य सम्भवः।

नित्यसुखाभ्युपगमे च विकल्पद्वयम्-किं तद् आत्मस्वरूपं स्वप्रकाशम्, उतस्वित् तद्व्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरप्रमेयम्? पूर्वस्मिन् विकल्पे आत्मस्वरूपवत् स्वप्रकाशसुखसंवित्तिः सर्वदा भवेत्, ततश्च बद्ध-मुक्तयोरविशेषः। तत्रैतत् स्यात्-अनाद्यविद्याच्छादितत्वात् स्वप्रकाशानन्दसंवित्तिर्न संसारिणः, यदा तु तत्त्वज्ञानादेरविद्यातत्त्वस्यापगमस्तदाच्छादकाभावात् स्वप्रकाशानन्दसंवेदनम्, ३५ तदपेशलम्; आच्छादने स्वप्रकाशत्वाभावम्; यत्तु स्वप्रकाशरूपं तत् कथमन्येनाच्छाद्येत?

येऽपि प्रतिपेदिरे "मेघादिना सवितृप्रकाशः सविता वा स्वप्रकाश एवाऽऽच्छाद्यते" [ ] तेऽपि न सम्यक् संचक्षते, न स्वप्रकाशस्य मेघादिनाऽऽवरणम्, आवृतत्वे हि तेनालोकाप्रकाशयोरविशेषो भवेत्, दृश्यते च विशेषः तस्मान्न कदाचित् स्वप्रकाशस्यावृतिः। अपि च, मेघादेस्तत्तोऽ-

---

१ अपि वा दुः-ली०, ब०, व० विना। २-यदुःखस्य इव-भा०। -याद्दुःखस्य स-भि०। ३ ब्र० सू० पं० ७। ४ अदसर्थो भाष्ये वार्त्तिके चैवं दर्शितः "सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणाम्, तदशक्यं प्रत्याख्यातुम्" इति-वा० भा० अ० ४, आ० १, सू० ५६। "न हि प्रत्यक्षं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्"-न्यायवा० अ० १, आ० १, सू० २१ पृ० ८४ पं० ११। ५ प्रतिपन्न-वा०। ६-यमनेना-ली०।

र्थान्तरत्वादावारकत्वं युक्तम्, अविद्यायास्तु तत्त्वान्यत्वेनानिर्वचनीयत्वेन तुच्छस्वभावत्वात् स्वप्रकाशात्मभावे आनन्दे आवरणशक्तिः । तत् सर्वदा स्वप्रकाशानन्दानुभवप्राप्तिः धर्माऽधर्म निताभ्यां च सुख-दुःखाभ्यां सह युगपत् संवेदनं प्रसक्तम् न चैतद् दृश्यते तस्मान्न पूर्वो विकल्पः

नाप्युत्तरः, तत्प्रतिपादकस्य प्रत्यक्षादेर्निषिद्धत्वात् बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात् । अतस्तत्प्र ५ तिपादक आगमः प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद्गौणत्वेन व्याख्यायते शास्त्रदृष्टविरुद्धान्यवाक्यवद् एतच्चाभ्युपगम्योक्तम्, न तु सुखस्य बोधस्वभावताऽपि विद्यते तत्स्वभावतानिराकरणात् ।

यच्चोक्तम् 'सुखरागेण प्रवृत्तस्य मुमुक्षोर्यथा बन्धप्रसङ्गस्तथा द्वेषनिबन्धनायामपि प्रवृत्तावव श्यम्भावी बन्धः' तदयुक्तम्; मुमुक्षोर्द्वेषाभावात्; स हि विषयाणां तत्त्वदर्शी तेष्वारोपितं सुखं तत्साधनत्वं वा तत्त्वज्ञानाभ्यासादन्यथा प्रतिपद्यते । एवं च तस्याऽऽरोपिताकारमिथ्याज्ञानस्याभ १० स्यावुत्तरोत्तरकार्याभावादपवर्ग उच्यते, न तु तस्य दुःखसाधने द्वेषः किन्त्वारोपिते सुखे तत्साधने च तत्त्वज्ञानाभ्यासाद् रागाभावः न च स एव द्वेषः, तस्य रागाभावसव्यतिरेकेण प्रत्यक्षेण सरूपसंविदि अन्यथोपेक्षणीये वस्तुनि रागाभावे द्वेषः स्यात् न चैतद् दृष्टम्, तस्मान्न मुमुक्षोर्द्वेषनिबन्धना प्रवृत्तिः

भवतु वा, तथापि न तस्य बन्धः, द्वेषो हि स बन्धहेतुर्य उत्पन्नः स्वविषये वाग्-मनः-कायलक्ष शास्त्रनिषिद्धां पुरुषस्य प्रवृत्तिं कारयति; तस्य शास्त्रविरुद्धार्थाचरणेऽधर्मोत्पत्तिद्वारेण शरीरादि १५ ग्रहणम् तन्निबन्धनं च दुःखम् । अयं तु मुमुक्षोर्विषयेषु द्वेषः सकलप्रवृत्तिप्रतिपन्थित्वाद्धर्माधर्म योरनुत्पत्तौ शरीराद्यभावान्न केवलं न बन्धाय किन्तु सात्मघाताय कल्पते । तदिदमुक्तम्-"प्रहाणे नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् । नास्य नित्यसुखाभावः (नित्यसुखभावः) प्रतिकूल इत्यर्थः यद्येवं मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति अथापि न भवति, नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमाभावः" [वात्स्या भा० अ० १, आ० १, सूत्र २२, पृष्ठ ४४]

२० अनेन च भाष्यवाक्येन न मुक्तस्य नित्यसुखसंवित्तिरुपेयते-तस्याः प्रमाणबाधितत्वात्-किन्तु सर्वथा यदर्थं शास्त्रमारब्धं तस्योपपत्तिरनेन प्रतिपाद्यते, वाक्यस्याभाव्यात् । तदि किञ्चिदन्यभि धानभूता प्रतिपाद्यदपि तात्पर्यशक्तेरन्यत्र भावान्न श्रूयमाणार्थपरं परन्यायविद्भिः परिगृह्यते विषमरत्नादिवाक्यवत् । तत्र परमानन्दप्राप्तिर्मोक्षः ।

नापि विशुद्धज्ञानोत्पत्तिः, रागादिमतो विज्ञानात् तद्रहितस्य तस्योत्पत्तेरयोगात् । तथाहि २५ यथा बोधाद् बोधरूपता ज्ञानान्तरे तद्वद् रागादिरपि स्यात्, तादात्म्यात्, विपर्यये तदभावप्रसङ्गः न च विलक्षणादपि कारणाद् विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात् बोधाद् बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति, अत एव ज्ञानस्य ज्ञानान्तरहेतुत्वे न पूर्वकालभावित्वं समानजातीयत्वमेकसन्तानत्वं वा हेतुः, व्यभि चारात् । तथाहि-पूर्वकालत्वं तत्समानक्षणैः समानजातीयत्वं च सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारीति नैषां हि पूर्वकालत्वे तत्समानजातीयत्वेऽपि न विवक्षितज्ञानहेतुत्वमिति । एकसन्तानत्वं चाग ३० मेन व्यभिचरतीति ।

अथ केवल एवात्मज्ञानं सर्वदाऽऽत्मनात् । तथाहि-मरणशरीरज्ञानमपि ज्ञानान्तरहेतुः, प्रारब्धस्याज्ञानं च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्येति । नन्वेवं मरणशरीरज्ञानस्यान्यभवशरीरज्ञानहेतुत्वे तदेकसन्तानत्वे वा सन्तानान्तरेऽपि ज्ञानजनकत्वप्रसङ्गः, नियमहेतोरभावात् । अथैकत्र कर्मणा निवृत्तिः, अन्यत्र कस्मान्न भवतीति ? अथ कर्मवासना नियामिकेति चेत्, ३५ तर्हि विज्ञानव्यतिरेकेणात्मसम्भवात् । तथाहि-नाशाच्चये सति विज्ञानं बोधरूपतयाऽविशिष्टं बोधस्य बोधरूपतैकत्वविशेषेण विज्ञानं नियमात् ।

यच्चोक्तं 'सुषुप्तावस्थाज्ञानस्य प्रारब्धस्याज्ञानं कारणम्' इति, (अ) तदेतत्; सुषुप्तावस्था हि तत्त्वतस्तत्र प्रारब्धस्याज्ञानं न विशेषः स्यात् । उभयत्रापि स्वार्थविषयज्ञानस्य तत्प्रागभावात् ।

१ पृ० १०१ पं० २५ । २ पृ० १११ पं० १० । ३ म सुख-[illegible] । ४ पृ० ११६ पं० १२ । [illegible]

सिद्धेनाभिभूतत्वं विशेष इति चेत्, असदेतत्; तत्रापि तद्धर्मतया तादात्म्येनाभिभावकत्वायोगात्। व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यम्, अभिभवश्च यदि विनाशः, न विज्ञानस्य सत्त्वम् विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्। अथ तिरोभावः, न; विज्ञानस्य सत्त्वेन 'तत्सत्त्वेव संवेदनम्' इत्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः। अतः सुषुप्तावस्थायां विज्ञानासत्त्वेनान्त्यज्ञानस्य सद्भावादेकज्ञानसन्तानत्वं व्यभिचारीति । ५

यच्चेदम् 'विशिष्टभावनाबलात् रागादिविनाशः' इति, असदेतत्, निर्हेतुकत्वात् विनाशस्याभ्यासानुपपत्तेश्च । अभ्यासो ह्यवस्थिते ध्यातरि अतिशयाधायकत्वादुपपद्यते न क्षणिके ज्ञानमात्रे इति । अत एव न योगिनां सकलकल्पनाविकलं ज्ञानमुत्पद्यते । न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयः, तस्यैवासम्भवात् अविशिष्टाद् विशिष्टोत्पत्तेरयोगाच्च । तथाहि-पूर्वस्मादविशिष्टादुत्तरोत्तरं सातिशयं कथमुपजायत इति चिन्त्यम्। यच्च 'संतानोच्छित्तिर्निःश्रेयसम्' इति, तत्र निर्हेतुकतया विनाश-१० स्योपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसिद्धत्वादिति ।

अन्ये तु "अनेकान्तभावनातो विशिष्टप्रदेशेऽक्षयशरीरादिलाभो निःश्रेयसम्" [ ] इति मन्यन्ते । तथा च नित्यभावनायां ग्रहः, अनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभावना इति, एवं सदादिष्वपि योज्यम् । प्रत्यक्षं च स्वदेश-काल-कारणाधारतया सत्त्वम् परदेशादिष्वसत्त्वमित्युभयरूपता । तथा, घटादिर्मृदादिरूपतया नित्यः सर्वावस्थासूपलम्भात्, १५ घटादिरूपतया चानित्यस्तदपायात्, एवमात्माप्यात्मादिरूपतया नित्यः सर्वदा सद्भावात्, सुखादिपर्यायरूपतया चानित्यस्तद्विनाशात्। एवं सर्वत्र स्वकार्येषु कर्तृत्वम् कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वमित्यूह्यम् स्वशब्दाभिधेयत्वम् शब्दान्तरानभिधेयत्वं चेति ।

तदेतदसाम्प्रतम्, मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वेन प्रतिषेधात् । अनेकान्तज्ञानं च मिथ्यैव, बाधकोपपत्तेः । तथाहि-नित्यानित्यत्वयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने धर्मिणि अभावः । एवं२० सदसत्त्वादेरपीति । यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्यः' इति, असदेतत्, मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वात् । तथाहि-घटादर्थान्तरं मृद्रूपता मृत्त्वं सामान्यम्, तस्य तु नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात्; घटस्य तु कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव । यच्चेदम् 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वम्' तदिष्यत एव, इतरेतराभावस्याभ्युपगमात् । तथाहि-इतरस्मिन् देशादावितरस्य घटस्याभावो नानुत्पत्तिर्न प्रध्वंसः, तत्र तस्य सर्वदाऽसत्त्वात्। द्विरूपे तु स्वदे-२५ शादिष्वप्यनुपलम्भप्रसङ्गः। एवमात्मनोऽपि नित्यत्वमेव, सुख-दुःखादेस्तद्गुणत्वेन ततोऽर्थान्तरस्य विनाशेऽप्यविनाशात् । 'कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वम्' न प्रतिषिध्यते । तथाहि-यद् यदन्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तौ व्याप्रियत इत्युपलब्धं तत् तस्य कारणं नान्यस्येत्यभ्युपगम्यत एव। एवं शब्दानभिधेयत्वेऽपि 'न सर्वं सर्वशब्दाभिधेयम्' इत्यभ्युपगमात्। न चानेकान्तभावनातो विशिष्टशरीरादिलाभेऽस्ति प्रतिबन्धः । न चोत्पत्तिधर्मणां शरीरादीनामक्षयत्वं न्याय्यम्। तथा, मुक्ता-३० वप्यनेकान्तो न व्यावर्तत इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात्। एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तम्। एवमनेकान्तेऽप्यनेकान्ताभ्युपगमो दूषणम्, वस्तुनः सदसद्रूपताऽनेकान्तः, तस्यानेकान्ताभ्युपगमे रूपान्तरमपि प्रसक्तम्। एवं नित्यानित्यरूपताव्यतिरिक्तं च रूपान्तरमित्यादि वाच्यम्।

अन्ये तु "आत्मैकत्वज्ञानात् परमात्मनि लयः संपद्यते इति ब्रुवते । तथाहि-आत्मैव परमार्थसन्, ततोऽन्येषां भेदे प्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षं हि पदार्थानां सद्भावग्राहकमेव न भेदस्य इत्यविद्या-३५ समारोपित एवायं भेदः" [ ] इति मन्यन्ते, तदप्यसत्, आत्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्रेयससाधकत्वानुपपत्तेः, मिथ्यात्वं चागमाधिकार एव वक्ष्यामः । एवं शब्दाद्वैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया न निःश्रेयससाधनमिति द्रष्टव्यम्। यथा चैतेषां मिथ्यारूपता तथा प्रतिपादयिष्यामः । तस्मादुपरतुल्यावस्थान्तरप्राप्तिलक्षणात्मस्वरूपं मुक्तिः, तत्सद्भावे बाधकप्रमाणप्रदर्शनात्, विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्तिसद्भावे च प्रदर्शितं प्रमाणमिति ॥ ४०

१-तत्सद्भा-सि०, मां०, भां० । २-रागोपाभ्यासा-आ०, बां० ।-रागोपाभ्या-सि० । ३ प्र० पृ० पं० १५ । ४ प्र० पृ० पं० १४ । ५ प्र० पृ० पं० १५ ।

[उत्तरपक्षः–मुक्तौ आत्यन्तिकविशेषगुणोच्छेदस्य निरसनम्]

अथ प्रतिविधीयते–यत् तावदुक्तं 'नवानामात्मविशेषगुणानां संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्' इति, अत्र बुद्ध्यादिविशेषगुणानां प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् [illegible] हेतुः। तथा, बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानां पक्षेण [illegible] 'सन्तानत्वात्' इति हेतुः।

किञ्च, सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपादीयमानं यदि सामान्यमभिप्रेतं तदा बुद्ध्यादिविशेषगुणेषु [illegible] सत्तासामान्यव्यतिरेकेणापरसामान्यस्याभावात् [illegible]। [illegible] 'सत् सत्' इति प्रत्ययहेतुत्वमेव स्यात्, न पुनः सन्तानत्वं [illegible] द्रव्य-गुण-कर्मस्वपि 'सत् सत्' इति प्रत्ययसंभवात् [illegible]।

१० [illegible] जातिः सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपपन्नम् तदा [illegible] साधनविकलो दृष्टान्तः। न च [illegible] प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः। न च [illegible] तयोः समवायस्य निषिद्धत्वात्। [illegible]

१५ [illegible]

[illegible]

२० [illegible]

[illegible]

[illegible]

अथ समवायबुद्ध्या समवायः प्रतीयत इत्यभ्युपगमः, सोऽप्यनुपपन्नः, समवायबुद्धेरनुपपत्तेः। न हि 'एते तन्तवः, अयं पटः, अयं समवायः' इति परस्परविविक्तं त्रितयं बहिर्ग्राह्याकारतया कस्यांचित् प्रतीतावुद्भाति तथानुभवाभावात्।

अथानुमानेन प्रतीयते, अयुक्तमेतत्; प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्यानुमानस्याप्यप्रवृत्तेः। सामान्यतोदृष्टमपि नात्र वस्तुनि प्रवर्तते, तदव्यभिचारिकार्यानुपलब्धेः। न च इहबुद्धिरेव समवायज्ञापिका— ५ 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः सम्बन्धनिमित्तः, अबाधितेहप्रत्ययत्वात्, 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययवत् इति, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि–किं निमित्तमात्रमनेन प्रतीयते, उत सम्बन्धः? यदि निमित्तमात्रं तदा सिद्धसाध्यता। अथ सम्बन्धः, स संयोगः, समवायो वा? संयोगप्रतिपत्तावभ्युपगमबाधा। समवायानुमाने सम्बन्धव्यतिरेकः। न चान्यस्य सम्बन्धे सत्यन्यस्य गमकत्वम्, अतिप्रसङ्गात्। नहि देवदत्तेन्द्रिय-घटसम्बन्धे यज्ञदत्तेन्द्रियं रूपादिकमर्थं करणत्वात् प्रकाशयद् १० दृष्टम्। तन्न समवायः कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः। न च तस्य समवायिभ्यामसम्बद्धस्य सम्बन्धरूपता। न च तत्सम्बन्धनिमित्तोऽपरः समवायोऽभ्युपगम्यते, अभ्युपगमे वाऽनवस्थाप्रसङ्गः। विशेषणविशेष्यभावस्यापि तत्सम्बन्धनिमित्तस्य सम्बन्धाभ्युपगमेऽनवस्थादिकं दूषणं समानम्। न चासम्बन्धस्यापि तस्य सम्बन्धरूपत्वादपरपदार्थसम्बन्धकत्वमिति वाच्यम्, विहितोत्तरत्वात्। न च समवायस्यान्यस्य वा एकान्तनित्यस्य कार्यजनकत्वं सम्भवति, नित्ये क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थ- १५ क्रियाविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च तदभावे पदार्थानां सत्त्वम्, सत्तासम्बन्धित्वेन तस्य निषिद्धत्वाद्विषेस्समानन्याय।] तदेवं समवायस्याभावात् सन्तानत्वं बुद्ध्यादिसन्तानेषु न वृत्तिमत् सिद्धमिति सन्तानत्वलक्षणो हेतुः कथं नाऽसिद्धः?

अथोपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिलक्षणं प्रवाहरूपमेव सन्तानत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्; नन्वेवं तस्य तथाभूतस्यान्यत्रानुवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकत्वम् अभ्युपगमविरोधश्च। न हि परेण २० बुद्धिक्षणोपादानोऽपरः सर्व एव बुद्धिक्षणोऽभ्युपगम्यते एकसन्तानपतितः। तथाभ्युपगमे वा मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्युपादानक्षणादुत्तरोत्तरोपादेयबुद्धिक्षणस्य संभवाच्च बुद्धिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेदः साध्यः सम्भवति, यथोक्तहेतुसद्भावबाधितत्वात्।

अथ पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्रं सन्तानत्वं तेनायमदोषः; नन्वेवमपि हेतोरसाधारणत्वं तदवस्थम्। नह्येकसन्तानरूपमन्यानुयायि, व्यक्तेर्व्यक्त्यन्तराननुगमात्; अनुगमे वा २५ सामान्यपक्षभावी पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थः; अनैकान्तिकश्च पाकजपरमाणुरूपादिभिः तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च, सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्चेति विपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः। विपक्षेऽदर्शनं च हेतोर्बाधकं प्रमाणं प्रागेव प्रतिक्षिप्तम्।

विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिष्वप्यत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात्। ३० न ह्येकान्तनित्येष्विवानित्येष्वप्यर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वं सम्भवतीति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च प्रदीपादीनामुत्तरः परिणामो न प्रत्यक्षः इत्येतावता 'ते तथा न सन्ति' इति व्यवस्थापयितुं शक्यम्; अन्यथा परमाणूनामपि पारिमाण्डल्यगुणाधारतया प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तेस्तद्रूपतयाऽसत्त्वप्रसङ्गः। अथ तेषां तद्रूपतयाऽनुमानात् प्रतिपत्तेर्नायं दोषः; ननु सा अनुमानात् प्रतिपत्तिः प्रकृतेऽपि तुल्या। यथा हि स्थूलकार्यप्रतिपत्तिलक्षणं सूक्ष्मकारणमन्तरेणाऽसम्भविनी परमाणुम- ३५ स्तित्वमुपपादयति तथा मध्यस्थितिदर्शनं पूर्वापरकोटिस्थितिमन्तरेणासम्भवि तां साधयतीति प्रतिपादयिष्यते। न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपस्य विकारान्तरेण स्थित्यभ्युपगमे प्रत्यक्षबाधा, वारिस्थे तेजसि भास्वररूपाभ्युपगमेऽपि तद्बाधोपपत्तेः। अथोष्णस्पर्शस्य भास्वररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवादनुद्भूततया तत्र परिकल्पनमनुमानतस्तर्हि प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवन्न सन्ततिविपत्तिभावमन्तरेण विरामः सम्भवतीत्यनुमानतः किं न कल्प्यते सन्तत्यनुच्छेदः? अन्यथा ४० सन्तानचरमक्षणस्य यथान्यानारम्भकत्वेनासत्त्वं पूर्वपूर्वक्षणानामपि तत्त्वाच्च विपक्षितक्षणस्यापि सत्त्वमिति प्रदीपादेरेकान्तस्य बुद्ध्यादिसाध्यधर्मिणोऽभाव इति नानुमानप्रवृत्तिः स्यात्? तस्मा-

१ प्र० पृ० पं० ११। २ पृ० ११० पं० ८। ३ मुक्तत्व-आ०, ब०। ...

५-द्वाबाधः आ०, ब०, ...

च्छब्द-बुद्धि-प्रदीपादीनामपि सर्वत्र नात्यन्तिको व्युच्छेदोऽभ्युपगन्तव्यः-अन्यथा विवक्षितक्षणेऽपि सत्त्वाभावः-इति सर्वत्रात्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वलक्षणो हेतुर्वर्त्तत इति कथं न विरुद्धः?

विपरीतार्थोपस्थापकस्यानुमानान्तरस्य सद्भावादनुमानबाधितः पक्षः, हेतोर्वा कालात्ययापदिष्टत्वम्। यथा चानुमानस्य पक्षबाधकत्वम् अनुमानबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन हेतोर्वा
५ कालात्ययापदिष्टत्वं तथाऽसकृत् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

अथ किं तदनुमानं प्रकृतप्रतिज्ञाया बाधकं येनात्रायमुक्तदोषः स्यात्? उच्यते, पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणपरिणामवान् शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिकोऽर्थः, सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा, यावान् कश्चित् भावस्वभावः स सर्वः तादृशभावस्वभावविवर्तमन्तरेण न सम्भवति——
तथाहि—न तावत् क्षणिकस्य निरन्वयविनाशिनः सत्त्वसम्भवोऽस्ति, स्वाकारानुकारि ज्ञान-
१० मन्यद्वा कार्यान्तरमप्राप्याऽऽत्मानम् संहरतः सकलशक्तिविरहितस्य व्योमकुसुमादेरिव सत्त्वानुपपत्तेः। तादृशस्य नहि कार्यकालप्राप्तिः, क्षणभङ्गभङ्गप्रसक्तेः। नापि फलसमयमात्मानमप्रापयतस्तज्जननसामर्थ्यं चिरतरविनष्टस्येव सम्भवति। न च समनन्तरभाविनः कार्यस्योत्पादने कारणं स्वसत्ताकाल एव सामर्थ्यमाप्नोति, कार्यकाले तस्य स्वभाव (वा) विशेषात् ततः प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मिन् सत्यभवदसति स्वयमेव भवत् अयं भावः तत्कार्यव्यपदेशमपि न लभते।
१५ न हि समर्थे कारणे प्रादुर्भावमप्राप्नुवत् कार्यमितरद्वा कारणम् अतिप्रसङ्गात्। न च समनन्तरभावविशेषमात्रेण तत्कार्यत्वं युक्तम्, समनन्तरप्रभवत्वस्यैवासम्भवात्-इतरेतराश्रयप्रसक्तेः-इति प्रतिपादितत्वात्।

उपचरितं चैवं तस्य कार्यत्वमितरस्य च कारणत्वं स्यात् अक्षणिकवत्। तत्कारणमात्रे सत्यभवन्तं प्रति पुनः कारणस्य भावाभावयोर्न कश्चिद्विशेषः, ततोऽक्षणिकादिव क्षणिकादपि
२० सत्त्वादिर्वस्तुस्वभावो व्यावर्त्तत एव। न ह्यक्षणिके एव क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधः किं तर्हि क्षणभङ्गेऽपि। तथाहि-न तावत् कार्य-कारणयोः क्रमः सम्भवति, कालभेदात् जन्यजनकभावविरोधात्, चिरतरोपरतोत्पन्नपितापुत्रवत्। न हि तादृशस्यापेक्षापि सम्भवति, अनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वात्, अक्षणिकवत् न हि किञ्चिदतिशयं ततो नासादयत् भावान्तरमपेक्षते यतः क्रमः स्यात्, जन्य-जनकयोराधेयविशेषत्वेऽपि न क्रमसम्भवः, क्रमिणोः कालभेदात् तत्त्वानुपपत्तेः। यौगपद्यं तु
२५ तयोर्हेतुफलभावतयैवासम्भवि, समानकालयोर्हि न हेतुफलभावः सव्येतरगोविषाणवदपेक्षानुपपत्तेः।

अत एव कृतकत्वादयोऽपि हेतवो वस्तुस्वभावाः परिणामानभ्युपगमवादिनां न सम्भवन्ति। तथाहि-अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक उच्यते, सा च परापेक्षा एकान्तनित्यवदेकान्ताऽनित्येऽप्यसम्भविनी; तदपेक्षाकारणकृतस्वभावविशेषेण विवक्षितवस्तुनः सम्बन्धोऽपि नोपपद्येत, स्वभावभेदप्रसक्तेः। अभेदे वाऽपेक्ष्यमाणादपेक्षकस्य सर्वथाऽऽत्मनिष्पत्तिप्रसङ्गात्। अतः
३० स्वभावभिन्नयोः प्रत्यस्तमितोपकार्योपकारकस्वभावयोर्भावयोः सम्बन्धानुपपत्तेः 'अस्येदम्' इति व्यपदेशस्याप्यनुपपत्तिः। यदि पुनरपेक्षमाणस्य तदपेक्ष्यमाणेन व्यतिरिक्तमुपकारान्तरं क्रियेत, तत्सम्बन्धव्यपदेशार्थं तत्राप्युपकारान्तरं कल्पनीयमित्यनवस्था सकलव्योमतलावलम्बिनी प्रसज्येत। तस्मान्नित्याऽनित्यपक्षयोरर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् कृतकत्वं वा न सम्भवतीति यत् किञ्चित् सत् कृतकं वा तत् सर्वं परिणामि, इतरथाऽकिञ्चित्करस्यावस्तुत्वप्रसङ्गात्प्रभस्तलारविन्दिनीकुसुमवत्——
३५ स्वन् कृतको वा शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिरिति सिद्धः परिणामी। सत्त्वं चार्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा निर्विषयत्वात्, तथात्यन्तोच्छेदवत्सु न सम्भवत्येव, ततो व्यापकं मानो हेतुः अनत्यन्तोच्छेदवत्स्वेव सम्भवतीति कथं न प्रकृतहेतुपक्षबाधकत्वमाशङ्कनीयं प्रकृतसाध्यसाधकस्य हेतोरनेकान्तदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात्?

न चास्याप्रतिपक्षत्वमप्यस्य। तथाहि—'बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, सर्वप्रमाणानु-
४० पलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, यो हि सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदो न स [illegible], यथा

१-नित्यो नि-आ०, शां०। २-सत्त्वाभावः वा०, बा०। ३-यविवर्त-आ०। ४-भावाभावयो-आ०, शां०। -भावानावाथि-वा०, ब०, भा०, मां०। ५-समनन्तरेण न-आ०, शां०। ६ पृ० ११८ पं ११। ७ हि कश्चि-आ०, ब०। ८-यन् भा-आ०, शां०। ९-पदमे आ०, शां०।

पार्थिवपरमाणुपाकजरूपादिसन्तानः, तथाच बुद्ध्यादिसन्तानः, तस्मादत्यन्तोच्छेदवान्' इति कथं न सत्प्रतिपक्षत्वं 'सन्तानत्वात्' इत्यनुमानस्य? न च प्रस्तुतानुमानत एव सन्तानोच्छेदस्य प्रसिद्धेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतयोच्छेदत्वमसिद्धम्, सन्तानत्वसाधनस्य सत्प्रतिपक्षत्वात् । न चास्य प्रतिपक्षसाधनस्य प्रमाणत्वे सिद्धे सन्तानत्वसाधनस्य सत्प्रतिपक्षत्वम् अस्य च सत्प्रतिपक्षत्वे विवक्षितानुपलब्धेः प्रतिपक्षसाधनस्य प्रमाणत्वमिति वाच्यम्, भवदभिप्रायेण सत्प्रतिपक्षत्वदोषस्योद्भावनात्; परमार्थतस्तु यथाऽयं दोषो न भवति तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च । सन्तानत्वहेतोस्त्वसिद्धाऽनैकान्तिक-विरुद्धत्वाद्यनेकदोषदुष्टत्वेनासाधनत्वम्, तच्च प्रतिपादितमिति तत्प्रपञ्चेन, दिङ्मात्रप्रदर्शनपरत्वात् प्रयासस्य ।

यच्चोक्तम् 'निर्हेतुकविनाशप्रतिषेधात् सन्तानोच्छेदे हेतुर्वाच्यः' इत्यादि, तदसङ्गतम्; सम्यग्ज्ञानात् विपर्ययज्ञानव्यावृत्तिक्रमेण धर्माऽधर्मयोस्तत्कार्यस्य च शरीरादेरभावेऽपि सकलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानानन्तानिन्द्रियजप्रशमसुखादिसन्तानस्य निवृत्त्यसिद्धेः । न च शरीरादिनिमित्तकारणमात्ममनःसंयोगं चासमवायिकारणमन्तरेण न ज्ञानोत्पत्तिः, परलोकसाधनप्रस्तावे

"तैलाभ्यक्तस्य संस्कारं नियमेनानुवर्तते ।
तथान्तरादिकं चित्तं तच्चित्तसमाश्रयम्" ॥ [ ]

इति न्यायेन ज्ञानस्य ज्ञानोपादानत्वप्रतिपादनात्, अन्यथा परलोकाभावप्रसङ्गात्; नित्यस्यात्मनः समवायिकारणत्वेन ज्ञानादिकं प्रति निषिद्धत्वात् आत्ममनःसंयोगस्य चाऽसमवायिकारणस्य प्रतिषिद्धत्वात् निर्विषयत्वाच्च संयोगस्य निमित्तकारणस्य च; प्रतिनियतत्वेन शरीराद्यभावेऽपि देश-कालादेरात्मनो ज्ञानादिस्वभावस्योत्तरज्ञानाद्यवस्थारूपतया परिणमतः सहकारित्वसम्भवात् । ईश्वरज्ञाने च शरीरादिनिमित्तकारणविकलत्वमप्यनुगच्छति—तज्ज्ञानेऽपि नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्—न पुनर्मुक्तस्यात्मन्यात्ममनःसंयोगस्याभावमेतीति सुस्थितम् नैयायिकत्वं परस्य ।

यच्चोक्तम् 'आरब्धकार्ययोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात् प्रक्षयः संचितयोश्च तत्त्वज्ञानात्' इत्यादि, तदपि न सङ्गतम्; उपभोगात् कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमयेऽपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्-कायव्यापारस्वरूपस्य तत्सम्पादकस्य च प्रचुरतरकर्मणः सद्भावात् कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः? सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यादिक्रमेण पापक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्याऽऽगामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् संचितकर्मक्षयेऽपि सामर्थ्यं संभाव्यत एव—यथोष्णस्पर्शस्य शीतोत्तरस्पर्शानुत्पत्तौ समर्थस्य पूर्वप्रवृत्तशीतस्पर्शप्रध्वंसेऽपि सामर्थ्यमुपलब्धम्—किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानं न पुनरेकान्तनित्यानित्यात्मादिविषयम्, तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः । यथा चैकान्तवादिपरिकल्पित आत्मादयो न संभवन्ति तथा यथास्थानं निवेदयिष्यते । मिथ्याज्ञानस्य च मुक्तिहेतुत्वं परेणापि नेष्यत एव अतो यदुक्तम् "यथैधांसि" इत्यादि, तत्र सर्वसंवरलक्षणचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षये सामर्थ्यमनुपगम्यते, तत् सिद्धमेव साधितम् ।

यच्चोपभोगादशेषकर्मक्षयेऽनुमानमुपन्यस्तम्, तत्र यदेवाऽऽगामिकर्मप्रतिबन्धे समर्थं सम्यग्ज्ञानादि तदेव संचितक्षयेऽपि परिकल्पयितुं युक्तमिति प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे । उपभोगात् प्रक्षये त्वेकमात्रस्य कर्मणः प्रचुरतरकर्मसंयोगसंभवोपदर्शनेन तदुपक्षयो मुक्तिरदुर्लभः । 'कर्मत्वात्' इति च हेतुः सन्तानत्ववदसिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वान्न प्रकृतसाध्यसाधकः । अभिप्रायवादिनोऽप्यस्य सन्तानत्वहेतुदूषणानुसारेण स्वयमेव वाच्यं न पुनरत्रोच्यते ग्रन्थगौरवभयात् ।

यच्च 'समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; अभिलाषरूपरागाभावाद्

१–वस्तिरमावा–ब०, ज० । २ पृ० ११८ पं० २–पृ० ११७ पं० २० । ३ पृ० १५० पं० १० । ४ पृ० ०० पं० १९ । ५ प्रतिषिद्धत्वा–बि० श्रि० । ६ पृ० ११३ पं० ४६ । ७ पृ० १५९ पं० २१ । अत्र सर्वे प्रमेयकमलमार्तण्डे "[illegible]" [illegible] –पृ० ११ प्र०, प० ११ । ८ पृ० १५० पं० ९० । [illegible] १०–न् यथैधांसि–ब० । ११–प्रपातस्वतो सिद्ध–ब० । १२ पृ० १५० पं० २६ । –रो० । १३–यावोर–ब० । १४ पृ० १५० पं० १८ ।

रुयाद्युपभोगासम्भवात्, सम्भवेऽपि चावश्यंभावी ऋद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि प्रचुरतर-धर्माधर्मसंभवोऽतिभोगिन इव नृपत्यादेः, वैद्योपदेशप्रवर्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसङ्गतः, तस्यापि निरुग्भावाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्यौषधाद्याचरणे वीतरागत्वासिद्धेः। न च मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलाषेण प्रवर्तमानस्य सरागत्वम्, सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या ५प्राक् प्रसाधितत्वात्। भवोपग्राहिकर्मनिमित्तस्य तु वाग्-बुद्धि-शरीराऽऽरम्भप्रवृत्तिरूपस्य सातजनकस्य शैलेश्यवस्थायां मुमुक्षोरभावात् प्रवृत्तिकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य सुखाभिलाषस्याप्यसिद्धेर्न मुमुक्षो रागित्वम्। प्रसिद्धश्च भवतां प्रवृत्त्यभावो भाविधर्माधर्मप्रतिबन्धकः। यश्च भाविधर्माधर्माभ्यां विरुद्धो हेतुः स एव सञ्चितयोस्तत्क्षयेऽपि युक्त इति प्रतिपादितम्।

अत एव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक एव हेतुर्भावि-भूतकर्मसम्बन्धप्रतिघातकत्वाद् १०मुक्तिप्राप्त्यवन्ध्यकारणं नान्य इति। तेन यदुक्तम् 'तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानात्' इति, तद्युक्तमेव। यत्तु 'इतरेषामुपभोगात्' इति, तदयुक्तम्; उपभोगात् तत्क्षयानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्। यत्तु 'नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक् काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुत्वेन च प्रतिपादितम्' तदिष्टमेवास्माकम्। केवलज्ञानलाभोत्तरकालं तु शैलेश्यवस्थायामशेषकर्मनिर्जरणरूपायां सर्वक्रियाप्रतिषेध एवाभ्यु-१५पगम्यत इति न तन्निमित्तो धर्माधर्मफलप्रादुर्भावः, प्रवृत्तिनिवृत्तेरात्यन्तिक्यास्तत्क्षयहेतुत्वसिद्धेः।

यच्चोक्तम् 'विपर्ययज्ञानध्वंसादिक्रमेण विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्त्यभ्युपगमे न तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मनो मुक्तिरूपतया प्रतिषिद्धत्वात्, बुद्ध्यादेर्विशेषगुणत्वस्यात्यन्तिकतत्क्षयस्य च प्रमाणबाधितत्वात्। गुणव्यतिरिक्तस्य च गुणिन आत्मलक्षणस्यैकान्तनित्यस्य निषेत्स्यमानत्वात् तस्य बुद्ध्यादिविशेष-२०गुणतादात्म्याभावोऽसिद्धः।

यच्च 'मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदात्र कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्त इत्यानन्दरूपात्मस्वरूप एव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः' इति, एतत् सत्यमेव। यच्च 'यथा तस्य चित्स्वभावता नित्या तथा परमानन्दस्वभावताऽपि' इत्यादि, तदयुक्तम्; चित्स्वभावतायाः अप्येकान्तनित्यतानभ्युपगमात्। आत्मस्वरूपता तु चिद्रूपताया आनन्दरूपतायाश्च कथंचिदभ्युपगम्यत एव। यच्च 'प्रत्यक्षेण २५श्रुतौ श्रवणम् 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति, तदपि नास्मदभ्युपगमबाधकम्, समस्तज्ञेयव्यापिनो ज्ञानस्यातीन्द्रियस्य चानन्दस्य स्वसंविदितस्य मुक्त्यवस्थायां सकलकर्मरहितात्मप्रकाशरूपस्येष्टस्य कथंचिदभीष्टत्वात्।

यदपि 'यदाऽविद्यानिवृत्तिः तदा स्वरूपप्रतिपत्तिः सैव मोक्षः' इति, तदपि युक्तमेव, भाव-विधपारमार्थिककर्मप्रवाहरूपानाद्यविद्यात्यन्तिकनिवृत्तेः स्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणमोक्षावाप्तेरभीष्टत्वात्। ३०अत एव 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते' इत्येतदपि आत्मस्वरूपप्रतिपत्तिमुपदर्शयति, अभिव्यक्तेः स्वसंविदितानन्दस्वरूपतया तदवस्थायामात्मन उपसंगत्युपगमात्। यच्च 'यथाऽऽत्मनो महत्त्वं नित्यो गुणः' इत्यादि, तदसाम्प्रतम्, नित्यगुण—महत्त्वादेरात्मनोऽव्यतिरिक्तत्वेन तद्वत्संबन्धेन वा प्रमाणबाधितत्वादनभ्युपगमार्हत्वात्। अत एव 'संसारावस्थायामपि नित्यगुणस्य तत्संवेदनस्य च सद्भावात् संसार-मुक्तावस्थयोरविशेषः' इत्यादि यद्दूषणमत्र पक्षे उपन्यस्तं तदनभ्युपगमादेव निरस्तम्।

३५　　यदप्यनिष्टपक्षेऽपि 'तस्यामवस्थायां सुखोपलब्धावपेक्षाकारणं वक्तव्यम्, न शरीरादावात्मनः-आत्ममनःसंयोगः कारणत्वेनाभ्युपेयते' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; ज्ञान सुखादेर्धर्मसंयोगादेरपि च तत्कर्मानुवृत्तितः प्राक् प्रतिपादितत्वात्, सेन्द्रियशरीरादेस्तु तदुपलब्धावपेक्षाकारणत्वेनाभ्युपगमस्यानभ्युपगमात्। तथाहि—सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणाभावाद्रहिते विज्ञानसुखादयस्तु एव

१ अत्र [illegible] "[illegible]" [illegible] [illegible] [illegible] पं० ३। २ पृ० १०० पं० ३१। ३ पृ० ६१ पं० ८। ४—[illegible] ५ पृ० १५९ पं० २४। ६ पृ० १५० पं० ३१। ७ पृ० १०० पं० ३१। ८ पृ० १०१ पं० ३४। ९ पृ० १५० पं० ३०। १०—[illegible] ११ पृ० १०३ पं० ६। १२ पृ० १०१ पं० ३। १३ पृ० १०१ पं० ९। १४ पृ० १५१ पं० १०। १५ पृ० १०१ पं० ११। १६ पृ० १०१ पं० १०। १७ पृ० १०१ पं० १०। १८ पृ० १०१ पं० १९। १९ पृ० १५१ पं० २४। २० [illegible] २१ पृ० १०१ पं० १। २२ पृ० १०१ पं० १०।

...द्रियविषयत्वेनानियतविषयम्, यथाऽव्यापकचक्षुरादिकरणानामन्, 'तद्वन्ती तत्त्वम्' इति
...मत्वलाघवेन व्याप्तिप्रसाधकं वा । न चात्राप्यात्मान्तःकरणसंयोगस्य शरीराद्यपेक्षा-
...कारणत्वस्य व्यापार इति वक्तुं युक्तम्, अन्तःकरणस्याणुपरिमाणत्वकल्पना प्रमाणवाधितत्वे-
...नाभ्युपगमार्हत्वात् संयोगस्य च निषिद्धत्वात् । शरीरादीनां तु ज्ञानोत्पत्तिवेलायां सन्निधानेऽपि
...गुण-दोषाऽन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्य तज्ज्ञानेऽनुपलम्भात् अपेक्षाकारणत्वं कल्पयितुं युक्तम्, तथापि ५
...त्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गः । देश-कालादिकं च विशुद्धज्ञानक्षणसन्तानवर्तिनः ज्ञानान्तरोत्पादने प्रवर्तमान-
...स्यापेक्षाकारणं न प्रतिषिध्यते मुक्त्यवस्थायामपि, शरीरादिकं तु तस्यामवस्थायां कारणाभावा-
...देवानुपपन्नं नापेक्षाकारणं भवितुमर्हति । यदि च सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणमन्तरेण ज्ञानादेकत्व-
...स्तिनानुपपद्येत तदा तथाभूतापेक्षाकारणजन्यज्ञानस्य चक्षुरादिज्ञानस्येव प्रतिनियतविषयत्वं स्यादिति
'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः, प्रमेयत्वात्, पञ्चाङ्गुलिवत्' इत्यतोऽनुमानादनुमीयमानं सर्वज्ञ- १०
ज्ञानमपि प्रतिनियतविषयत्वाच्च सर्वविषयं स्यात् । यदि पुनस्तज्ज्ञानं सकलपदार्थविषयत्वात्
तज्जन्यं "अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १, पं० २] इति वचनात् सेन्द्रियशरीरापेक्षाका-
रणाऽजन्यं योऽभ्युपगम्यते अन्यथा सर्वविषयत्वं न स्यादिति तर्हि मुक्त्यवस्थायामपि देहाद्यपेक्षा-
कारणाऽजन्यं किं नाभ्युपगम्यते ? प्रसाधितं चानिन्द्रियजं सकलपदार्थविषयमबाधं ज्ञानं सर्वज्ञसाध-
नमन्नादे इति न सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणजन्यत्वाभावे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतविषयत्वाभावादभाव १५
एवाभ्युपगन्तुं युक्तः ।

अपि च, सकलपदार्थप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य स्वभावः, स च सेन्द्रियदेहाद्यपेक्षाकारणस्वरूपावरणे-
नाच्छादितेऽपरकार्यस्थितप्रकाश्यपदार्थप्रकाशकस्वभावप्रदीप इव तदावारकशरावादिना, तदपगमे तु
प्रदीपस्येव स्वप्रकाश्यप्रकाशकत्वं ज्ञानस्यापदातिसिद्धमिति कथमावरणभूतसेन्द्रियदेहाद्यभावे तदव-
स्थायां ज्ञानस्याप्यभावः प्रेर्येत ? अन्यथा प्रदीपावारकशरावाद्यभावे प्रदीपस्याप्यभावः प्रेरणीयः २०
स्यात् । न च शरावादेरावारकस्य प्रदीपं प्रत्यजनकत्वमवाशङ्कनीयम्, तथाभूतप्रदीपपरिणतिजनकत्वा-
च्छरावादेः, अन्यथा तं प्रत्यावारकत्वमेव तस्य न स्यात्, परिणामस्य च प्रसाधयिष्यमाणत्वात् ।
उपलभ्यते च संसारावस्थायामपि ध्यानीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षोः सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादि-
व्यवस्थितस्य सेन्द्रियशरीरव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरावस्थाय-
स्थामासादयतः परमकाष्ठागतिरपि सम्भाव्यत एवेत्येतदपि सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितमिति न
पुनरुच्यते ।

परमार्थतस्त्वानन्दरूपताऽऽत्मनः स्वरूपभूता तद्विपक्षकर्मसम्पात् तस्यामवस्थायामुपपद्यते ।
एकान्तनित्यस्य त्वविचलितरूपस्यात्मनो वैषयिकसुख-दुःखोपभोगोऽप्यनुपपन्नः, एकस्वभावस्य तत्...
...वायापरित्यागे भिन्नसुख-दुःखसंवेदनोत्पादेऽप्याकारस्येव तदनुभवाभावात् । तत्समवेत-तत्सु...
...स्यादिकं तु प्रतिक्षिप्तत्वाच्च वक्तव्यम्, 'ज्ञानं चोत्तरज्ञानोत्पादनस्वभावम्, यच्च यत्स्वभावं...
...तत् तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम्, यथाऽन्त्या बीजादिकारणसामग्री अङ्कुरोत्पादने, तत्स्वभावश्च...
...ज्ञानक्षण उत्तरज्ञानक्षणोत्पादने' इति स्वभावहेतुः, अन्यथाऽसौ तत्स्वभाव एव न स्यात् ...
...च संसारावस्थायामान्त्यक्षणस्योत्तरज्ञानजननस्वभावत्वमसिद्धम्, तथाभ्युपगमे सन्तानान्तर...
...तस्य निषिद्धत्वात् तदजनकत्वेन तस्यानर्थक्रियाकारित्वात् अवस्तुत्वापत्तेस्तज्जनकस्यान्त्यक्षणस्य...
...ततस्तज्जनकत्वेऽस्थयमेवोपचितसन्तानस्यावस्तुत्वप्रसङ्गः ।

...अथ स्वसन्तानवर्तिसंचितक्षणस्याजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्तियोगिज्ञानस्य अनन्तरा...
...क्षणायनुपपत्तिः, नन्वेवं रसादेरेककालस्य रूपादेरव्यभिचारेणानुमानं साध्यचित्तस...
...धन्यक्षणमुक्तिवादिनो बौद्धस्य न स्यात्, रूपादेरन्त्यक्षणस्य विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि...
...कार्यानारम्भकत्वात् । एकसामग्र्यधीनत्वेन रूप-रसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भ...
...कार्यद्वयारम्भकत्वं किं न स्यात् 'योगिज्ञानान्त्यक्षणयोरपि समानकारणसामग्रीजन्यत...
...मैकत्वानुपयोगित्वान्यत्रोपयोगपरत्वमन्त्यक्षणस्य ? उपयोगे वा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वादिनोऽ...

१ पृ० १११ पं० ४२ । २ पृ० ८५ पं० १९ । ३ वाऽभ्यु-आ० । ४ पृ० १५ पं० ...
... पृ० ६१ पं० १५ । ७ पृ० ११५ पं० ९ । ८-दसमा-आ० ...
...सं० । ... ज्ञाना-द०, ब्रा०, सु० । ११ वा ज्ञानकालान्तर-सं०, भा० ...

कस्य स्वविषयज्ञानजननासामर्थ्येऽपि ज्ञानस्यार्थज्ञानजननसामर्थ्यं किं न स्यात्? तथा च
चिन्तनमुत्सीदेत्। अथ स्वसन्तानवर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यवत् भिन्नसन्तानवर्त्तिकार्यजननसा
मपि नेष्यते तर्हि सर्वथार्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेनास्य क्षणस्यावस्तुत्वप्रसक्तिः। तथाविध
वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्वप्रसक्तिः। तथा च सत्त्वादयः क्षणिक
५ साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात्। तस्मात् साश्रवचित्तसन्ताननिरोधलक्षणाऽपि मुक्तिर्विनयजु
नाम्नस्वरूपेणाऽनुपपन्ना।

निराश्रवचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा त्वभ्युपगम्यत एव, केवलं सा चित्तसंततिः सा
युक्ता; बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः। न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः संभवति,
ह्यन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते, सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरपीति चेत्, यदि सन्तानार्थः
१० मार्थसंस्तदाऽऽत्मैव सन्तानशब्देनोक्तः स्यात्, अथ संवृतिसन्, तदैकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वा
बद्धोऽन्यश्च मुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात्। अथासन्तनानात्वेऽपि दृढत
क्षणानामेकत्वाध्यवसायात् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवतः प्रवृत्तेर्नायं
तर्हि न नैरात्म्यदर्शनमिति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः? अथास्ति नैरात्म्यदर्शनं शास्त्रसंस्का
न तदेकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप इति कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात्? तथा
१५ "मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [ ] इत्येतत् द्रुवते। तस्माद
विज्ञानक्षणान्वयिनि जीवे बन्ध-मोक्षयोस्तदर्थं वा प्रवृत्तेरनुपपत्तेः सान्वया चित्तसन्ततिर
गन्तव्या।

न च 'यस्मिन् व्यावर्त्तमाने यदनुवर्त्तते तत् तत एकान्ततो भिन्नम्, यथा घटे व्याव
मानेऽनुवर्त्तमानः पटः, व्यावर्त्तमाने च ज्ञानक्षणेऽनुवर्त्तते चेज्जीवस्ततस्ततो भिन्न एव'-अन्
२० विरुद्धधर्माध्यासेऽपि यद्येकान्ततो भेदो न स्यादन्यस्य भेदलक्षणस्याभावादभिन्नं सकलं ज
स्यात्—इत्यतोऽनुमानात् व्यावृत्ताऽनुवृत्तयोर्भेदसिद्धेर्न सान्वया निराश्रवचित्तसन्ततिर्मुक्ति
वक्तुं युक्तम्, असति तत्र पूर्वापरज्ञानक्षणव्यापके आत्मनि स्वसंविदितैकत्वप्रत्ययस्य प्रत्यक्षस्य
पपत्तेः। अथात्मन्यसत्यप्यध्यारोपितैक(-त्व-)विषयः प्रत्ययः प्रादुर्भविष्यति, अयुक्तमेतत्; सान्
नुमानात् क्षणिकत्वं निश्चिन्वतः समारोपितैकत्वविषयस्य विकल्पस्य निवृत्तिप्रसङ्गात् निश्चयाऽऽ
२५ मनसोर्विरोधात्, अविरोधे वा सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि सर्वात्मना प्रत्यक्षेणार्थनिश्चये
समारोपविच्छेदाय प्रवर्त्तमानं न प्रमाणान्तरमनर्थकं स्यात्। निवर्त्तत एवैकत्वविषयो वि
ल्पोऽनुमानात् क्षणिकत्वं निश्चिन्वत इति चेत्, तर्हि सहजस्याऽऽभिसंस्कारिकस्य च स
दर्शनस्याभावात् तदैव तन्मूलरागादिनिवृत्तेर्मुक्तिः स्यात्।

न चायमेकत्वविषयः प्रत्ययः प्रतिसङ्ख्यानेन निवर्त्तयितुमशक्यत्वान्मानसो विकल्प
३० तथाहि—अनुमानबलात् क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽपि नैकत्वप्रत्ययो निवर्त्तते, शक्यन्ते तु प्रति
सङ्ख्यानेन निवारयितुं कल्पनाः न पुनः प्रत्यक्षबुद्धयः। तस्माद् यथा अश्वं विकल्पयतोऽ
गोदर्शनाश्च गोप्रत्ययो विकल्पस्तथा क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽप्येकत्वदर्शनान्नैकत्वप्रत्ययो विकल्प
नाप्ययं भ्रान्तः, प्रत्यक्षस्याशेषस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। बाह्याभ्यन्तरेषु भावेष्वेकत्वग्राहकत्वेनैवाशे
प्रत्यक्षेणानुत्पत्ति(-प्रत्यक्षाणामुत्पत्ति-)प्रतीतेः, तथा च प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वविशेषणमसम्भव्येव स्यात्
३५ तस्मादेकत्वग्राहिणः स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्याऽभ्रान्तस्य कथञ्चिदेकत्वमन्तरेणानुपपत्तेर्नानुगतरूपाभावः।

नाप्यनुगत-व्यावृत्तरूपयोरैकान्तिको भेदः, तद्भेदप्रतिपादकस्यानुमानस्य तदभेदग्राहकप्रत्य
प्रत्यक्षबाधितत्वात्। न च प्रतीयमानस्य रूपस्य विरोधः, अन्यथा ग्राह्य-ग्राहक—संवित्तिलक्ष
विरुद्धरूपत्रयाध्यासितस्य ज्ञानस्याप्येकत्वविरोधः स्यात्। तथा, एकनीलक्षणस्याप्येकदा स्वपरकार्यज
कत्वाजनकत्वविरुद्धधर्मद्वयाध्यासितस्यैकत्वविरोधप्रसक्तिः। नैयायिकेनापि प्रतीयमाने वस्तुनि
४० विरोधोद्भावनं विधेयम्। अन्यथा 'स्थाणुरयं पुरुषो वा' इत्याकारद्वयसमुल्लेखिसंशयप्रत्ययस्याप्येक
विरुद्धमापद्येत।

१-साश्रव-भां०, मां०। २-मारोपितैत्रि-भा०, टा०। ३ अत्र स्थाने प्रमेय० मा० ईदृशः पाठः "...
...मन्त्रैव वरोचयाकाशा प्रतिपत्तौ।" पृ०१३ प्र०, पं० ८।

यच्चोक्तम् 'यदि योगजो धर्म आत्ममनःसंयोगस्यापेक्षाकारणम्' इत्यादि, तदपि विफलम्। तदपेक्षालाभ [illegible] । यच्च 'मुमुक्षुप्रवृत्तिविरोधिकमार्गाः प्रेक्षापूर्वकारि-प्रवृत्तिकत्वात्' इत्यनुमाने 'चिकित्सा [illegible] समानिष्ठ [illegible] मुमुक्षवो वीतरागाः सन्तः ५ इत्यनेकान्तिको [illegible] । न [illegible] परः—मोक्षमुक्तयत्नेषु मुमुक्षवो [illegible]] इत्यभ्युपगमात्। [illegible] दर्शन [illegible] अन्यथापि, तदुक्तम् [illegible] प्रवर्तन्ते, "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" [ ] [illegible] प्रतिपादितम्। [illegible] निरस्तम्। निरस्त १०

यच्च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यागमस्य [illegible] न च तत्र किञ्चित् बाधकमस्तीति प्रतिपादितम्। [illegible] तदर्थफलत्वोपपत्तेः। न च [illegible] तदपि [illegible] इत्युक्तं, तदपि [illegible] इत्याद्यभिहितं [illegible] सुखं मोक्षावस्थायाम् [illegible] यच्च 'नित्यसुखाभ्युपगमे च [illegible]' इत्यादि [illegible] यथाभूतं च [illegible] तथाभूतं प्राक् प्रत्यभिहितमिति। [illegible] यच्च 'नित्यसुखाभ्युपगमात्। [illegible] तदपास्तम्। [illegible] १५ [illegible] इत्यादि, तदपास्तम्। [illegible] प्रतिपादितत्वात्।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तध्वंसस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अपास्तमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि वि
सिद्धेः । न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कत्र) विरोधः स्
किं तदनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः । न चान्यधर्मि
योर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात् । न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशे
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्या
त्मार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात् ।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वात् ततो घटो
मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात्,
च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्; सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः । तथाहि—न तावत् व्यक्त्याश्र
भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-असंबन्धात् प्रागवस्थितैरपि स्वाश्रयैः सं
तिप्रसङ्गात्; स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात् । समवायस्य सर्वगतत्वाद्
न्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहाराभ्युपगम
च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता वाऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामाति
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत् शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात्
प्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्र
परतश्चेदनवस्था । अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात् । तद्रूपाध्यार
तत्प्रत्ययादिश्चान्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्तः ।

समवायमपि च ताद्रूप्यमेव समवायिनोः पश्यामः; अन्यथा तस्याप्याश्रितत्वया संबन्ध
२० कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात् । विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यपरकल्प
वस्था । समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम् । अनाश्रितस्य तत्संबन्धत्वेऽप्यतिप्र
तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात् । सति च वस्तुद्वये स
'इदं सदिदं च सत्' इति समुच्चयात्मकः प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमेवेदम्' इति;
द्विपक्षितैकव्यक्त्याधेयरूपस्य च सामान्यस्याशेषाश्रयग्रहणासंभवात्र कदाचनापि तस्य सं
२५ ग्रहणं स्यात् । तद् व्यक्त्यनाधेयरूपासंभवे तद्गतरूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात् । स्वाश्रयस
सामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिसमाप्तत्वस्यान्यथानुपपत्त्या
न्यसंबन्धशून्येष्वपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यन्वयदर्शनाच्च ।

नाप्यन्यस्य व्यावृत्तिः, स्वलक्षणगतायाः प्रत्येकपरिसमाप्तायाः परिणामसामान्यादभि
व्यावृत्तेः । तदाश्रयान्यानेकव्यक्तिसा[illegible] सामान्यसि
३० तत्सिद्धावस्तुभूते शब्दप्रतिपादिते त[illegible] स्व
वृत्तिरपरिकल्पितरूपे कथं स्यात् ? । [illegible]
प्रवर्तेत । न च विकल्पितस्य सामान्यस्यावस्तुभूततया केनचिद् दृश्येन सारूप्यमस्ति, सदा
सारूप्यस्य किं दृश्य-विकल्प्यैकीकरणवाचोयुक्त्या ? तदेव दृश्यं सामान्यमाने प्रतिभासते, त
भासाच्च तत्रैव वृत्तिरिति किं न स्फुटमेवाभिधीयते अवस्त्वाकारस्य वस्तुना सारूप्यासंभवात्?

३५ किञ्च, दृश्य-विकल्प्ययोरेकीकरणं दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपः; स च गृहीतयोरगृहीतयो
यदि गृहीतयोस्तदा दृश्य-विकल्प्ययोर्भेदेन प्रतिपत्तेर्न दृश्ये विकल्प्याध्यारोपः नहि घट-प

१ पर्यायाना-आ०, ति०, दा०, वा०, ग्र० । प्रमेयकमलमार्तण्डे-पर्यायतादा-इत्येव पाठो दृश्यते-पृ० ३१
पं० ४ । २ पृ० १५९ पं० २२ । ३-मात्रा व्य-बा० । ४ चाऽभ्यु-इति वि० प्रतौ संशोधितम् । ५-
रोपितस्य-आ० ।-ध्यारोपयेति तत्प्र-भा०, वा० । ६ पृ० १५७ पं० १२ । ७-दं वा स-भा० । -दं च
बा० । ८-मुद्रया-दा० । ९-घभयन्ये-भा०, बा०, भा०, भा० । १०-पक्षितेऽर्थे वि-भा०, भा
११-व्यार्थिता स्य-भा०, बा०, बा० विना । १२-इणे प्रवृत्तिः परि-इति वि० प्रतौ संशोधितम् । -इणे व
परि-भा०, दा०, ।-इणे वृत्तिः परि-दे०, वि० । १३-कल्पयि-वि० । १४-कल्प्यो-भा०, भा० ।

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्यान्यत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात् । [illegible] न सम्भवति, अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्पबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्धा-वप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, [illegible] परस्परवस्तुनोश्च नील-[illegible]योरिव [illegible] नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्यविकल्प्ययोः[illegible] एव तदध्यारोपः, [illegible] ५ पर्यवसानमेव तथा वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकत्वेन [illegible] । तथा, [illegible] मेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये [illegible] । [illegible] मात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् [illegible] परिणामात्? अनुभूयते च सामान्यम्-[illegible] प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-[illegible] १० [illegible] । न च [illegible] भावे तदसंभवात् । ननु च यदि [illegible] । न च [illegible] न प्राप्नोति, नैव दोषः, [illegible] [illegible] सर्वत्र [illegible] १५ [illegible] । [illegible] रूपं यस्यैकान्तव्यावृत्तेरेवेति नानेकान्तवादे [illegible] ।

यदपि [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरो
सिद्धेः । न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कथ)विरोधः स्यात
किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः । न चान्यधर्मिनि
योर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात् । न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेष
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मि
स्यार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात् ।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नि
मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घ
च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्; सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वा
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः । तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्था
भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्
तिप्रसङ्गात्; स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात् । समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यक्
न्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यम
च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता योऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरि
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत् शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् सत्
प्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वे
परतश्चेदनवस्था । अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात् । तद्रूपाध्यारोपे
तत्प्रत्ययादिर्भ्रान्त एव प्रसक्तः ।

समवायमपि न तादृप्यमेव समवायिनोः पश्यामः; अन्यथा तस्यान्याश्रितया संबन्धान्त
२० कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात् । विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यपरतत्कल्पने
वस्था । समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम् । अनाश्रितस्य तत्संबन्धत्वेऽप्यतिप्रस
तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात् । सति च वस्तुद्वये गवि
'इदं गविदं' च सत्' इति समुच्चयात्मकः प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमेवेदम्' इति। सम
[illegible]कव्यक्त्याधेयरूपस्य च सामान्यस्यानेकाश्रयग्रहणासंभवान्न कदाचनापि तस्य संपूर्ण
२५ ग्रहणं स्यात् । तद् व्यक्त्यनाधेयरूपासंभवे तद्गतरूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात् । [illegible]
सामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिसमाप्त्यस्यान्यथानुपपत्त्या सा
[illegible]संबन्धेऽप्यपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यन्यथादर्शनाच्च ।

[illegible] व्यावृत्तिः, स्वलक्षणगतायाः प्रत्येकपरिसमाप्तायाः परिणामसामान्यादभिन्न
व्यावृत्तेः । [illegible] बुद्धिपरिकल्पिताऽतज्जातीयव्यावृत्तिः सामान्यमिति
३० [illegible] तथाविधे सामान्येऽस्वलक्षणविषयत्वेऽर्थक्रियार्थिनां [illegible]
वृत्तिर्[illegible] कथं स्यात् ? । दृश्य-विकल्प (दृश्य) योरेकीकरणेन प्रवृत्तौ [illegible]
प्रसक्तेः । न च विकल्पितस्य सामान्यस्याप्यनुभूतस्य केनचिद् दृश्येन सादृश्यमपि, [illegible]
सादृश्यस्य हि दृश्य-विकल्पयोः [illegible] ? तदेव दृश्यं सामान्यज्ञाने प्रतिभाति, [illegible]
[illegible] किं न [illegible] सादृश्याभावात् ?

३५ किञ्च, दृश्य-विकल्पयोरेकीकरणे दृश्ये विकल्पस्याध्यारोपः, न च गृहीतयोरगृहीतयोर्
यदि गृहीतयोस्तदा दृश्य-विकल्पयोर्भेदेन प्रतिपन्नं दृश्यं विकल्पस्याध्यारोपः; यदि अ[illegible]

[illegible]

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकत्वाऽपरत्वारोपः, अतिप्रसङ्गात् । नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्पबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्धा-वप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्परमध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनभ्रान्त्यध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्यान्यवसायिविकल्पबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५ पपत्तेरनन्तरमेव तस्या वस्तुस्वरूपग्राहित्वविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । तथा, अनुमा-नेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिष्प्रवृत्त्ययोग एव । नातद्रूपव्यावृत्ति-मात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपव्यावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समान-परिणामात्? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजन्याध्यानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागपरिच्छिन्नत्वाऽपि दर्शयसि १० दूरे वृक्षादिमात्रप्रतीतिसंदर्शनम् सन्निधानकरणे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामा-भावे तदसंभवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् भिन्नत्वात्ऽन्यत्रानन्वयात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य सजातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, भिन्नेऽपि वस्तुन्यसाधारणाधिकरणदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेद- १५ प्रतिपत्तेरप्रत्यभावात् तस्या प्रतिपत्त्यविरोधात्र दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्त-रूपं धर्मैकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्यु-पगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; इतरेतराभावस्य घटपटस्वभावे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् घटा-भावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । २० यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा कटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावात् भिन्नत्वादेव । नाप्येषां परस्परमभिधा-नामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरत्वेऽकिंचित्करत्वात् । न चाभिधाना-मन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परमभिधानाभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नाना-मुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च २५ प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता" [   ] इति निरस्तम् । किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमितरेतराभावेन भिन्नेन परिकल्पितेन? तदेकान्त-भिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति ।

न चानाय पदार्थस्याभावोऽस्त्व, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- ३० कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादिष्विव परदेशादिष्वसत्त्वेः कथं न सर्वात्मकत्वम्? अथ परदेशादिष्विव स्वदेशादिष्वपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदैव स्वसत्त्वं तदैव पररूपासत्त्वम्, तन्वेवमपि भेदे पररूपासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशात् सर्वथाऽसत्त्वम्; अथ स्वसत्त्वे पररूपासत्त्वस्य तदा पररूपासत्त्वाकाराद् सर्वा-त्मकत्वम्—यथा हि स्वाभावाभावात् स्वसत्त्वं तस्य तथा पररूपाभावाभावात् पररूपसत्त्वप्रसक्ति- ३५ निवारितप्रसरा, अविशेषात् । न च पररूपसत्त्वं कश्चित्परस्यैति न तन्निवृत्तिः पररूपत्वादिकेति वाच्यम्, स्वसत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात् ।

अथ भावाभावविधुरा पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुभ्यः स्वरूप उपजायमानः स्वरूपमात्रनियत एवोत्पद्यन्ते; तदेवावशेषमात्रस्वरूपनिबद्धत्वेन विपरीतरूपावृत्ते-र्व्यवहारपदमवतरेति किमितरेतराभावकल्पनया? न किञ्चित्, केवलं स्वतत्त्वरीत्या स्वस्वभावव्यव- ४०

—कल्पना—ब० । २—नाभावोऽस्ति मु० । ३—च तत्स्वरूपं—भा०, ब० । —दृष्टिरूपे— ब० । —प्रतिभा—ब० । ६—अनुभव—भा०, ब० । —अभिलापे—ब० । ८ पृ० १६५ पं० ११ । ९—च घटाभा—भा०, ब० । १० यदा ब०, भा० ।

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधा-सिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कत्र)विरोधः स्यात्—किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्त-योर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपत-
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिक-स्यार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः, मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य च कारणाद् विच्छेदोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्, सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तर-भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽ-तिप्रसङ्गात्, स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यवस्थ-[illegible]परिहारेण व्यक्त्यन्तरेष्वेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यमाना च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता यैरभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत् तुल्यादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् घटादि-प्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वेषः? [illegible]। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिप्रादुर्भावात्र भ्रान्त एव प्रसक्तः।

समवायमपि च तादात्म्यमेव समवायिनोः पश्यामः, अन्यथा तस्यान्याधीनतया संबन्धान्तर-
२० प्रसङ्गात्, तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यनवस्था [illegible] समवायात् [illegible] कल्पने इतरेतराश्रयत्वम्। [illegible] संबन्धान्तरेऽप्यतिप्रसङ्गः। तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात्। [illegible] 'इदं [illegible]' च [illegible]' इति [illegible] प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुन 'इहास्येदम्' इति। [illegible] विशेषणत्वस्यैवकस्य च सामान्यस्यादौ स्वाश्रयग्रहणासंभवाच्च कदाचनापि तस्य [illegible]
२५ ग्रहणं स्यात्। ननु [illegible] तत्प्रत्ययादिवत् तत्स्वभावमेव स्यात्। [illegible] सामान्यस्यास्तु परिणामसामान्यरूपता [illegible], प्रत्याश्रय परिणामसामान्यस्यान्यथानुपपत्त्या सामा-न्यस्य [illegible] द्रव्यादिषु पदार्थान्तरत्व [illegible] दर्शनाच्च।

[illegible] प्रत्यासत्तिः, [illegible] प्रत्येकपरिसमाप्त्या परिणामसामान्याद्भिन्नायाः [illegible]। [illegible] सामान्यविशेषे,
३० [illegible] सामान्येऽप्येकस्वभावत्वे [illegible] कथं स्यात्?। द्रव्य-विवर्त (रूप) योरेकान्तेन [illegible]। न च [illegible] सामान्यस्यानुगततया केनचित् रूपेण [illegible], [illegible] द्रव्य-विवर्तयो [illegible]? [illegible] द्रव्य सामान्यवति प्रतिभासे, [illegible] न [illegible] ?

३५ [illegible] द्रव्य-विवर्तयोरेकान्तेन [illegible], न च [illegible]? [illegible] द्रव्य विवर्तयोरेव प्रतिभाने [illegible]

[illegible]

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकत्वाऽध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात्। नाप्यगृहीतयोः न संभवति, अतिप्रसङ्गादेव। न च दर्शनपृष्ठे विकल्पं प्रतिभाति, नापि विकल्पपृष्ठे दर्शनम्। न चैकबुद्धा-वप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-रक्तविज्ञानयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम्। न च दर्शनाध्यवसायिविकल्पद्वयमुत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्धेतोः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५ पपत्तेरनन्तरमेव तस्या वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। तथा, अनुमा-नेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये वह्निप्रवृत्त्ययोग एव। नातद्रूपव्यावृत्ति-मात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समान-परिणामात्? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजन्याध्यानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात्। तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि १० देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम् तन्निराकरणे चानुभवविरोधः। न च सादृश्यम्, समानपरिणामा-भावे तदसंभवात्। ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्ततयाऽन्यत्रानन्वयात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तत्सम्बन्धितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेद-१५ प्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तत्तया प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः। प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्त-रूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम्।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्यु-पगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, इतरेतराभावस्य घटपटस्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटा-भावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात्। २० यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। नाप्येषां परस्पराभिन्ना-नामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात्। न चाभिन्ना-नामन्योन्याभावः संभवति। नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नाना-मुत्पत्तेः। नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतोभेदः, स च २५ प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता" [ ] इति निरस्तम्। किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन? तन्नैकान्त-भिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात्। तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- ३० कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत् परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम्? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः। अथ यथैव स्वसत्त्वं तथैव परासत्त्वम्, नन्वेवमपि यदि परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्, अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वा-त्मकत्वम्—यथा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वासत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिर- ३५ निवारितप्रसरा, अविशेषात्। न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वाभिव्यक्तिरिति वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात्।

अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते, तथैवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विनिश्चीयमानो व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनि- ४०

१-रूपाभा-वा०। २-माननोऽपि वि०। ३-च सामान्यपरि-भां०, मां०। ४-प्रतिपत्तिर्दर्शो-भां०। ५-णामभा-वा०। ६-स्तुतत्स-भां०, मां०। ७-मात्रेणाभे-वा०। ८ पृ० १५५ पं० २४। ९-स्य पटाभा-वा०, बा०। १० यदा भां०, मां०।

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कत्र)विरोधः स्यात्—किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्तयोर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपत-
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिकस्यार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः, मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्, सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तरभूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-असंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽतिप्रसङ्गात्, स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यक्त्यन्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यमाना च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता याऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत् शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् सदादिप्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वेषः? परतश्चेदनवस्था। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिश्चान्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्तः।

समवायमपि च तादात्म्यमेव समवायिनोः पश्यामः, अन्यथा तस्यान्याश्रितस्य संबन्धान्तर-
२० कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यपरतत्कल्पनेऽनवस्था। समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम्। अनाश्रितस्य तत्संबन्धत्वेऽतिप्रसङ्गः। तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात्। सति च वस्तुद्वये समवायिनि 'इदं सदिदं' च सत्' इति सर्वसमुच्चयात्मकः प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमत्रेदम्' इति, समवायिपरिनिष्पन्नस्वरूपस्याधेयरूपस्य च सामान्यस्यानेकाश्रयग्रहणासंभवात्र कदाचनापि तस्य संपूर्णस्य
२५ ग्रहणं स्यात्। तद् व्यक्त्यनाधेयरूपासंभवे तद्गतप्रत्ययादिवत् तन्मात्रमेव स्यात्। स्वाश्रयसर्वगतसामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिसमाप्त्यस्यान्यथानुपपत्त्या सामान्यासंबन्धेऽप्यपि द्रव्यादिषु सदादिप्रत्ययादिदर्शनाच्च।

[illegible] व्यावृत्तिः, व्यक्त्यन्तरगतायाः प्रत्येकपरिसमाप्ताया[illegible] परिणामसामान्यादभिन्नत्वाद् व्यावृत्तेः। [illegible] बुद्धिरविकल्पिका [illegible] सामान्यमिष्यते,
३० [illegible] कथमिव [illegible] सामान्ये [illegible] वृत्तिरन्तरिकाऽऽत्मके कथं स्यात्? द्रव्य-विशेष (द्रव्य) योरेकीकरणेन प्रवृत्तौ [illegible] प्रसङ्गेन। न च [illegible] सामान्यस्यानुभूतस्य केनचिद् दर्शनेन [illegible], [illegible] वा [illegible] किं द्रव्य-विशेषयोरेकीकरणस्याप्युपपत्त्या? तदेव द्रव्यं सामान्यमिति प्रतिभासते, [illegible] [illegible] वृत्तिरिति किं न [illegible] वस्तुना [illegible]?

३५ किञ्च, द्रव्य-विशेषयोरेकीकरणं द्रव्ये [illegible]; स च [illegible]? यदि [illegible] द्रव्य-विशेषयोरेव प्रतिभासते द्रव्ये [illegible]। यदि [illegible]

[illegible]

भिन्नत्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात्। नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव। न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम्। न चैकबुद्धावप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च शीत-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम्। न च दृश्याध्यवसायिविकल्पबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वोपपत्तेरनन्तरमेव तस्या वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। तथा, अनुमानेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिःप्रवृत्त्ययोग एव। नातद्रूपव्यावृत्तिमात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समानपरिणामात्? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजत्वान्नानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात्। तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम्, तन्निराकरणे चानुभवविरोधः। न च सादृश्यम्, समानपरिणामाभावे तदसंभवात्। ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्ततयाऽन्यत्राननुगमात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तल्लिङ्गनाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा साधनमात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेदप्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तथा प्रतिपत्त्यविरोधाच्च दोषः। प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्तरूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम्।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, इतरेतराभावस्य घटपटस्यभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाद्यभावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात्। यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात्। न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति। नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः। नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता" [ ] इति निरस्तम्। किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन? सर्वैकान्तभिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात्। तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश-कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत् परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम्? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः। अथ यदेव स्वसत्त्वं तदेव परासत्त्वम्। नन्वेवमपि यदि परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्, अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वात्मकत्वम्—यथा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वासत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा, अविशेषात्। न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वात्मिकेति वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात्।

अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते, तथैवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विषयीक्रियमाणो व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनि-

१-रूपाभा-वा०। २-मानतोऽपि वि०। ३-न सामान्यपरि-भां०, मां०। ४-प्रतिपत्तिदर्शी-भां०। ५-णामभा-वा०। ६-स्तुनस्त-भां०, मां०। ७-मात्रेणाभे-वा०। ८ पृ० १५५ पं० १४। ९-स्य पटाभा-वा०, बा०। १० यदा भां०, मां०।

धर्मिण्यभावः' इत्यनैकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधा-सिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कत्व)विरोधः स्यात्—किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्त-योर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूप-
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविसर्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य ग्राह्याऽऽत्मनि स्वार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः, मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्, सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तर-भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽ-तिप्रसङ्गात्, स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् प्रत्यय-न्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यमाना च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता याऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत्? मुक्तादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् सदादि-प्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वेषः? पराभ्युपगमे चानवस्था। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिभ्रान्त्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्तः।

समवायमपि च तादात्म्यमेव समवायिनोः पश्यामः, अन्यथा तस्यान्याधीनतया संबन्धान्तर-
२० कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यनवस्था[illegible] समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम्। अतादात्म्ये तत्संबन्धेऽप्यतिप्रसङ्गः। तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात्। सति च वस्तुद्वये साक्षिणि 'इदं गवि इदं च तत्' इति [illegible] प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमेवेदम्' इति। [illegible] [illegible] च सामान्यस्याऽऽश्रयग्रहणाभावान्न कदाचनापि तस्य संपूर्णग्र-
२५ हणं स्यात्। नन्वेकव्यक्त्यपेक्षयाऽभेदे तत्स्वरूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात्। [illegible] [illegible] परिणामसामान्यवादात् विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिणामात्मकत्वानुगमात् सामा-न्यसंबन्धानुपत्तेरपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यदर्शनाच्च।

[illegible] [illegible] [illegible] परिणामसामान्यादभिन्नत्वात् [illegible] [illegible] [illegible] सामान्यमिष्यते,
३० [illegible] [illegible] सामान्येऽस्त्यभावविविक्ते [illegible] [illegible] [illegible] कथं स्यात्?। द्रव्य-विकल्प (स्य) योरेकैकत्वेन प्रवृत्तौ [illegible] [illegible]। न च [illegible] सामान्यस्याननुभूतस्य केनचिद् रूपेण [illegible], [illegible] [illegible] किं द्रव्य-विकल्पे [illegible]? [illegible] द्रव्यं सामान्यजातौ प्रतिभासते, [illegible] [illegible] [illegible] किं न [illegible] [illegible] वस्तुना [illegible]?

३५ किं च द्रव्य-विकल्पयोरेकत्वे [illegible] विकल्पस्यानुगतेः, स न [illegible]? [illegible] [illegible] द्रव्य विकल्पयोरेव प्रतिभासते द्रव्यं विकल्पयोर्वा, [illegible] [illegible]

[illegible]

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात् । नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम् । न चैकमुद्रा-यप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्याध्यवसायिविकल्पबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५ पपत्तेरनन्तरमेव तथा वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । तथा, अनुमा-नेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिरर्थशून्यत्वयोग एव । नातद्रूपव्यावृत्ति-मात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समान-परिणामात् ? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजत्वान्नानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि १० देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम् तन्निराकरणे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामा-भावे तदसंभवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्ततयाऽन्यत्रानन्वयात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तत्सन्निधानाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेद- १५ प्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तत्तया प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्त-रूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्यु-पगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; इतरेतराभावस्य घटपटस्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटा-घभावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । २० यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव । नाप्येषां परस्पराभिन्ना-नामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नाना-मन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नाना-मुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतोभेदः; स च २५ प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता"
[ ] इति निरस्तम् । किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन ? तन्नैकान्त-भिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति ।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- ३० काला-ऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-काला-ऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत् परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम् ? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदेव स्वसत्त्वं तदेव परासत्त्वम् । नन्वेवमपि यदि परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्, अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वा-त्मकत्वम्—यथा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वासत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिर- ३५ निवारितप्रसरा, अविशेषात् । न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वाभिव्यक्तेति वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात् ।

अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते, तथैवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विषयीक्रियमाणो व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया ? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनि- ४०

१-रूपाभा-वा० । २-मानतोऽपि वि० । ३-न सामान्यपरि-भां०, मां० । ४-प्रतिपत्तिदर्श-मां० । ५-नामभा-वा० । ६-स्तुमन्त-मां०, भां० । ७-मात्रेणाभे-वा० । ८ पृ० १५५ पं० २४ । ९-स्य पटाभा-वा०, बा० । १० यदा मां०, भां० ।

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कत्र) विरोधः स्यात्— [illegible] न चान्यधर्मनिमित्त- [illegible] सामान्यविशेषरूपत- [illegible] बाह्याऽऽध्यात्मिक- [illegible]।

येथेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः, मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्। सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तरभूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्–स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽतिप्रसङ्गात्; स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यक्त्यन्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यमाना च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता वाऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत्? शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् सदादिप्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वेषः? परतश्चेदनवस्था। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिश्चान्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्तः।

समवायमपि च तादात्म्यमेव समवायिनोः पश्यामः; अन्यथा तस्याप्याश्रितत्वया संबन्धान्तर-
२० कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यपरतत्कल्पनेऽनवस्था। समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम्। अनाश्रितस्य तत्संबन्धत्वेऽप्यतिप्रसङ्गः। तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात्। सति च वस्तुद्वये सन्निहिते 'इदं सदिदं च सत्' इति समुच्चयात्मकः प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमेवेदम्' इति; संभवद्विचक्षितैकव्यक्त्याधेयरूपस्य च सामान्यस्याशेषाश्रयग्रहणासंभवान्न कदाचनापि तस्य संपूर्णस्य
२५ ग्रहणं स्यात्। तद् व्यक्त्यनाधेयरूपासंभवे तद्गतरूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात्। स्वाश्रयसर्वगतसामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिसमाप्तत्वस्यान्यथानुपपत्त्या सामान्यसंबन्धशून्येष्वपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यन्वयदर्शनाच्च।

नाप्यन्यस्य व्यावृत्तिः, स्वलक्षणगतायाः प्रत्येकपरिसमाप्ताया परिणामसामान्यादभिन्नत्वात् व्यावृत्तेः। तदाश्रयान्यानेकव्यक्तिसा [illegible]
३० तस्मिंश्चावस्तुभूते शब्दप्रतिपादिते त [illegible]
[illegible] कथं स्यात्? [illegible]
[illegible] तया केनचिद् दृश्येन सारूप्यमस्ति, सद्भाव वा [illegible] तदेव दृश्यं सामान्यज्ञाने प्रतिभासते, तत्प्रतिभासाच्च तत्रैव वृत्तिरिति किं न स्फुटमेवाभिधीयते अवस्त्वाकारस्य वस्तुना सारूप्यासंभवात्?

३५ किञ्च, दृश्य-विकल्प्ययोरेकीकरणं दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपः; स च गृहीतयोरगृहीतयोर्वा? यदि गृहीतयोस्तदा दृश्य-विकल्प्ययोर्भेदेन प्रतिपत्तेर्न दृश्ये विकल्प्याध्यारोपः, नहि घट-पटयो-

१ पर्यायाता-आ०, वि०, हा०, का०, गु०। प्रमेयकमलमार्तण्डे–पर्यायतादा–इत्येव पाठो दृश्यते–पृ० ११ टि०, पं० ४। २ पृ० १५२ पं० २२। ३–माना स्य–मा०। ४ चाऽभ्यु–इति टि० प्रतौ संशोधितम्। ५–ध्या-रोपितस्त्र–भा०। –ध्यारोपपेति तत्र–वा०, बा०। ६ पृ० १५७ पं० १२। ७–दं वा स–भा०। –दं चास–वा०। ८–शुदया–वा०। ९–च्चध्यस्पे–वा०, बा०, मो०, मा०। १०–वक्षितेऽर्थे क्षि–भा०, मा०। ११–याधिता स्व–भा०, बा०, बा० विना। १२–क्षणे प्रवृत्तिः परि–इति टि० प्रतौ संशोधितम्। –क्षणे वृत्ति-परि–भा०, हा०, –क्षणे वृत्तिः परि–दे०, टि०। १३–कल्पित–वि०। १४–कल्पको–मो०, मा०।

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात् । नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्ध्यप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्यावयवसायिविकल्प्ययुगुत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५
पपत्तेरनन्तरमेव तथा वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । तथा, अनुमानेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिर्व्यवृत्त्ययोग एव । नातद्रूपव्यावृत्तिमात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समानपरिणामात् ? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजत्वान्नानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि १०
देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम् तदिषयत्वे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामाभावे तदसंभवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्ततयाऽन्यत्रानन्वयात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैव दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तस्मिन्नानाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणामस्यैव भेद- १५
प्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तथा प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्तरूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, इतरेतराभावस्य घटपटयोर्भेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाघभावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । २०
यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव । नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिंचित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च ५
प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वन्तरैरसंकीर्णस्वभावता"
[ ] इति निरस्तम् । किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन ? तदेवमभिन्नोऽभिन्नो चेतरेतराभावः संभवति ।

न चाभाव एवाप्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- १०
कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादिवत् परदेशादिष्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम् ? अथ परदेशादिवत् स्वदेशादिष्वपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदेव स्वसत्त्वं तदेव परासत्त्वम्, तदैकस्मिन् देशे परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशात्तदा सर्वथाऽसत्त्वम् । अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वात्मकत्वम्—यथा हि स्वासत्त्वाभावात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वाभावात् परसत्त्वप्रसक्तिर- १५
निवारितप्रसरा, अविशेषात् । न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न सर्वात्मकत्वम्, स्वसत्त्वस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् ।

अथ नाभावनिवृत्ता पदार्था भावरूपा प्रतिनियता वा भवन्ति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानाः स्वस्वभावनियता एवोपजायन्ते, तदेवार्थसामर्थ्यभाविज्ञानदर्शनेन विपर्यस्तैर्विकल्पैः व्यवहारपथप्रवर्तने किमितरेतराभावकल्पनया ? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः इतरेतराभाव ४०

१-स्वभावता-भ० । २-भावतोऽपि डि० । ३-च परस्पराव्यावृत्ति-भ०, डे० । ४-[illegible]-भ० । ५-[illegible]-भ० । ६-वस्तुस्वरूप-डे०, भ० । ७-[illegible]-भ० । ८ डे० १०५ ६० २८ । ९-ष्व दशायां-भ०, डे० । १० [illegible] डे०, भ० ।

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्व(कत्र)विरोधः स्यात्—किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्तयोर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपत-
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिकस्यार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः, मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्; सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानु-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तरभूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽतिप्रसङ्गात्; स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यक्त्यन्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यमाना च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता वाऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत्? शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् सदादिप्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु कः प्रद्वेषः? परतश्चेदनवस्था। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिश्चान्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्तः।

समवायमपि च तादात्म्यमेव समवायिनोः पश्यामः; अन्यथा तस्याप्याश्रितत्वया संबन्धान्तर-
२० कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थायाः प्रदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यपरतत्कल्पनेऽनवस्था। समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम्। अनाश्रितस्य तत्संबन्धत्वेऽप्यतिप्रसङ्गः। तस्य स्वतः संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात्। सति च वस्तुद्वये सन्निहिते 'इदं सदिदं' च सत्' इति समुच्चयात्मकः प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः 'इदमेवेदम्' इति; संबन्धिद्वयविनिर्मुक्तव्यक्त्यपेक्षरूपस्य च सामान्यस्यादोषाश्रयग्रहणासंभवान्न कदाचनापि तस्य संपूर्णस्य
२५ ग्रहणं स्यात्। तद् व्यक्त्यनाधेयरूपासंभवे तद्रूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात्। स्वाश्रयसर्वगतसामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रयं परिसमाप्तस्यास्यानुगतस्य सामान्यस्य तदन्यदेशेष्वपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यन्वयदर्शनाच्च।

[illegible] व्यावृत्तिः, [illegible] प्रत्येकपरिसमाप्ताया परिणामसामान्यादभिन्नत्वात् व्यावृत्तेः। तदाश्रयाश्यानेकव्यक्ति [illegible]
३० [illegible] [illegible]
वृत्तिर्व्यक्तिभिन्नरूपे कथं स्यात्? [illegible]
दर्शनेन। न च [illegible] सामान्यस्यानुभूततया केनचिद् रूपेण [illegible], [illegible]
[illegible] किं रूप-विशेषैर्[illegible]? [illegible] सामान्यज्ञाने [illegible]
[illegible] पूर्वमिति हि न [illegible] वस्तुना [illegible]?

३५ [illegible] रूप-विरूपयोर्[illegible] इति [illegible]। न च [illegible]?
यदि [illegible] रूप-विरूपयोरेव [illegible] इति [illegible]। यदि [illegible]

[illegible]

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकत्वाऽध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात् । नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्ध्यप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्याध्यवसायिविकल्पबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५ पपत्तेरनन्तरमेव तस्याः वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । तथा, अनुमानेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिष्प्रवृत्त्ययोग एव । नातद्रूपव्यावृत्तिमात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समानपरिणामात् ? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजत्वाच्चानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि १० देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम् तन्निराकरणे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामाभावे तदसंभवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्तत्वादन्यत्राननुयानात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तत्सन्निधानाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेद-१५ प्रतिपत्तेरङ्गन्यत्वात् तत्तया प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्तरूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; इतरेतराभावस्य घटवस्त्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाद्यभावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । २० यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव । नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च २५ प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता" [ ] इति निरस्तम् । किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन ? तन्नैकान्तभिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति ।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- ३० काला55कारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-काला55कारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत् परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम् ? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदेव स्वसत्त्वं तदेव परासत्त्वम्, नन्वेवमपि यदि परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्; अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वात्मकत्वम्—यथा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वासत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिर- ३५ निवारितप्रसरा, अविशेषात् । न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वात्मिकेति वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात् ।

अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते; तर्ह्येवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विषयीक्रियमाणो व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया ? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनि- ४०

१-रूपाभा-बा० । २-मानतोऽपि वि० । ३-न सामान्यपरि-भां०, मां० । ४-प्रतिपत्तिदर्श- मां० । ५-नाममा-बा० । ६-स्तुतत्त्व-भां०, मां० । ७-मात्रेणाभे-बा० । ८ पृ० ३५५ पं० २४ । ९-स्य घटाभा-बा०, वा० । १० यदा मां०, भां० ।

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधा-सिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्र(कत्र)विरोधः स्यात्—किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्त-योर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूप-
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिक-स्वार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्यः मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्, सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तर-भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽ-तिप्रसङ्गात्, सत्त एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वात् व्यक्त्य-न्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरैरेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहाराभ्युपगम्यमाना स प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता यैरभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्त-
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरुन्ध्यात् शुक्लादिवत् स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् [illegible] प्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु तत्र एव गवादिप्रत्ययादिनिबन्धने द्रव्यादिषु [illegible] एतद्भेदकल्पना। अनध्यारोपिततद्रूपे न तत्प्रत्ययादिवृत्त्यातिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि तत्प्रत्ययादिभावत्र भ्रान्त एव प्रसङ्गः।

[illegible] न तादूप्येण समवायिनोः [illegible] अन्यथा [illegible]
२० [illegible] सदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभाव[illegible] [illegible] समवायात् [illegible] [illegible] विशेषाभावात्। [illegible] 'इदं [illegible]' इति [illegible] प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुनः '[illegible]' इति। [illegible] सामान्य[illegible]
२५ [illegible] परिसमाप्त[illegible] [illegible] द्रव्यादिषु [illegible]।

[illegible]

[illegible]

भेदस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात्। नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव। न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम्। न चैकबुद्ध्यप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम्। न च दृश्याध्यवसायिविकल्पबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वोपपत्तेरनन्तरमेव तस्याः वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। तथा, अनुमानेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिष्प्रवृत्त्ययोग एव। नातद्रूपव्यावृत्तिमात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समानपरिणामात्? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजत्वाच्चानुमानेन-अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात्। तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम्, तन्निराकरणे चानुभवविरोधः। न च सादृश्यम्, समानपरिणामाभावे तदसंभवात्। ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् विभक्ततयाऽन्यत्राननुगमात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तत्तद्भिन्नाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेदप्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तत्तया प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः। प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्तरूपे वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम्।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; इतरेतराभावस्य घटपटस्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाद्यभावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात्। यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। नाप्येषां परस्परभिन्नानामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात्। न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति। नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः। नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता" [ ] इति निरस्तम्। किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन? तन्नैकान्तभिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात्। तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश-कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत् परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम्? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः। अथ यदेव स्वसत्त्वं तदेव परासत्त्वम्, नन्वेवमपि यदि परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्, अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वात्मकत्वम्-यथा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वासत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा, अविशेषात्। न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वात्मिकेति वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात्।

अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते, तथैवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विषयीक्रियमाणो व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनि-

---

१-रूपासा-बा०। २-मानतोऽपि ज०। ३-च सामान्यपरि-भां०, मां०। ४-प्रतिपत्तिर्दर्श-मां०। ५-णामभा-बा०। ६-स्तुमत्त-भां०, मां०। ७-मात्रेणाभे-बा०। ८ पृ० १५५ पं० २४। ९-स्य पटाभा-भां०, बा०। १० यदा भां०, मां०।

धर्मिण्यभावः' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्व(कत्र)विरोधः स्यात्—किं तर्ह्यनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्तयोर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधः, अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपयोः
५ याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायवतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिकस्यार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वात् ततो घटो [illegible], मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावप्रसङ्गः [illegible] घटस्य च कारणाद् विनाशोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्। सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१० पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽनुभूयते। तथाहि—न तावत् [illegible] भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रयैः संबन्धाभावात्-स्वसंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽतिप्रसङ्गात्; स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वात् [illegible] [illegible] परिहारेण व्यक्त्यन्तरेष्वेव सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगन्तव्या च [illegible] प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता योऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्त-
१५ सामान्यस्य कल्पनां न निरस्येत् शुक्लादिवत् स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतोः सामान्यात् घटादि [illegible] भवेत्? सामान्यस्य तु [illegible] एव सत्तादिनित्यत्वादिविकल्पे द्रव्यादिषु [illegible] [illegible]। [illegible] स्यात्। [illegible] [illegible] एव प्रसङ्गः।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात् । नाप्यगृहीतयोः स संभवति, अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्ध्यप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च दृश्याध्यवसायिविकल्पबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५ पपत्तेरनन्तरमेव तस्या वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । तथा, अनुमानेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिष्प्रवृत्त्ययोग एव । नातद्रूपव्यावृत्तिमात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समानपरिणामात् ? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजन्यात्मानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दूरीयसि १० देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम् तन्निराकरणे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामाभावे तदसंभवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद् भिन्नतयाऽन्यत्रानन्वयात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं न प्राप्नोति, नैष दोषः, भिन्नेऽपि वस्तुतत्त्वसंनिधानाधितदेशादिभेदे समानपरिणामभावे शब्दस्य लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेद- १५ प्रतिपत्तेरजन्यत्वात् ततया प्रतिपत्त्यविरोधात्र दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्तरूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगच्छत एव इतरेतराभावस्याभ्युपगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, इतरेतराभावस्य घटपटयोर्भेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाद्यभावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । २० यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव । नाप्येवं परस्परभिन्नाभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोपस्थितैव स्वतोभेदः, स च २५ प्रत्यक्षे प्रतिभासमानत्वेन भेदव्यवहारहेतुः, येन "यत्र संकरतिमिरस्य तत्त्वालोकस्य विभिन्ना"
[ ] इति विस्तरम् । किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन ? तथैतदन्यभिन्नोऽभिन्नो येनेतरेतराभावः संभवति ।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- ३० कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादिष्विव परदेशादिष्वसत्त्वेः कथं न सर्वात्मकत्वम् ? अथ परदेशादिष्विव स्वदेशादिष्वपि तस्य नास्ति तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदैव स्वसत्त्वं तदैव परासत्त्वम्, तथैवमपि देशे परासत्त्वे स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्; अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वात्मकत्वम्—यदा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तदा परासत्त्वाभावात् परसत्त्वप्रसक्तिः- ३५ विचारितमस्तत्र, अविशेषात् । न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न दृष्टिभूतिः परमार्थतःस्वरूपेऽपि वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात् ।

अथ भावाभावरूपता पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, भवति तु तत्प्रतिभासे उपचारमात्रतः स्वरूपमात्रमिव एवोपप्रापयते, यदिवार्थसामर्थ्यमभिन्नाऽद्यत्वेन विचारितरूपत्वे व्यवहारस्य प्रवर्तमाने भिन्नेतरेतराभावकल्पनया ? न किञ्चित्, केवलं स्वभावार्थानः स्वस्वरूपादि [illegible]

१-कस्य-आ-क०। २-सामान्योऽपि टि०। ३-न सामान्यरूपैः-क०, ख०। ४-[illegible] क०। ५-[illegible]-क०। ६-[illegible]-क०, ख०। ७-[illegible]-क०। ८ पृ० १०५ पं० १६। ९-तत् घटाभा-क०, ख०। १० दृश्य क०, ख०।